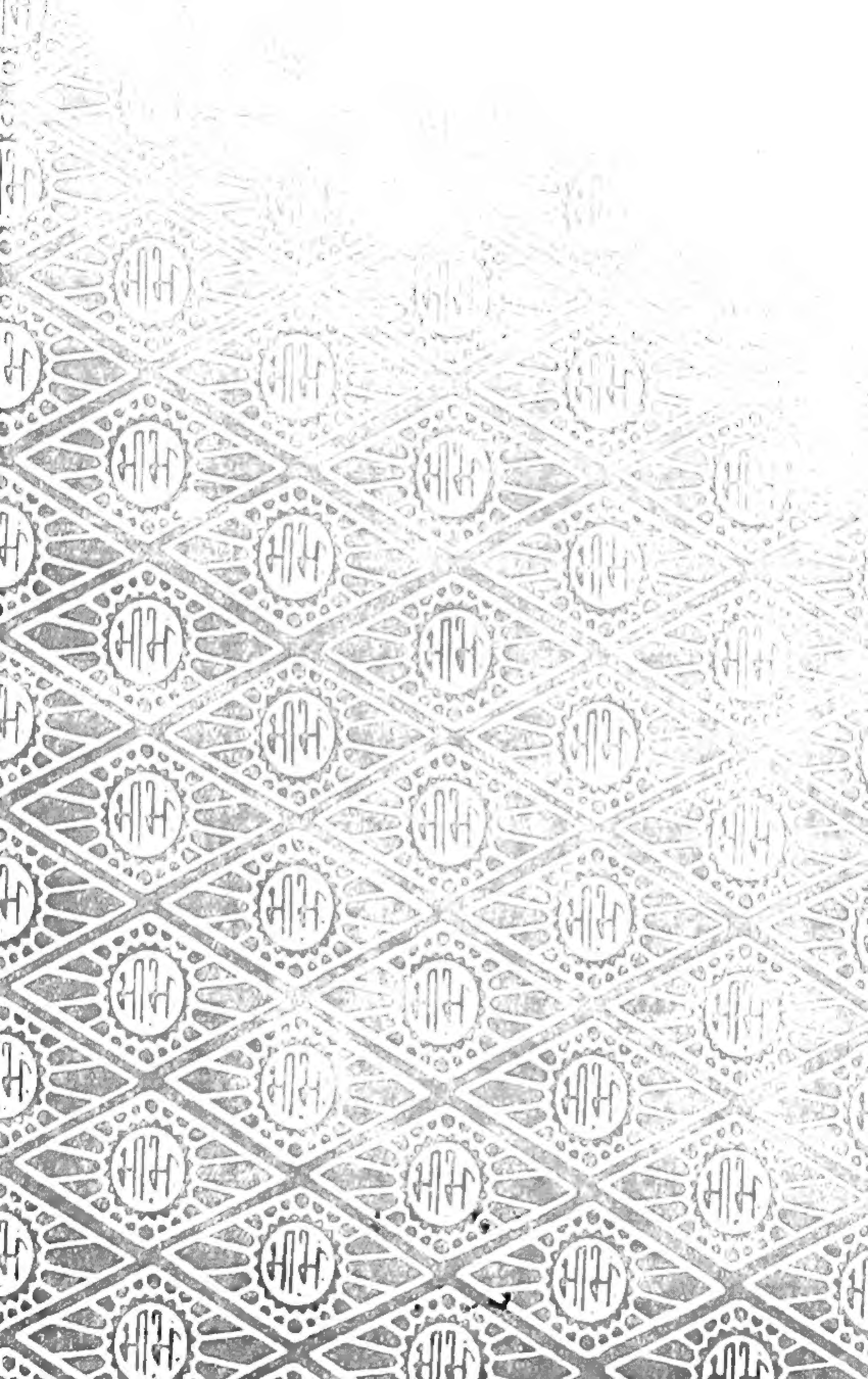


# अमरीकी दर्शन और दार्शनिक

लेखक

जोसेफ एल० ब्लौ

अनुवादक

राधेश्याम शर्मा

प्रकाशक

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

संवत् २०१४ वि०



मूल्य १०)

मुद्रक

चन्द्रप्रकाश ऐरन

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

# अनुक्रम

---

# प्राक्कथन

अमरीका में दार्शनिक विचारधारा के विकास की कहानी अधिकांश अमरीकियों को भी ज्ञात नहीं है। अमरीका में दर्शन के अध्यापक तथा विद्यार्थी तक भी उससे परिचित नहीं। इसका कारण आंशिक रूप में यह रहा है कि अमरीका में प्राप्त सांस्कृतिक सफलताओं के प्रति हमारी विनयशीलता की आवश्यकता से कुछ अधिक प्रबल रही और आंशिक रूप में यह भी कि यूरोपीय सांस्कृतिक सफलताओं की चकाचौंध से भी हमारी आंखें मुंदी रहीं। दर्शन का पठन-पाठन जिन लोगों के जीवन का मुख्य अंग है, उनके लिए तो अवश्य संकोच तथा प्रसंशात्मक भावना दोनों के लिए कुछ औचित्य है। कुछ समय पूर्व तक अमरीका में दर्शन का अध्ययन कोई असाधारण बात नहीं मानी जाती थी। इस पृष्ठभूमि में यदि हम अपने दार्शनिक इतिहास के लिए एक सीमा तक गौरव की भावना को प्रश्रय दे सकें, तो इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। अमरीकी दार्शनिक विचारधारा की सबसे बड़ी विशेषता उसका लोकतंत्री स्वरूप रही, क्योंकि इस विचारधारा का विकास जितना विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में हुआ, उससे कम वह उनके बाहर नहीं हुआ। अमरीका के दार्शनिक इतिहास का निर्माण उसके खेतों, उसके कारखानों तथा उसके प्रशासनीय केन्द्रों में उतना ही हुआ, जितना विद्या के केन्द्रों से हुआ।

इस पुस्तक में अमरीकी दर्शन के सम्पूर्ण क्षेत्र को समाविष्ट करने की चेष्टा नहीं की गई है। हमारा दावा यह भी नहीं कि इसके भीतर अमरीकी दर्शन की सम्पूर्ण ज्ञान-गरिमा को समेट लिया गया है। इसमें केवल अमरीकी दार्शनिक विचारधारा का परिचय मात्र देने की चेष्टा की गई है। इसमें एक ऐसी पृष्ठभूमि उपलब्ध करने का प्रयास किया गया है, जिससे साधारण पाठक तथा विद्यार्थियों को विभिन्न प्रणालियों की रूप-रेखा ज्ञात हो सके और अमरीकी दर्शन तथा उसके सम्बन्ध में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिल सके। दस विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों की प्रेरणा से किस प्रकार इतिहास का पथ प्रशस्त हुआ, इस तथ्य की झांकी इस पुस्तक

में पाठकों को मिलेगी ; परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि एक प्रणाली के दो दार्शनिकों की दार्शनिक स्थापनाएं भी ठीक एक तरह की नहीं होतीं। सत्य तो यह है कि अपनी प्रणाली के सामान्य दृष्टिकोण में उस प्रणाली का प्रत्येक दार्शनिक अपनी विशेष मान्यता प्रदान कर कुछ योगदान करता है। यही कारण है कि इस पुस्तक को दार्शनिक प्रणालियों अथवा आन्दोलनों के इतिहास के रूप में उपस्थित किया जाता तो कदाचित दार्शनिक विशेष के प्रति पूर्ण न्याय नहीं हो पाता। किसी प्रणाली की एकरूपता पर आवश्यकता से अधिक जोर न पड़े इस विचार से पुस्तक में अमरीकी दर्शन की एक प्रणाली का संक्षेप देने के बाद उस प्रणाली के अंतर्गत प्रवाहित होने वाली दो या तीन सुनिश्चित धाराओं का परिचय भी अलग से दे दिया गया है। इन सुनिश्चित धाराओं का चुनाव करने में विशेष सावधानी बर्ती गई है। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ है कि एक प्रणाली के अंतर्गत अधिक प्रसिद्ध व्यक्तियों को छोड़ कर अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध व्यक्तियों को सम्मिलित कर लिया गया है। ऐसा करने में उद्देश्य यह बताता रहा है कि एक ही प्रणाली के अंतर्गत कितनी भिन्न प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं को प्रश्रय मिल सकता है।

अमरीकी क्रान्ति के बाद दार्शनिक प्रतिनिधियों का चुनाव मैंने इस सिद्धांत के आधार पर किया है कि उनका दार्शनिक विकास मुख्य रूप से अमरीका में हुआ हो। तीन स्थान पर यह सिद्धान्त कुछ मंहगा भी पड़ा। इसके परिणाम स्वरूप ज्ञान तथा प्रकाश काल के प्रतिनिधि के रूप में टामस कूपर को छोड़ देना पड़ा। अध्याय ३ में इसी कारण जेम्स मैक्कोश के विचारों का पूर्ण विवरण नहीं दिया जा सका, जिसे पूर्ण ख्याति के समय स्काटलैंड से बुला कर प्रिन्सेस विश्वविद्यालय का प्रधान बनाया गया था। पीछे अर्वाचीन काल में अमरीकी दार्शनिक की संकुचित व्याख्या करने के प्रयास में अल्फ्रेड नार्थ वाइटहैड को भी छोड़ दिया गया है, जिसने अमरीकी दार्शनिक क्षेत्र में ६३ वर्ष की अवस्था में प्रवेश किया था ; पर इस त्याग से लाभ यह हुआ कि जिन भी दार्शनिकों के विचारों की समीक्षा की गई है, उनकी पृष्ठभूमि तथा सांस्कृतिक प्रभाव पूर्णतः अमरीकी रहे हैं। इस तरह यह पुस्तक, जैसा कि चार्ल्स जार्ड इंगर्सोल ने एक शताब्दी से भी कुछ पहले कहा था, 'मन पर अमरीका का प्रभाव' सम्बन्धी अध्ययन है।

इस पुस्तक जैसे ग्रंथ के लेखक को बहुधा दूसरों से सहायता लेने के कारण उनका आभारी होना पड़ता है। इस आभार का उल्लेख आवश्यक है ; किन्तु पुस्तक में जो कुछ सम्मिलित किया गया अथवा छोड़ा गया, उसके लिए दूसरे लोग नहीं ; किन्तु यह लेखक ही उत्तरदायी है। इस पुस्तक की रचना के लिए प्रारम्भिक

अध्ययन उस धनराशि की सहायता से हुआ, जो 'अमरीकन कौंसिल आफ लर्नेड सोसाइटीज' ने १९४४ में उपलब्ध की थी। मेरे मित्र विलिस मोर, हैराल्ड ए० लाराबी, हैराल्ड हांज, तथा विलार्ड आर्नेट ने पांडुलिपि के अंशों को पढ़ा और अपनी सम्मति प्रदान की। मेरी पत्नी एलेनर डब्ल्यू० ब्लौ ने प्रायः प्रत्येक कठिनाई में तथा पुस्तक की रचना के गौरव में भी एक सीमा तक हिस्सा लिया है। उन्होंने ग्रंथ के विभिन्न भागों को अनेक बार पढ़ा, उसकी त्रुटियां बताईं और उसे दुबारा टाइप किया। हर्बर्ट डब्ल्यू. श्नीडर ने, जिनका अमरीकी दर्शन के इतिहास का ज्ञान अतुलनीय है, पुस्तक तैयार होने पर उसे अंतिम रूप से पढ़ा और कुछ सुझाव दिए। इस प्रकार, अध्यापक तथा सहयोगी के रूप से उनकी मुझ पर जो कृपा पहले से रही, उसमें उन्होंने एक और अध्याय जोड़ दिया। इसके अलावा, मुझे कोलम्बिया विश्वविद्यालय, मिनेसोटा विश्वविद्यालय तथा अर्कान्सास विश्वविद्यालय के अपने विद्यार्थियों से जो सहायता मिली है, उसे भी भुलाया नहीं जा सकता। मैं केवल यही आशा करता हूं कि मैंने जो कुछ किया, वह मेरे प्रति उनकी कृपा का केवल आंशिक प्रतिदान ही है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय } —जोसेफ एल० ब्लौ

# प्रस्तावना

## प्यूरिटन पृष्ठभूमि

यूरोप से अमरीका के न्यू इंगलैंड प्रदेश में स्थायी रूप से बसने के लिए जो लोग आए, वे अपने साथ भौतिक साधनों के रूप में कम ही सामग्री लाए थे। आज जिसे संयुक्त राज्य अमरीका कहते हैं, उसके उत्तर-पूर्वीय प्रदेश की कष्ट-साध्य परिस्थितियों में जीवन-यापन करने के लिए इन लोगों को हुनर भी कम ही ज्ञात थे। साधनों और कौशल की इस कमी को पूरा करने के लिए उनमें अपने धार्मिक विश्वासों के औचित्य के प्रति गहरी आस्था की भावना थी। उनका विश्वास था कि उनकी यह भावना ईश्वर-प्रदत्त है। प्रवासियों की यही भावना प्यूरिटनों के धर्म तथा दर्शन की पृष्ठभूमि थी। अमरीकी दर्शन की विभिन्न धाराओं का परिचय प्राप्त करने के लिए हमें न्यू इंगलैंड के प्यूरिटनों की इस दार्शनिक पृष्ठभूमि से श्रीगणेश करना होगा।

हम प्रारम्भ में ही यह कह देना चाहते हैं कि प्यूरिटन लोगों की विचार-धारा तथा उनकी शिक्षा एकदम नवीन नहीं थी। वस्तुतः प्यूरिटन-सम्प्रदाय सम्पूर्ण ईसाई-परम्परा की विरासत लेकर चला था। यह सच है कि ये लोग प्रोटेस्टेंट थे; किन्तु मध्ययुगीय ईसाई विचारधारा कैथोलिकों के समान उनके भी पंथ की पृष्ठभूमि में थी। विचार-भेद आधारभूत धार्मिक नींव को लेकर नहीं था; बल्कि नींव के ऊपर उठने वाले भवन के सम्बन्ध में था। प्रोटेस्टेंटवाद इस विचार पर जोर देता था कि मुक्ति मनुष्य तथा ईश्वर के प्रत्यक्ष सम्बन्ध की बात है और इसलिए मुक्ति प्राप्त करने के साधन के रूप में वह चर्च की मध्यस्थता पर अपेक्षाकृत कम जोर देता था। इस प्रकार, प्रोटेस्टेंटवाद ने ईश्वर पर मनुष्य की निर्भरता का आविष्कार नहीं किया, उसने इस अंग को केवल कुछ महत्त्व अधिक प्रदान किया।

प्रोटेस्टेंटवाद के विभिन्न आदर्शों के बीच जिस आदर्श को प्यूरिटनों ने अपनाया, वह कालविन के अनुयायियों का चलाया हुआ था। कालविन के अनुयायियों

की विशेषता यह थी कि मुक्ति के प्रोटेस्टेंट स्वरूप में व्यक्तिवाद तथा पंथीय हठवादिता की जो प्रवृत्तियां निहित थीं, उनके वे विरोधी थे। इनका कहना था कि एकमात्र ईश्वर को मुक्ति प्रदान करने का निर्णय करना है और मनुष्यों को इस सम्बन्ध में कुछ योगदान नहीं देना है। इस प्रकार, कालविनिस्टों ने ईश्वर को मनुष्य के भाग्य का एक-मात्र विधायक और मानवीय प्रयास का एक-मात्र लक्ष्य बना दिया। कालविनिस्टों के इस विचार ने ईश्वर पर, जो विश्व का एक-मात्र अधिष्ठाता मान लिया गया, मनुष्य को पूर्णतः निर्भर बना दिया। इस आदर्श का यह परिणाम निकला कि सम्राट्, नरेश, मंत्री, मजिस्ट्रेट आदि सब उस दैवी सत्ता के प्रतिनिधि तथा अहलकार माने गए।

परन्तु, प्यूरिटन लोग कालविनवादियों के एक ऐसे वर्ग में थे, जो ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसकी निरंकुश मान्यता में कुछ कमी करने की ओर झुका हुआ था। इस वर्ग के लोग एक स्वीकृत व्यवस्था को महत्त्व देते थे। ये लोग ईश्वर को एक संविधान के अनुसार चलने वाले शासक की स्थिति में रखते थे और उनकी मान्यता थी कि ईश्वर के कार्य मनुष्यों द्वारा स्वीकृत एक व्यवस्था के अनुरूप होते हैं। इस विचार के अनुसार मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा दैवी कार्यों का पूर्णाभास प्राप्त कर सकता है। इस विचार-धारा के मानने वालों को "कोवनेंट थियोलाजियन" कहा गया है। इस वर्ग ने मनुष्य के मस्तिष्क को विशेष महत्त्व दिया और ईश्वर की कल्पना से उसके सनकीपन की सम्भावना का निराकरण कर दिया। कोवनेंट थियोलाजियनों ने ईश्वर को विश्व का कारण एवं स्रष्टा तो माना, किन्तु साथ ही उन्होंने यह स्थापना भी की कि वह विश्व के कार्यों का संचालन एक व्यवस्था के अनुसार करता है। इन लोगों का कहना था कि इसी व्यवस्था की एक झलक हमें प्रकृति के नियमों के बीच मिलती है।

प्रकृति के अध्ययन तथा उसकी व्यवस्था से मनुष्य को जो ज्ञान प्राप्त होता गया, वह दैवी निर्देश के अनुरूप माना जाने लगा। यह मान्यता हुई कि ईश्वर की महिमा को समझने के लिए भक्ति तथा ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं। प्यूरिटन लोग मानने लगे कि ईश्वर की अर्चना के लिए प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन एक वांछनीय तरीका है, जैसा कि काटन माथर ने अपने 'क्रिश्चियन फिलासफर' में कहा भी। यही कारण था कि हारवर्ड में, जो उस समय प्यूरिटनों का विद्यालय था, प्रकृति के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक प्रसाधन तथा साज-सामान पर्याप्त परिमाण में रहते थे। प्यूरिटन लोगों के वैज्ञानिक अध्ययन का

उद्देश्य आज के वैज्ञानिक के उद्देश्य से भिन्न था ; किन्तु फिर भी तत्कालीन वैज्ञानिक प्रगति में प्यूरिटनों का योगदान कम नहीं था। कालविनवाद के अन्य वर्गों तथा कोवनेंट थियोलाजी के मध्य सब से बड़ा अन्तर यह हो गया कि इसके द्वारा ईश्वर की सत्ता की स्वेच्छाचारिता को कम करने की चेष्टा की गई, जिसका अन्ततः यह परिणाम निकला कि मनुष्य केवल विश्व के निवासी ही नहीं हैं ; बल्कि वे उसके नागरिक भी हैं। कालविनवादियों के विशुद्ध दृष्टिकोण के अन्तर्गत मनुष्य का भाग्य पूर्णतः ईश्वर के अधीन था और उसमें मनुष्य का नैतिक दखल कुछ भी नहीं था। जबकि एक तरफ कोवनेंट थियोलोजी के अन्तर्गत मनुष्य के भाग्य पर ईश्वर का प्रभुत्व बना रहा, वहां दूसरी तरफ ईश्वरीय सत्ता का संचालन एक व्यवस्था के अनुरूप माने जाने के कारण नैतिक दायित्व का महत्व बढ़ा और अंतःप्रेरणा को उसका उचित स्थान प्राप्त हुआ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्यूरिटन धार्मिक विश्वास की जड़ तो ईसाई धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों में थी ; किन्तु उसे इस धर्म की प्रोटेस्टेंट शाखा की कालविनिस्ट प्रशाखा में कोवनेंट-पंथीय टहनी माना जा सकता है। अपनी इस विचारधारा के अतिरिक्त प्यूरिटन लोग चर्च-प्रशासन के सामुदायिक दृष्टिकोण से भी अनुप्राणित थे। इस दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न चर्चों को आकार में छोटा तथा अन्य सभी चर्चों से स्वतंत्र होना चाहिए। ये चर्च किसी उच्च धार्मिक सत्ता द्वारा मनोनीत न किए जायें, बल्कि इनका निर्माण इनके "संत" सदस्य स्वयं करें। कुछ प्यूरिटनों ने अपने सिद्धान्तों के अनुसार चलने के लिए अपने को इंगलैंड के चर्च से अलग कर लेना आवश्यक समझा। ऐसे कुछ लोग प्लमथ में बसे हुए थे। इनके अलावा कुछ ऐसे भी थे, जिनका विचार था कि वे इंग्लिश चर्च के अधीन रहकर उसमें भीतर से सुधार कर सकते हैं। परन्तु, जो भी अटलांटिक पार आए, चाहे वे इंग्लिश चर्च के अधीन रहे हों अथवा उससे अलग रहे हों, उन्हें दूरी के कारण उससे अलग हो जाना पड़ा था।

प्यूरिटन लोग अमरीकी महाद्वीप में आकर बसे थे। इस कारण यह जहां उनके चरम प्रयास की प्रेरणादायक भूमि थी, वहीं यह एक ऐसा प्रदेश भी था जहां, उन्हें अनेक कठिनाइयों से जूझना था। अस्तु, प्यूरिटनों ने अपने इस निर्वासन को प्राचीन यहूदियों के निर्वासन की पुनरावृत्ति के रूप में देखा। इस प्रकार, न्यू इंगलैंड के प्यूरिटनों के लिए "ओल्ड टेस्टामेंट" एक पवित्र इतिहास ही नहीं था ; जीवन के सभी क्षेत्रों में उनका पथ-प्रदर्शक तथा निर्देशक ग्रंथ भी था। यही वजह थी कि जब प्यूरिटनों को नागरिक प्रशासन की आवश्यकता

प्रतीत हुई, तो उन्होंने ओल्ड टेस्टामेंट के ढंग की ईश्वरीय "धार्मिक" शासन-प्रणाली कायम करने का विचार किया। चर्च के अधिकारियों तथा शासकों का निकटतम सहयोग इस व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग था और नागरिकता का अधिकार केवल उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकता था, जो पहले से चर्च का सदस्य रहा हो। प्लमथ में आकर बसने वालों को हालैंड्स रवाना होने से पूर्व ही उनके धर्माध्यक्ष जान राबिन्सन ने आगाह कर दिया था कि सिविल मजिस्ट्रेटों को ईश्वरीय निर्देश प्राप्त है और प्रत्येक सच्चे प्यूरिटन को मानना चाहिए कि गवर्नर दैवी आदेश से अपना कार्य करते हैं। दुर्भाग्यवश इंगलैंड तथा हालैंड के कतिपय अधिकारी-वर्ग इस प्रकार का आचरण करने लगे कि कुछ धर्मभीरु प्यूरिटनों को उनके दैवी निर्देश से प्रेरित होने पर सन्देह होने लगा। तब राबिन्सन बसने के लिए अन्यत्र जाने की दलील देने लगा। प्यूरिटनों की विचारधारा के अनुसार लोग भ्रष्ट शासकों की अधीनता से मुक्ति के लिए प्रयास कर सकते हैं और फिर वे अपने लिए ऐसे शासक चुन सकते हैं, जो प्रशासन की प्यूरिटन कसौटी पर खरे उतर सकें। नए स्थान पर बसना तथा अच्छे गवर्नरों का चुनाव "विवेक तथा धार्मिक प्रवृत्ति" का लक्षण मान लिया गया।

मैसेचुसेट्स उपनिवेश के १६३१ के अध्यादेश के अनुसार केवल चर्च के सदस्य ही समाज के स्वाधीन व्यक्ति माने गए, जिसका तात्पर्य दूसरे शब्दों में यह हुआ कि केवल चर्च के सदस्यों के मत को ही उपनिवेश के प्रशासन में मान्यता मिली ; परन्तु धर्म-परिषदीय व्यवस्था के अन्तर्गत चर्च की सदस्यता सभी के लिए खुली नहीं थी। ईश्वर के प्रतिनिधि अर्थात् संत ही चर्च थे और इसलिए नागरिकता तथा स्वाधीन मनुष्य की सुविधाएँ इन दैवी प्रतिनिधियों तक सीमित थीं। प्यूरिटनों के जीवन के राजनीतिक तथा धार्मिक पहलुओं को इस अभिन्न सम्बन्ध के कारण यह जान लेना आवश्यक हो जाता है कि आखिर प्यूरिटनों की भाषा में संत का क्या आशय था और समाज को किस कसौटी पर कसकर निर्णय करना था कि उसका कौन सदस्य 'संत' है और कौन नहीं। क्योंकि वास्तव में कौन संत था और कौन नहीं, इसका ज्ञान तो एक-मात्र ईश्वर को ही हो सकता था।

पहली बात तो यह थी कि "ईश्वर के प्रतिनिधियों का" एक समूह होता था। ये कालविनवादी परम्परा में 'संत' कहलाते थे। मौजूदा संतों के इस समूह के अतिरिक्त इस समूह में ऐसे व्यक्तियों की सूची भी सम्मिलित होती थी, जो कभी संत रह चुके थे और कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते थे, जिन्हें अभी

जन्म लेना था और जिन्हें ईश्वर मुक्ति के लिए पहले से ही चुन चुका था। इस 'अदृश्य चर्च' का अध्यक्ष ईसा होता था और उसके सदस्य ऐसे लोग होते थे, जो आजीविका से संत होते थे। इस 'अदृश्य चर्च' के सदस्य आध्यात्मिक बंधन के द्वारा ईसा से बँधे हुए थे।

परन्तु इस अदृश्य चर्च के अलावा, जो विश्वव्यापी होता था, दृश्य चर्च भी होते थे। इनमें संतों के समूह होते थे, जिनका संघटन चर्च की एक निर्धारित व्यवस्था के अनुसार चलता था। सिद्धान्ततः प्रत्येक संत के लिए किसी-न-किसी चर्च में रहना आवश्यक था और साथ ही चर्च में संतों के अलावा दूसरों को रहने की अनुमति नहीं थी। सत्य तो यह था कि अच्छे लोगों को बुरों से अलग करने के लिए एक तरीका चाहिए था और इसलिए संत की एक परिभाषा भी रखी गई। संत उन्हें कहा जाता था, जिन्हें धर्म के मुख्य सिद्धान्तों का ज्ञान हो चुका था और जिनका आचरण शुद्ध था। संत अपनी धार्मिक आस्था की घोषणा कर देते थे और अपने पापों का प्रायश्चित्त कर भविष्य में बेदाग जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करते थे। यह कहा जा सकता है कि संतों के इस समूह में कुछ लोग ऐसे होते होंगे, जो पवित्र जीवन व्यतीत करने का ढोंग करते हुए भीतर-ही-भीतर गंदगी सँजोए रहते होंगे। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर इस प्रणाली का परिणाम उत्तम होता था और वह सफल रहती थी।

इस व्यवस्था में शामिल होकर संत चर्च के संघटन को जन्म देते थे, किन्तु व्यवहार में यह निर्णय करना संतों का ही कर्तव्य था कि उनका कोई कार्य उस व्यवस्था के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं। प्यूरिटनों के चर्च प्रशासन का यह एक लोकतंत्री पहलू जान पड़ता है, किन्तु व्यवहार में यह एक सामंतवादी तरीका ही सिद्ध हुआ ; क्योंकि अधिकांश मामलों में पादरी ही घोषणा करता था कि समूह को किस प्रकार अपने अधिकारों का प्रयोग करना है। ठोस कारण उपस्थित होने पर उपर्युक्त निर्णय का समूह द्वारा विरोध किया जा सकता था और उसके विरुद्ध कारंवाई करने का भी उसे अधिकार था, किन्तु निर्णय का बारम्बार विरोध करना संघटन की भावना के प्रतिकूल माना जाता था। जॉन काटन ने संत-समूह की तुलना एक रानी से और एल्डरों की नाविकों से, जो रानी के कर्मचारी हैं, की है। रानी नाविकों को बुलाकर अपने जहाज को किसी निर्दिष्ट स्थान को ले चलने का आदेश दे सकती है, किन्तु यह आदेश दे चुकने के बाद जहाज के संचालन का कार्य उसे अपने मंत्रियों पर छोड़ देना चाहिए

और निर्दिष्ट स्थान में पहुँचने तक उनके अनुशासन का स्वयं भी पालन करना चाहिए। इस प्रकार समूह अपने धर्माध्यक्ष तथा एल्डरों का चुनाव करने के बाद निर्णय करने का अधिकार उन्हीं को सौंप देता था। साधारण जन को इस व्यवस्था में इतनी ही स्वतंत्रता थी कि यदि वह धार्मिक आस्था रहने की बात प्रमाणित कर सकता था, तो चर्च की व्यवस्था में शरीक हो सकता था। सेमुअल स्टोन ने इसीलिए इस व्यवस्था को 'मूक लोकतंत्र' के मुकाबले 'मुखर सामंतवाद' की संज्ञा दी थी।

प्यूरिटनों के आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में ईश्वर तथा विश्व की एक विशेष कल्पना थी। इस कल्पना से उनकी विचारधारा को समझा जा सकता है। ईसाई धर्म के उदय से पूर्व विश्व की रचना के सम्बन्ध में जो विचार था, उससे यह कल्पना बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। प्यूरिटनों का विश्वास था कि सृष्टि से पूर्व ईश्वर के मस्तिष्क में ब्रह्मांड की रचना के लिए एक योजना थी। सेमुअल विलार्ड ने कहा भी है कि ईश्वर ने सृष्टि की कल्पना पहले से कर ली थी। विश्व की रचना और उसके संचालन के नियम ही नहीं ; बल्कि विश्व की प्रत्येक प्रक्रिया तथा विश्व के व्यापक क्रिया-कलाप के बीच उस प्रक्रिया के स्थान के सम्बन्ध में ईश्वरीय योजना के भीतर पूर्ण व्यवस्था कर ली गई थी।

सृष्टि का इतिहास एक धार्मिक नाटक जैसा था। इसका कथानक था विश्व तथा मनुष्य की उत्पत्ति, प्राणियों का अपने स्रष्टा के प्रति विद्रोह, ईसा की मध्यस्थता से उनकी मुक्ति की सम्भावना। अंतिम दृश्य था ईश्वर का निर्णय। इस नाटक के मध्य ईश्वर ही नाटककार, नाटक का निर्देशक तथा दर्शक था। यही नहीं, इस नाटक का आकर्षण केन्द्र भी वही था। प्यूरिटनों का विश्व ईश्वर-केन्द्रित था। प्रत्येक घटना से ईश्वर का सम्बन्ध होता था और जो समझ सकते थे, उनके लिए किसी असाधारण घटना का असाधारण मतलब होता था। प्यूरिटनों में दैवी निर्देश को जो इतना महत्त्व मिला हुआ था उसका, यही कारण था।

मनुष्य ईश्वर-केन्द्रित विश्व का अंग है। प्यूरिटन लोगों का यह सिद्धान्त हमें ईश्वर द्वारा शासित व्यवस्था की ओर ले गया। यह माना गया कि ईश्वर समाज का वास्तविक शासक है और वह अपनी सत्ता का प्रयोग गवर्नरों की मध्यस्थता से करता है। राज्यों के मानवीय शासकों की स्थिति भी बहुत कुछ चर्च के नेताओं-जैसी मानी जाने लगी। जॉन विन्थ्रोप ने १६३९ में कहा कि

जनता के अधिकार मजिस्ट्रेटों के निर्वाचन तक सीमित हैं। मजिस्ट्रेटों का निर्वाचन एक बार हो चुकने पर उनकी शक्ति असीम हो जाती है। मजिस्ट्रेटों की कारंवाई का विरोध करना केवल एक अपवाद के अलावा 'दैवी आदेश' की अवज्ञा करना है। यह अपवाद अंतःकरण द्वारा प्रेरित विरोध ही हो सकता है। नागरिक स्वाधीनता का उपयोग अधिकारियों द्वारा निर्दिष्ट सीमाओं के अन्तर्गत होना चाहिए। ईसा ने इसी अर्थ में मनुष्य को स्वाधीन बनाया है। विन्थ्रोप मजिस्ट्रेटों के दैवी अधिकार में विश्वास रखता था और निश्चय ही उसकी यह मान्यता हमें एक अतिवादी दृष्टिकोण की ओर ले गई; परन्तु जॉन काटन के मन में, जो अपेक्षाकृत संयत विचार रखता था, राज्य अथवा चर्च के लिए लोकतंत्र, शासन की उचित प्रणाली नहीं, क्योंकि उसका कहना था कि यदि जनता ही शासन करेगी, तो आखिर शासन किसका होगा?

दैवी शासन-व्यवस्था में, जहाँ राज्य तथा चर्च में कुछ भेद बना था, यह विवाद का एक निरन्तर विषय रहता था कि इन दो संस्थाओं का एक दूसरे के प्रति ठीक सम्बन्ध क्या है। इस विवाद से हमें रोम के चर्च तथा ईसाई राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक झगड़े की याद ताजी हो उठती है। प्यूरिटन दृष्टिकोण से इस दोहरे शक्ति के सम्बन्ध का सर्वोत्तम निरूपण जॉन डेवनपोर्ट ने किया है। इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन सबसे पहले पोप गेलीसस प्रथम ने किया था। डेवनपोर्ट का कहना था कि नागरिक शासन तथा चर्च एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं और उनका उद्देश्य एक दूसरे को नष्ट कर देना नहीं हैं। दोनों का उद्देश्य एक दूसरे के प्रति सहयोग करना तथा सहायता करना है, जिससे ईश्वर की इच्छा के अनुसार दोनों का लाभ हो। अधिकारियों तथा चर्च दोनों को मनुष्य के वाह्य (सांसारिक) विषयों के सम्बन्ध में नागरिक शासन के अधीन रहना चाहिए। इसी प्रकार, आन्तरिक विषयों में मजिस्ट्रेटों तथा अन्य अफसरों को धार्मिक प्रणाली की मध्यस्थता से ईसा की शक्ति के अधीन रहना चाहिए।

पारस्परिक सहायता की इस व्यवस्था के अनुसार नास्तिकों, पाखंडियों तथा ईश्वर-निन्दकों को अर्थात् धार्मिक सिद्धान्तों की अवहेलना करने वालों को धार्मिक तथा प्रशासनीय दोनों तरह के दंड दिए जा सकते थे। चर्च और राज्य के इस सम्बन्ध के परिणामस्वरूप मेसेचुसेट्स उपनिवेश में धार्मिक असहनशीलता के अनेक कृत्य हुए और बेप्टिस्टों, क्वेकरों तथा रोमन कैथालिकों को शारीरिक दंड दिए गए। प्यूरिटनों ने माँग की कि नागरिक शासन

का प्रतिरोध करने वालों की चर्च निन्दा कर सकता है। इस प्रकार क्रान्ति अथवा विद्रोह धार्मिक तथा नागरिक दोनों ही प्रकार के अपराध घोषित किए जा सकते थे।

यदि एक तरफ इस स्वाधीनता से लोगों को वंचित कर दिया गया, तो दूसरी तरफ समानता की प्रत्येक संभावना के द्वार भी बन्द कर दिए गए। सामाजिक स्वाधीनता पाने के प्रयासों को हानिकर मान लिया गया। १६७६ में विलियम हुवार्ड ने एक धार्मिक प्रवचन के बीच घोषणा की कि समानता तथा असमानता व्यवस्था का एक ऐसा रूप है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित हिस्सा और स्थान मिला हुआ है। उन्होंने यह भी कहा कि यह व्यवस्था विश्व की आत्मा है और समानता लाने का प्रयास इस व्यवस्था को नष्ट कर देगा। इस विचार को आगे बढ़ाते हुए हुबार्ड ने राजनीतिक व्यवस्था की तुलना मनुष्य के शरीर से की, जिसे अमरीकी महाद्वीप पर 'मानव अंगीय राजनीतिक सिद्धान्त" का सबसे प्रथम उदाहरण माना जा सकता है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि प्यूरिटन राज्य-व्यवस्था को राजनीतिक दृष्टिकोण से लोकतंत्रात्मक नहीं कहा जा सकता; परन्तु प्यूरिटन लोग इतना अवश्य मानते थे कि नागरिक प्रशासन जनता के कल्याण के लिए है। दूसरे शब्दों में, वे जनता द्वारा शासन के पक्ष में न होकर भी जनता के लिए शासन के पक्ष में थे। साथ ही वे मजिस्ट्रेटों के अधिकार को– यदि मनुष्य द्वारा नहीं तो – ईश्वर द्वारा सीमित करने के पक्ष में थे। अच्छा शासक वही माना जाता था, जिसके प्रशासनिक कार्यों का उद्देश्य जन-कल्याण होता था। सैमुअल विलार्ड ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि जनता शासकों के लिए नहीं बनी है; बल्कि शासक ही जनता के लिए बने हैं। एक अच्छे शासक की खुशी जनता के खुश रहने में है।

धर्म-प्रधान शासन-व्यवस्था का जो विरोध हुआ, उसमें लोकतंत्रात्मक भावना के उदय के चिह्न दिखाई दिए। रोड द्वीप में बेप्टिस्ट लोग, जिनमें से कितने ही रोजर विलियम की तरह मेसेचुसेट्स से निर्वासित कर दिए गए, पेन्सिलवेनिया में क्वेकर लोग तथा मेन के मछुओं की तरह अन्य स्वतंत्र जन-समूह अमरीकी लोकतंत्री आदर्श के पूर्वज कहे जा सकते हैं। मेन के मछुए १६४९ में टामस जार्ज की मृत्यु के समय से मसेचुसेट्स द्वारा विजित किए जाने तक एक लघु प्रदेश में लोकतंत्र का झंडा उड़ाते रहे। परन्तु, आज लोकतंत्र के रूप में जिस विचारधारा से हम परिचित हैं, उसका राजनीतिक

दर्शन के रूप में निरूपण हमें १८वीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। यह एक मनोरंजक तथ्य है कि यह विचार-विनिमय चर्च के प्रशासन के प्रसंग में शुरू हुआ।

१७१७ में बोस्टन तथा कैम्ब्रिज के धार्मिक अधिकारियों ने कतिपय ग्राम्य चर्चों की आन्तरिक स्वाधीनता में हस्तक्षेप का प्रयास किया। जॉन वाइज ने धार्मिक समुदायों के आत्मनिर्णय के अधिकारों के सम्बन्ध में एक पुस्तिका प्रकाशित की। इस पुस्तिका के पूर्वार्द्ध में वाइज ने धार्मिक समुदायों के अधिकारों की रक्षा के लिए परम्परागत शास्त्रीय तथा धार्मिक तर्क दिए; परन्तु, पुस्तिका के उत्तरार्द्ध में वाइज ने विशुद्ध दार्शनिक तर्क उपस्थित किए। उसने मनुष्य की स्वाभाविक मुक्ति के कारणों पर प्रकाश डाला। लगभग ६० वर्ष बाद टामस जेफर्सन ने वाइज द्वारा उल्लिखित स्वाधीनता तथा समानता के लिए मानव के अविच्छेद्य अधिकारों का नारा उठाया।

वाइज ने यह तर्क भी दिया कि मनुष्यों के मध्य एक सामाजिक समझौता हुआ है और लौकिक समाज की स्थापना इस समझौते के अनुसार हुई है। इस प्रकार, वाइज ने प्रारम्भिक प्यूरिटनों की कोवनेंट थियोलॉजी को एक कदम आगे बढ़ाकर उसे अधिक पूर्ण बनाया। उसने चर्च समूहों को आधार बनाकर एक राजनीतिक कोवनेंट का मार्ग खोज निकाला। इस प्रयास का आधार उसने समाज में व्यवस्था तथा अनुशासन की आवश्यकता को बनाया। वाइज ने कहा कि सत्ता का वास्तविक स्रोत जनता है और उसी को अपनी शासन-प्रणाली चुनने का अधिकार है। वाइज ने लोकतंत्र की ओर झुकाव की प्रवृत्ति का परिचय दिया; किन्तु ऐसा उसने अनेक शर्तों के साथ किया। फिर भी यह निर्विवाद है कि प्यूरिटन-लेखकों के मध्य राजनीतिक लोकतंत्र के वह सबसे निकट है। हम यह भी कह सकते हैं कि वह उस लोकतंत्री विचारधारा का अग्रदूत था, जिसने बाद में क्रान्तियों को जन्म दिया, स्वतंत्रता की घोषणा की और हमारी प्रणाली का निर्माण किया।

# १

# औपनिवेशिक जड़वाद तथा चेतनवाद

# अमरीका में लॉक तथा न्यूटन की विचारधारा

प्यूरिटन लोग प्रकृति तथा प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन के प्रति उदासीन नहीं थे, यद्यपि एक ऐसे काल में, जबकि ब्रिटिश तथा यूरोपीय विज्ञान तेजी से उन्नति कर रहे थे, वे विज्ञान की प्रगति में कोई ठोस योगदान नहीं कर सके। प्यूरिटन लोग रचनात्मक वैज्ञानिक न होकर विज्ञान को आत्मसात् करने में अभिरुचि रखते थे। इसका कारण सम्भवतः यह था कि प्यूरिटन पादरी विज्ञान का अध्ययन स्वयं विज्ञान के लिए न कर प्रकृति से धार्मिक तथा नैतिक शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिए करते थे। प्यूरिटनों ने नए ज्योतिष-विज्ञान—कोपर्निकन-प्रणाली—को भी हृदयंगम किया। १६५९ में हारवर्ड में कोपर्निकन ज्योतिष निश्चय ही पढ़ाया जाता था। न्यू इंग्लैण्ड के पंचांगों में नवीन ज्योतिष पर चलती भाषा में निबन्ध रहा करते थे। इस अध्ययन के पीछे अन्तरिक्ष के रहस्यों को खोजने की जिज्ञासा नहीं थी। प्यूरिटनों का अन्तरिक्ष के प्रति आकर्षण केवल इसलिए था, कि वह ईश्वर की कृति थी और ज्योतिष-विज्ञान के अनुशीलन से पादरियों को अपने प्रवचनों के बीच दैवी महिमा बताने के लिए प्रेरणा मिलती थी।

यद्यपि न्यू इंग्लैण्ड के प्यूरिटनों की विज्ञान के प्रति अभिरुचि पेशेवर वैज्ञानिकों के समान नहीं थी, फिर भी उन्हें बिल्कुल नौसिखिए नहीं कहा जा सकता था। लन्दन की रॉयल सोसाइटी की स्थापना के २० वर्ष के ही भीतर अमरीकी प्रवासियों में से कई एक उसके सदस्य बने। ये अमरीकी, जिनमें कुछ के नामों की अच्छी ख्याति थी, जैसे मैथर, लेवीरेट और विन्थ्रोप—अमरीकी उपनिवेशों से अपने प्राकृतिक अनुसंधानों की रिपोर्टें इंग्लैंड भेजते थे। १६७२ के बाद अमरीकी विद्यार्थियों के लिए ज्योतिष-सम्बन्धी निरीक्षण सम्भव हो गया; क्योंकि इस वर्ष जॉन विन्थ्रोप ने हारवर्ड में एक दूरवीक्षण यंत्र लगाया। इसी दूरवीक्षण यंत्र का उपयोग टामस ब्रैटल ने १६८० में उल्का के निरीक्षण के लिए किया था। ब्रैटल के निरीक्षण की इस रिपोर्ट

का उल्लेख सर आइजक न्यूटन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रिंसिपिया मैथेमेटिकल प्रिन्सिपल्स आफ नेचुरल फिलासफी' में किया था।

इस प्रकार, एक ऐसे काल में जबकि विज्ञान की प्रकृति तथा विज्ञान के तरीकों की नवीन व्याख्या तेजी से हो रही थी, प्यूरिटन लोग वैज्ञानिक विषयों में प्रत्यक्ष अभिरुचि न रखते हुए भी विज्ञान का अध्ययन एवं अध्यापन गम्भीरता से करने लगे थे। इस तरह वहां अनायास ही विज्ञान की शास्त्रीय पृष्ठभूमि का स्थान नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण ग्रहण करने लगा, क्योंकि नया विज्ञान गणित के सिद्धान्तों तथा प्रयोगजन्य अनुभव का आश्रय खोज रहा था और सहज ज्ञान, स्वभाव तथा परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान पर उसकी निर्भरता घटती जा रही थी। और जब दो ऐसे लेखकों की कृतियाँ—जो एक शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति का प्रतिनिधित्व करते थे—अमरीकी उपनिवेशों में पहुंचीं, तो उनके स्वागत तथा उनकी स्वीकृति की भूमि भी तैयार हो गई। ये लेखक थे जान लॉक तथा सर आइजक न्यूटन।

लॉक ने अपने निबन्ध 'कन्सर्निंग ह्यूमेन अन्डरस्टैंडिंग' में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का खुलासा सामने रखा, जिसे उस युग के विचारक वैज्ञानिक सामग्री के संग्रह के लिए इंद्रियजन्य अनुभवों पर अपनी निर्भरता का औचित्य सिद्ध करने के लिए उपस्थित किया करते थे। इस निबन्ध में प्रकृति-सम्बन्धी एक नया सिद्धान्त रखा गया, इस सिद्धान्त के क्षेत्र पर प्रकाश डाला गया और फिर मानवीय ज्ञान की अपूर्णता की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया। इस सिद्धान्त की स्वीकृति का मतलब यह हुआ कि ऐसी बहुत-सी बातों को वैज्ञानिक नहीं माना जाय, जिन्हें पहले वैज्ञानिक कहा जाता था। लॉक ने तर्क उपस्थित किया कि बाह्य अनुभव प्राप्त करने से पूर्व मनुष्य का मस्तिष्क मोम की सादी पट्टिया के समान होता है, जिस पर इंद्रियजन्य अनुभव से ही छाप पड़ सकती है। मनुष्य अपने मन में कोई विचार लेकर उत्पन्न नहीं होता है। मनुष्य के मन में बाहरी दुनिया के सम्बन्ध में कोई जानकारी अथवा प्रत्यय तभी आता है, जब ज्ञान के साधनों (इंद्रियों) के द्वारा वह वहाँ पहुँचता है।

लॉक बाहरी दुनिया से प्राप्त इस जानकारी को 'सादा विचार' कहता था। उसका कहना था कि जहाँ मन पर इन सादे विचारों का असर पड़ा, वहाँ मन उन्हें आगे बढ़ाकर संयुक्त विचारों में परिणत कर लेता है। इसी तरह 'असीमता' जैसे विचार का विकास हुआ। सादे विचार, वस्तुओं

की उन विशेषताओं से सम्बन्धित थे, जिनका अनुभव इंद्रियों द्वारा सहज ही सम्भव था ; परन्तु यह मान्यता भी थी कि इन्द्रियजनित ज्ञान से विशेषताओं के सम्बन्ध में गलत धारणा भी होनी सम्भव है। जिन विशेषताओं के सम्बन्ध में गलत धारणा होनी सम्भव है, उनका लॉक ने दूसरी श्रेणी की विशेषताओं के रूप में वर्गीकरण किया और जिन विशेषताओं को जानने में इंद्रियों पर निर्भर रहना पड़ता था, उन्हें उसने प्रथम श्रेणी की विशेषताओं के वर्ग में रखा। इस तरह, लॉक के विचार में मानवीय ज्ञान का आधार इंद्रियों से प्राप्त जानकारी ही हो सकती थी और इंद्रियों की सीमाओं के बाहर प्राप्त होने वाले अनुभव को ज्ञान का आधार नहीं बनाया जा सकता।

न्यूटन किसी अनुभव के स्पष्टीकरण के लिए उसके प्राकृतिक कारण को महत्व देता था। उसका कहना था कि हमें किसी प्राकृतिक घटना के प्राकृतिक कारण को ही स्वीकृति प्रदान करना चाहिए, क्योंकि प्रकृति के नियम सहज और स्वाभाविक हैं और उनके बीच दिखावे और आडम्बर के लिए स्थान नहीं है। दिखावे और आडम्बर से बचने का एक सरल तरीका यह है कि हम एक तरह की प्राकृतिक घटना का सदा एक-जैसा ही कारण बतावें। इस तरह, जिन घटनाओं के कारणों के सम्बन्ध में हमें कोई भेद नहीं मिलता, उन्हें देखकर हम सामान्य नियम बना सकते हैं। जब घटनाओं के कारणों का अध्ययन कर हम सामान्य नियमों का निर्माण कर लें, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जब तक कोई नया अनुभव नहीं हो, तब तक उन नियमों को ही हम अपने विचार का आधार बनाएँ।

ज्ञान के सम्बन्ध में लॉक के विचार तथा प्राकृतिक घटनाओं के प्राकृतिक कारणों के खोज-सम्बन्धी न्यूटन के वैज्ञानिक सिद्धान्त को अमरीका में व्यापक रूप से पढ़ा गया ; किन्तु १८ वीं शताब्दी के तत्कालीन अमरीका में उसे पूर्ण रूप से समझा नहीं गया। फिर भी लॉक के प्रशासन-सम्बन्धी व्यक्तिवादी सिद्धान्त तथा उसके ग्रंथ के अधिक पढ़े जाने के कारण उसे १८ वीं शताब्दी के अमरीकी दार्शनिकों में स्थान दे दिया गया, जैसा कि मेलंकर्टी ने कहा भी था। परन्तु, उस समय के अमरीका में लॉक की विचार-धारा को समझने वाले जितने लोग थे, उतने न्यूटन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझने वाले नहीं थे ; क्योंकि न्यूटन को समझने के लिए गणित का ज्ञान आवश्यक था। फिर भी एफ० ई० ब्राश नामक इतिहासकार ने क्रान्ति से पूर्ववर्ती काल को अमरीकी इतिहास का 'न्यूटन-युग' तक कह डाला।

परन्तु १७२७ तक न्यूटन का जो ग्रंथ हारवर्ड में पढ़ाया जाता था, वह 'आप्टिक्स' था। प्रोफेसर जान विन्थ्रप ( चतुर्थ ) ने 'प्रिन्सिपिया' के तृतीय संस्करण की एक प्रति भी प्राप्त कर ली थी। इससे कुछ पूर्व प्राकृतिक विज्ञान के तीन शिक्षक टामस रावी, नाथन प्रिस और आइजक ग्रीनवुड दूसरे सूत्रों से न्यूटन के कतिपय विचारों को हारवर्ड में ला चुके थे। येल अधिक सौभाग्यशाली था। कनेक्टीकट के औपनिवेशिक एजेन्ट को न्यूटन ने अपने दोनों ही ग्रंथों की एक-एक कापी दे दी थी। यह सम्भव है कि न्यूटन की वैज्ञानिक विचारधारा का अध्ययन १७१४ से आरम्भ हुआ हो; किन्तु १७४० से पूर्व येल के पाठ्यक्रम में न्यूटन के ग्रंथ सम्मिलित किए जाने का कोई प्रमाण सुलभ नहीं है। इससे पूर्व, केवल कुछ मेधावी विद्यार्थी, जैसे सेमुअल जान्सन, जो बाद में किंग्स कालेज ( अब कोलम्बिया विश्वविद्यालय ) का प्रथम अध्यक्ष हुआ, डेनियल ब्राउनी और जानेथन एडवर्ड्स ने न्यूटन के ग्रंथों का अध्ययन स्वयं किया था।

एडवर्ड्स केवल १४ वर्ष की अवस्था में लॉक के निबन्ध 'कन्सर्निंग ह्युमेन अन्डरस्टैंडिंग' पढ़ चुका था। यह १७१७ की बात है, जिस वर्ष वह ग्रंथ येल में पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत हुआ था। एडवर्ड्स को इसके पढ़ने से बड़ा हर्ष हुआ था। उसने स्वयं लिखा है कि उसका यह हर्ष वैसा था, जैसा कि किसी धनलोलुप व्यक्ति को किसी खजाने से सोने-चांदी का ढेर उठाते समय होता है। अपने इस अध्ययन से प्रेरणा पाकर उसने एक लेखमाला लिखी, जिसमें उसने लॉक की विचारधारा पर निकाले गए अपने निष्कर्षों पर प्रकाश डाला। एडवर्ड्स के विचार बहुत कुछ जार्ज बर्कले के विचारों से मिलते-जुलते थे, जो उसने लॉक के अध्ययन से प्राप्त किए थे; परन्तु एडवर्ड्स के अध्ययन में बर्कले की अपेक्षा विचारों की गूढ़ता अधिक थी। एडवर्ड्स भी बर्कले की तरह दोनों वर्गों की विशेषताओं के भेद से परिचित था; किन्तु उसका कहना यह था कि इंद्रियों के अनुभव से हमें किसी वस्तु की जैसी विशेषताएँ वास्तव में होती हैं, उनका ज्ञान नहीं होता बल्कि उनके सम्बन्ध में हम वही जानते हैं, जैसी धारणा हमें इंद्रियों के अनुभव से मिलती है। दुनिया के सम्बन्ध में हम जो कुछ जानते हैं वह विचारों में आई दुनिया को ही जानते हैं—उसे नहीं जानते जिसकी जानकारी हम प्राप्त नहीं कर पाते।

आकृति, गति, विस्तार, घनत्व आदि वस्तुओं की जिन मुख्य विशेष-

ताओं को लॉक ने मनुष्य की मानसिक परिधि के बाहर माना था। उन्हें एडवर्ड्स ने अवरोध अथवा अवरोध की विधियों का रूप दे डाला। घनत्व स्वयं एक प्रकार का अवरोध है, आकृति अवरोध का अन्त है, विस्तार आकृति का एक पहलू है, गति दिक् से दिक् तक अवरोध का संचार है। इस तरह यदि एडवर्ड्स यह सिद्ध कर सकता कि मन के परे अवरोध का अस्तित्व नहीं तो वह यह भी प्रमाणित कर सकता कि जड़वाद के आधार पर सच्चे ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं।

इस प्रकार, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जब वास्तव में किसी वस्तु का अवरोध नहीं होता, तो हम यह दावा कदापि नहीं कर सकते कि अवरोध केवल मन के बाहर है, किन्तु यह कहते हैं कि अवरोध की शक्ति का अस्तित्व है। "और चूँकि अवरोध ईश्वरीय शक्ति का प्रस्फुटन है, इसलिए अवरोध-शक्ति उस चेष्टा की विधि अथवा नियम है।" अवरोध से हमारा आशय मन में एक विचार के अलावा और कुछ नहीं हो सकता और नियम अथवा शक्ति उस विचार का बाह्य रूप है। ऐसा माने बिना यह नहीं कहा जा सकता कि किसका अवरोध हो रहा है। मन के बाहर जो भी विशेषता रह सकती है, उसे अवरोध के रूप में परिणत कर लिया गया है और यदि ऐसा है, तो जिसका अवरोध किया जा रहा है, उसे स्वयं अवरोध होना चाहिए। परन्तु, एडवर्ड्स का कहना है, कि यह उपहासास्पद है। "अवरोध के पहले जिसका अवरोध हुआ हो, उसका अस्तित्व आवश्यक है, किन्तु यह कहना कि स्वयं अवरोध का ही अवरोध होता है, एक प्रकार से जिसका अवरोध होता है, उससे पहले ही अवरोध को मान्यता दे देना है।" इस मूर्खतापूर्ण स्थिति पर हम तब तक बने रहेंगे, जब तक कि हम अवरोध का अस्तित्व मन के बाहर मानते रहेंगे।

इसके विपरीत, यदि हम एडवर्ड्स की इस धारणा को स्वीकार कर लेते हैं, कि अवरोध विचार का एक रूप है और अवरोध एक मानसिक प्रक्रिया है, तो फिर हमें इस प्रकार की किसी कठिनाई में नहीं पड़ना पड़ता। दूसरी श्रेणी की विशेषताएँ रखने वाले विचारों का ही अवरोध होता है; परन्तु यदि अवरोध मन की प्रक्रिया हो जाती है, तो दुनिया विचारों की दुनिया-मात्र रह जाती है और मन में रहने वाला विचार ही तथ्य होता है। जिस मन की चेतना में यह विचार है, वह कभी भ्रमशील, गलत, नश्वर, ससीम मानवीय मन नहीं हो सकता। इस तरह एडवर्ड्स इस परिणाम पर पहुँचा कि सभी

का सारतत्त्व जो भी कुछ है, उसका यथार्थ, ठीक तथा स्थिर विचार ईश्वर के मन में है।

एडवर्ड्स की रुचि अल्पावस्था से प्राकृतिक विज्ञान में थी। येल विद्यालय में प्रविष्ट होने से पूर्व केवल ११ वर्ष की आयु में उसने "कीड़े-मकोड़ों" के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा। यह निबन्ध वैसे अनेक दृष्टियों से बाल-सुलभ कृति कही जा सकती है; किन्तु उसमें एक मकड़े की प्रकृति के सम्बन्ध में बालक एडवर्ड्स के यथार्थ एवं ज्ञान की झलक मिलती है। इसके कुछ विवरण में हमें कीट-विज्ञान-विशारदों द्वारा डेढ़ शताब्दी बाद संकलित ज्ञान का पूर्वाभास प्राप्त होता है। बाद में जब एडवर्ड्स ने न्यूटन के ग्रंथ पढ़े, तो उसने न्यूटन की खोजों पर अपने निष्कर्ष एक लेखमाला के रूप में प्रकाशित किए। न्यूटन का एक सिद्धान्त कार्य-कारण-सम्बन्ध विषयक उसने स्वीकार कर लिया, जिसका आशय यह था कि कारण के बिना कोई भी प्रक्रिया नहीं होती; परन्तु एडवर्ड्स की प्राकृतिक विज्ञान-सम्बन्धी लेखमाला न्यूटन के लिए उतनी ही अस्वीकार्य थी, जितनी उसकी 'मन'- सम्बन्धी लेखमाला लॉक को अस्वीकार्य होती। सत्य तो यह है कि न्यूटन एडवर्ड्स को वैसे ही चेतनावाद की तरफ ले गया, जैसे उसकी तरफ वह लॉक के अध्ययन के बाद पहुँचा था। उदाहरण के लिए एडवर्ड्स इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि दिक्, भौतिक तत्त्व अनिवार्य, अनश्वर, असीम, सर्वव्यापी है, और फिर उसने स्वीकार किया कि "मैं परोक्ष रूप में दिक् को ईश्वर कह गया हूँ।"

भाषा चाहे न्यूटन की प्रयुक्त की गई हो या लॉक की; किन्तु एडवर्ड्स इस परिणाम पर पहुँचा कि सभी वस्तुएँ एक ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत हैं, जिन्हें वह दैवी मन अथवा ईश्वर कहता था। हम चाहे जड़वादी विश्व के सम्बन्ध में साधारण निम्न दृष्टि से विचार करें अथवा चेतनवाद की दृष्टि से उसकी व्याख्या करें; किन्तु एडवर्ड्स के लिए भौतिक वस्तुएँ अध्यात्म से श्रेष्ठ नहीं प्रमाणित हुई। उसके मत में हम चाहे सापेक्ष विचारों में रमते हों अथवा परमाणुओं का विश्लेषण करने को प्रयत्नशील हों; किन्तु हमारा मुख्य विषय अध्यात्म ही रहेगा। एडवर्ड्स का विश्वास था कि यदि हमारी विचार-शक्ति अधिक व्यापक और पूर्ण होती, तो हम दृश्य जगत् की साधारण वस्तुओं से ही ईश्वर की समस्त सृष्टि का मूल्यांकन कर सकते। यह ज्ञान हमें उसी प्रकार होता, जिस प्रकार एक गेंद के

गिरने की प्राथमिक क्रिया से हम उसकी सम्पूर्ण गति के स्वरूप का अनुमान कर सकते हैं।

परन्तु, अपने जीवन के पिछले काल में एडवर्ड्स ने इस विचारधारा का त्याग कर दिया, गो कि यह कहना कठिन है कि ऐसा क्यों हुआ। सम्भव है कि अपने विचारों में अधिष्ठातृ ईश्वरवाद ( Deism ) की दिशा को देख कर ही उसकी ऐसी प्रतिक्रिया हुई हो, यह भी असम्भव नहीं कि जीवन के पिछले भाग में धार्मिक विचारधारा में पड़ कर एडवर्ड्स को अपनी युवा-कालीन विचारधारा को आगे बढ़ाने का अवसर नहीं मिला। उसके शुरू के निबन्धों में हमें लॉक और न्यूटन के अध्यात्मवाद ( Idealism )[1] की झलक अवश्य मिली; किन्तु आगे उसका विकास नहीं हो सका। एडवर्ड्स पर लॉक का प्रभाव अधिक था; किन्तु आगे जाकर न्यूटन के कार्य-कारण सम्बन्ध के सिद्धान्त की छाप ही उसके मन पर रह गई। इसके अलावा एडवर्ड्स अपने धार्मिक प्रवचनों में न्यूटन के प्रकृति-विज्ञान के उदाहरण भी दे देता था।

इनमें से कुछ उदाहरण काफी मनोरंजक थे। एक स्थान पर उसने कहा कि भौतिक जगत् गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के कारण ही सुरक्षित है। इस प्रकार, विभिन्न वस्तुएँ एक दूसरे को लाभान्वित करती हैं। एडवर्ड्स ने कहा कि जिस प्रकार ईसाई-धर्म में प्रेम का कल्याणकर स्थान है, उसी प्रकार पार्थिव जगत् में इस सिद्धान्त की झलक वर्तमान है। एजकील के 'चक्र के भीतर चक्र' कथन को समझाते हुए एडवर्ड्स ने उसे प्रकृति के नियमों की यंत्रवादी व्याख्या बताया। इसी प्रकार, एडवर्ड्स ने जलगति, ज्योतिष तथा

---

१. ( Idealism ) शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। जब ज्ञान के सिद्धान्त के प्रसंग में ( Idealism ) का प्रयोग किया जाता है, तब इसे प्रत्ययवाद अथवा भावनावाद कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार बाह्य जगत् का अस्तित्व केवल हमारे मन में प्रत्ययों के रूप में है। तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में (Idealism) का अर्थ चेतनवाद के रूप में किया जाता है, जो प्रकृतिवाद अथवा जड़वाद का विरोधी है। हमने (Idealism) के लिए ज्ञान-मीमांसा के प्रसंग में कहीं-कहीं प्रत्ययवाद का प्रयोग किया है; किन्तु बहुधा दोनों ही अर्थों में अध्यात्मवाद अथवा चेतन-वाद का प्रयोग किया है।

भौतिक विज्ञानों और यहाँ तक कि अर्थशास्त्र तक से उदाहरण दिए। उसने कहा कि "जिस प्रकार व्यापार की दिशा के बदलने पर अमरीकी सम्पत्ति से शेष संसार की समृद्धि बढ़ रही है, उसी प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में भी अमरीका की देन महत्त्वपूर्ण होने जा रही है।"

अठारहवीं शताब्दी के अन्य अमरीकी विचारकों पर भी लॉक और न्यूटन द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक नियमों की छाया पड़ी। हम देख चुके हैं कि काल्विन-वादियों ने ईश्वर की जो कल्पना कर रखी थी, उसमें ईश्वर निरंकुश और स्वेच्छाचारी था, किन्तु कोवनेटवादियों ने इस निरंकुशता तथा स्वेच्छा-चारिता को कुछ घटा दिया। अब हम देखते हैं कि ईश्वर की सत्ता की नियम-बद्धता में विश्वास रखने वाले इस परिणाम पर भी पहुँचे कि विश्व (ईश्वर की सृष्टि) का रहस्य इसीलिए खुल सका, क्योंकि वह कुछ प्राकृतिक नियमों पर आधारित था। एडवर्ड्स ने अपने प्रारम्भिक काल में ही लिखा कि प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन के बीच वस्तुओं के मूलतत्त्व की जानकारी हमें केवल इसीलिए हो पाती है कि ईश्वर का कृतित्व आनुपातिक है। एडवर्ड्स की तरह अनेक अमरीकी विचारकों को न्यूटन की शिक्षा से सृष्टि की नियमबद्धता का ज्ञान हुआ और वैज्ञानिक आवश्यकता तथा भाग्य का सम्बन्ध भी इसी तरह जुड़ा और वह अन्योन्याश्रित होने की अवस्था को पहुँच गया।

येल तथा किंग्स कालेज के सैमुअल जॉन्सन पर धर्मशास्त्र तथा न्यूटन के सिद्धान्तों के सम्मिलित अध्ययन का ऐसा ही असर हुआ। उसने कहा कि जब मनुष्य अनिवार्य परिस्थिति में कोई कार्य करता है, तब उसके नैतिक अथवा अनैतिक होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सैमुअल जॉन्सन ने मनुष्य की इच्छा, इच्छा की स्वच्छन्दता तथा किसी कार्य को करने अथवा नहीं करने की भेद-बुद्धि पर बल दिया। यद्यपि जॉन्सन कांग्रेशनलिस्ट सम्प्रदाय का अनुयायी शुरू में था; किन्तु अपनी उपर्युक्त आपत्ति के कारण वह 'चर्च आव इंग्लैंड' में सम्मिलित हो गया। उसने प्रश्न उठाया कि जो कुछ भी हम करते हैं, वह यदि भाग्य की अनिवार्यता के कारण किया जाता है, तो फिर कर्म-सम्बन्धी नियम-उपनियमों का क्या महत्त्व है। इस प्रसंग में सराहना अथवा भर्त्सना, आशा अथवा आशंका, पुरस्कार अथवा दंड की बातें महत्त्वहीन हैं; क्योंकि जो कुछ भी हम करते हैं, वह प्रारब्ध की प्रेरणा से करते हैं। यदि हम मानते हैं कि किसी कार्य का होना एक सुनिश्चित

विधान के अन्तर्गत तय था, तो उसे करने वाले को दंडित करना अर्थहीन है ।

जब जॉन्सन ने कालविनवादियों के भाग्यवाद से पीछा छुड़ा लिया, तब वह न्यूटन के प्रकृतिवाद से सहानुभूति बनाए रहा । उसने मनुष्य की इच्छा की स्वच्छंदता को नैतिक जामा पहनाया; किन्तु चेतनाहीन प्रकृति को वैसी रिआयत उसने नहीं दी । १७२९ में जार्ज बर्कले अमरीका आया । 'चर्च आव इंग्लैण्ड' के प्रमुख व्यक्ति की हैसियत से जॉन्सन बिशप बर्कले से मिलने गया और दोनों ने दार्शनिक विचार-विनिमय किया, जो बाद में पत्रों के द्वारा भी जारी रहा । बर्कले ने जॉन्सन को प्रमाणित कर दिया कि न्यूटन की विचारधारा पर अड़े रहने का एकमात्र परिणाम ईश्वर के अस्तित्व से हट जाना होगा । जॉन्सन इस तरह न्यूटन के आश्रय से पीछे हटा और अनेक तर्क-कुतर्क करने के बाद उसने बर्कले के चेतनवाद को स्वीकार कर लिया, जिसके अनुसार प्रकृति के नियमों तथा मानव की इच्छा से तो इंकार नहीं किया गया; किन्तु विश्व के मध्य आत्मा को कर्ता के रूप में महत्त्व दिया गया ।

बर्कले के दर्शन की जो व्याख्या जॉन्सन ने की, उसमें मनुष्य के ससीम मन के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया गया और मन की स्वतंत्रता तथा क्रिया पर बल दिया गया । जॉन्सन के विचार में ससीम मन ईश्वर के ही समान स्वतंत्र है; किन्तु उसकी स्वतंत्रता ईश्वर की उसे आदेश करने की इच्छा से सीमित होती है । ईश्वर आत्मानुभूति के द्वारा मानव-मन के भीतर विचारों को जन्म देता है और इन विचारों का सदुपयोग करने का दायित्व प्रत्येक व्यक्ति पर निजी रूप से है । इस प्रकार, जॉन्सन को बर्कले के दर्शन में न्यूटनवाद के प्रति अपने धार्मिक संदेहों की और कालविनवाद के प्रति अपने नैतिक संदेहों की तुष्टि का मार्ग मिल गया ।

न्यूटन से जॉन्सन ने जो कुछ सीखा, उसे वह भूला नहीं, केवल उसने उसे नए दर्शन की भाषा में ढालने का प्रयास किया। जॉन्सन ने काडवालेडर कोल्डेन से अपने पत्र-व्यवहार में तथा अपनी एक पुस्तक में भी इस मत पर जोर दिया कि इनर्शिया ( निश्चलता ), जिसे जॉन्सन अवरोध की संज्ञा देता था, मनुष्य के मन पर ईश्वर की सीधी क्रिया का परिणाम है; किन्तु कोल्डेन ( जैसा कि हम इस अध्याय के तीसरे खंड में देखेंगे ) इस विचार से असहमत था। कोल्डेन द्रव्य को क्रियाशील मानता था, जबकि जॉन्सन उसकी निष्क्रियता पर जोर देता था। जॉन्सन के एक पत्र में निम्न वाक्य है, जिसमें दोनों विचारकों के दृष्टिभेद पर

समुचित प्रकाश पड़ता है—"मुझमें और आप में यही विचार-भेद है कि जहाँ आप द्रव्य को क्रियाशील तथ्य मानते हैं, वहाँ मैं द्रव्य केवल उसे कहता हूँ, जो जड़ तथा क्रियाहीन है ; और आत्मा अथवा चेतन-तत्त्व उसे कहता हूँ, जो क्रियाशील, व्यापक तथा सभी वस्तुओं का प्रेरक है।"

यद्यपि कोल्डेन और जॉन्सन ने न्यूटन से प्रेरणा ग्रहण की ; किन्तु दोनों की दो दुनियाएँ थीं। एडवर्ड्स की तरह जॉन्सन भी चेतनवादी था, और वह आत्मा की अनन्यता में विश्वास करता था। कोल्डेन अपेक्षाकृत जड़वादी था और वह दृश्य एवं चेतन शक्ति दोनों की क्रिया में आस्था रखता था। इस अध्याय के शेषांश में हम जोनेथन एडवर्ड्स के परिपक्व अध्यात्मवाद (चेतनवाद) तथा काडवालेडर कोल्डेन द्वारा उपस्थित उसके विकल्प पर अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

# जोनेथन एडवर्ड्स का अध्यात्मवाद

जोनेथन एडवर्ड्स के प्रारम्भिक विचारों का विकास लॉक तथा न्यूटन के ग्रंथों के अध्ययन से हुआ। उसे विशप बर्कले की समानान्तर दिशा में चलते हुए यह ज्ञान हुआ कि प्रत्यक्ष अनुभव ही सब प्रकार के मानवीय ज्ञान का केन्द्रविन्दु है। मानव-मन में या तो प्रत्यक्ष अनुभूति से सादे विचारों का प्रादुर्भाव होता है, अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा प्राप्त सादा विचार जटिल विचारधारा का रूप धारण कर लेते हैं; इसलिए हम दृश्य जगत् के जड़वादी स्वरूप पर अधिक जोर नहीं दे सकते और हमें बस दृश्य जगत् के सम्बन्ध में अपने प्रत्ययों का ही ज्ञान होता है। एडवर्ड्स ने अपनी किशोरावस्था में प्रत्ययवाद अथवा चेतनवाद की तरफ पग अवश्य बढ़ाया; किन्तु वह इस पथ पर आगे नहीं बढ़ सका।

परन्तु, जोनेथन एडवर्ड्स अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद पादरी के रूप में अपने कार्य में लग गया और तत्त्वमीमांसा-सम्बन्धी उसका शोधकार्य दर्शन की एक नई प्रणाली का रूप धारण नहीं कर सका। वह अपने धार्मिक विश्वास के रक्षात्मक दार्शनिक प्रतिपादन में लग गया। परन्तु, एडवर्ड्स ने जिन प्यूरिटन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, वे न तो मैसाचुसेट्स की प्रथम पीढ़ी के प्यूरिटन सिद्धान्त थे और न वे काटन माथेर के ही। एडवर्ड्स का प्यूरिटनवाद एक व्यक्ति की धार्मिक अनुभूति का परिणाम था। एडवर्ड्स का प्यूरिटनवाद मनोविज्ञान पर आधारित था। उसका उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं था कि मानव ईश्वर पर वास्तव में पूर्णतः निर्भर है; बल्कि वह चहता था कि मनुष्य को ऐसा होना चाहिए। जबकि प्यूरिटनों की पिछली पीढ़ी ने लोगों को प्यूरिटन-सिद्धान्तों की वास्तविकता बता कर उनकी विचारधारा बदलने का प्रयास किया था। वहाँ एडवर्ड्स ने लोगों के इस प्रकार के हृदय-परिवर्तन का बौद्धिक औचित्य सिद्ध किया।

यह अनुमान करना कठिन नहीं कि एडवर्ड्स ने इस प्रकार के पथ का अनुसरण क्यों किया। उसने अपनी डायरी में जो कुछ लिखा, उससे प्रकट है कि एडवर्ड्स

निजी धार्मिक अनुभूति को कितना महत्त्व प्रदान करता था और यह अस्वाभाविक नहीं कि वह अपनी अनुभूति के ही समान दूसरों के हृदय-परिवर्तन को भी उत्तम समझता था। एडवर्ड्स के समय में मैसाचुसेट्स तथा कोनेक्टीकट नगरों में होकर भावना की जो धारा बही, उसका उद्गम नार्थम्पटन में था। आन्दोलन की सफलता इसी बात से जानी जा सकती है कि एडवर्ड्स के अपने क्षेत्र में ही ३०० से अधिक व्यक्ति उस धारा में अभिभूत हो गए। एडवर्ड्स ने इस धार्मिक आन्दोलन का जो वर्णन 'नैरेटिव आव सरप्राइजिंग कनवर्जेन्स' नामक अपनी पुस्तिका में किया, उससे ज्ञात होता है कि उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी; परन्तु एडवर्ड्स इस सम्बन्ध में सतर्क था कि केवल भावुकता ही सब कुछ नहीं। कतिपय बाह्य धार्मिक उपकरणों को साथ लेकर भावुकता का जो यह तूफान उठा, उसे वह सच्ची धार्मिक भावना स्वीकार करने को तैयार नहीं था। एडवर्ड्स को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि धार्मिक क्षेत्र में भावना के ठीक-ठीक स्थान का निर्देश वह करे।

धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एडवर्ड्स ने अपने ग्रंथ 'ट्रिटाइज कन्सर्निंग रिलीजस अफेक्शन्स' में किया, जो १७४६ में प्रकाशित हुआ। इससे १२ वर्ष पूर्व अपने एक प्रवचन में एडवर्ड्स धार्मिक क्षेत्र में भावना का ठीक स्थान भी बता चुका था। उपर्युक्त ग्रंथ तथा प्रवचन में एडवर्ड्स ने जो कुछ कहा, वह लॉक से ग्रहण किए मनोविज्ञान का विस्तार-मात्र था। मनुष्य के मन की दो शक्तियाँ होती हैं, जिनमें एक को समझ तथा दूसरी को प्रवृत्ति कहा जा सकता है। दूसरी को कभी-कभी 'हृदय' तथा इच्छा भी कहा जाता है। ये मन की सहज वृत्तियाँ अथवा शक्तियाँ होती हैं और उन्हें इंद्रियों, कल्पना, स्मृति तथा निर्णयात्मक बुद्धि से भी मदद मिलती है। इंद्रियाँ एक प्रकार से मन की परिचारिकाएँ हैं। मन में तब तक कोई प्रत्यय अथवा विचार नहीं आ सकता अथवा मन का तब तक कोई कार्य नहीं हो सकता, जब तक कि मन को अनुभूति के द्वारा ज्ञान नहीं मिलता।

यदि इन्द्रियों से हमारा तात्पर्य आँख, कान, नाक, जीभ और हाथ से है, जिनसे हम देखते, सुनते, सूँघते, चखते और स्पर्श करते हैं और जिनसे मन को सादे विचार अथवा दृश्य जगत् के संवेदन प्राप्त होते हैं, तो केवल इतने से धार्मिक ज्ञान की प्राप्ति में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। इस मनोवैज्ञानिक आधार पर ईश्वर तक पहुँच असम्भव है। ईश्वर की अनुभूति के लिए उसका इन्द्रियजनित ज्ञान आवश्यक है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ईश्वर को हम देख, सुन, सूंघ, आस्वादित अथवा स्पर्श नहीं कर सकते। इस कठिनाई पर विजय पाने का एडवर्ड्स ने

यह रास्ता निकाला कि अनुभूति की प्राप्ति के लिए हमें इन पांच इन्द्रियों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। ब्रिटेन के कतिपय आचार-शास्त्रियों ने कहा कि पाँच इंद्रियों के अलावा एक नैतिक प्रवृत्ति भी है, जो सत् अथवा असत् के बीच भेद करती है। एडवर्ड्‌स ने बताया कि कुछ लोगों में दैव की कृपा से यह अलौकिक क्षमता होती है और इसीलिए उनका मन दैवी निर्देशों को ग्रहण कर लेता है।

मनुष्य के जीवन का उद्देश्य, जिसके लिए ईश्वर ने उसे जन्म दिया है, धर्म का परिपालन है। एडवर्ड्‌स ने कहा कि धर्म मनुष्य की अंतःप्रेरणा की देन है और यह अंतःप्रेरणा उसे अपनी दैवी क्षमता से प्राप्त होती है। उसने यह भी बताया कि धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान-मात्र पर्याप्त नहीं है ; किन्तु कर्म की प्राप्ति के लिए गहरी अनुभूति परम आवश्यक है। केवल बौद्धिक ज्ञान के आधार पर धर्म में प्रवेश नहीं हो सकता। सच्चा पश्चात्ताप, सच्ची दीनता तथा सच्चा प्रायश्चित्त—इन सबके लिए हृदय की गहरी अनुभूति जरूरी है। अन्य शक्तियों की तरह मनुष्य को भावना इसलिए मिली है कि उसका धर्म के लिए सदुपयोग किया जाय।

पतित लोग मनोभाव का उपयोग धर्म के अलावा अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करते हैं। सभी आवेग मनुष्य को धर्म की ओर प्रेरित नहीं करते। "जिन वस्तुओं का सम्बन्ध मनुष्य की सांसारिक इच्छाओं, बाहरी खुशियों, उनकी इज्जत और प्रतिष्ठा से होता है, उनके सम्बन्ध में उनकी इच्छाएँ तीव्र, उनकी बुभुक्षा वेगवान, उनका प्रेम हार्दिक तथा उनका उन्माद असीम रहता है. . . परन्तु परलोक-सम्बन्धी महान् वस्तुओं के सम्बन्ध में अधिकांश व्यक्ति कितने अविवेकशील तथा कितने अप्रभावित रहते हैं।" अधिकांश जन में उस दैवी क्षमता का अभाव रहता है, जो धार्मिक व्यक्तियों तथा संतों की ईश्वरी देन होती है और जिससे उनमें दैवी गुणों का विकास होता है।

स्पष्ट है कि संतों को जो विशेष प्रकार का अनुभव होता है, वह साधारण अथवा प्राकृतिक कोटि का नहीं होता। यह अनुभव प्राकृतिक कारणों का परिणाम नहीं होता और न प्राकृतिक सिद्धान्तों की मदद से उनका स्पष्टीकरण ही हो सकता है। संतों का धार्मिक अनुभव, प्राकृतिक अनुभव से केवल मात्रा में ही नहीं, बल्कि कोटि में भी भिन्न होता है। संतों के धार्मिक अनुभवों का उद्‌गम भी अलौकिक सूत्रों में निहित है। संतो के मन की विचारधारा एक अलौकिक नवीनता लिए रहती है, जो संत-पद प्राप्त करने से पूर्व उनमें नहीं थी और न जो दूसरों में पाई जाती है। नए विचार का स्पष्टीकरण किसी इंद्रियजन्य संवेदन द्वारा सम्भव

नहीं है। एडवर्ड्स ने कहा कि संतों के भीतर एक ऐसी अंतःप्रेरणा होती है, जो दूसरी प्रेरणाओं से बिल्कुल भिन्न है। यह विशेष प्रेरणा अथवा अनुभूति, जिसके कारण संतों के मन में अलौकिक विचार उठते हैं, उन्हें ईश्वर से प्राप्त होती है।

जिस प्रकार कि पुरानी पीढ़ी के प्यूरिटनों को निश्चय करना पड़ता था कि चर्च के निर्वाचित प्रतिनिधि कौन है, उसी प्रकार एडवर्ड्स को निश्चय करना पड़ा कि ईश्वर ने अलौकिक प्रतिभा प्राप्त करने के लिए किन लोगों को चुना है। एडवर्ड्स के लिए यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण निश्चय था, क्योंकि उसका धार्मिक सम्प्रदाय उसके पूर्ववर्ती तथा उसके नाना सोलोमन स्टोडार्ड के नेतृत्व में एक ऐसी व्यवस्था के निकट पहुँच चुका था, जिसके अंतर्गत ईश्वर को मनुष्य के भाग्य का वैध प्रशासक माना जाता था। इसका परिणाम यह हुआ था कि गिरजे में 'ईश्वर द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों' के अलावा साधारण व्यक्तियों को भी धार्मिक कार्यवाही में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो गया। परन्तु, एडवर्ड्स ने धार्मिक उपदेश विशेष व्यक्तियों तक सीमित रखने की परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का निश्चय किया। अपने इस निश्चय की पुष्टि के लिए एडवर्ड्स को अपने विशेष प्रतिभा वाले सिद्धान्त से बड़ी सहायता मिली।

समस्या के इस पहलू पर एडवर्ड्स को केवल अपने समय की ही नहीं, वरन् हमारे समय की विचारधारा से भी संघर्ष करना पड़ा। यद्यपि आज एडवर्ड्स के विचार को समझाने के लिए सफाई देने की जरूरत पड़ेगी ; किन्तु १८वीं शताब्दी की पृष्ठभूमि एडवर्ड्स के विचार की स्वीकृति के अधिक प्रतिकूल नहीं थी। एडवर्ड्स जीवन-भर इस तथ्य का प्रतिपादन करता रहा कि मानव की सहज सात्विक प्रवृत्ति तथा ईसाई के रूप में उसकी अलौकिक प्रतिभा दो भिन्न वस्तुएँ हैं। सात्विक प्रवृत्ति दैवी अनुकम्पा से पृथक् स्तर की वृत्ति है। एडवर्ड्स के लिए किसी का धार्मिक होना ईश्वरीय अनुकम्पा के क्षेत्र के भीतर चले जाना तथा वैसी ही भावना से अनुप्राणित होना था। एक औसत व्यक्ति की नैतिकता की उपयोगिता यही थी कि उससे मनुष्य अपनी सुरक्षा करने में अधिक समर्थ हो सकेगा। एडवर्ड्स के विचार के अनुसार किसी ईसाई-सम्प्रदाय से सम्बन्ध कायम रखना तथा एक अच्छे ईसाई की तरह शुद्ध जीवन व्यतीत करना ही पर्याप्त नहीं था (जैसा कि उसके नाना का दृष्टिकोण था), बल्कि मनुष्य के लिए ईश्वरीय अनुकम्पा की प्राप्ति भी परम आवश्यक थी।

एडवर्ड्स के दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य के लिए धार्मिक तथा अलौकिक भावना से अनुप्राणित होना, एक अनिवार्य आवश्यकता थी। संत का जीवन ईसाई-

नियमों के अनुसार रहना चाहिए और इस 'पवित्र प्रक्रिया' को संत के जीवन में अन्य सभी बातों की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिलना चाहिए। इस दृष्टिकोण का प्रभाव एडवर्ड्स के सम्प्रदाय की सदस्यता पर ही नहीं पड़ा, बल्कि उसका निर्देश यह भी हुआ कि एक संत को अपने जीवन के केवल किसी विशेष भाग में ही नहीं, बल्कि मृत्युपर्यन्त दैवी अनुकम्पा की भावना से अनुप्राणित रहना चाहिए।

धार्मिक क्षेत्र में विशिष्टता का तत्त्व लाने के जो व्यावहारिक परिणाम हुए, उनके परिणामस्वरूप आचार-नीति-सम्बन्धी विशेष दृष्टिकोण का भी विकास हुआ। यह महत्त्वपूर्ण है कि एडवर्ड्स के नैतिक दृष्टिकोण का विकास काल्विन-वादी पृष्ठभूमि में हुआ। इस पृष्ठभूमि की विशेषता यह थी कि इसमें मानव-स्वभाव की नीच प्रवृत्ति को विशेष महत्त्व दिया गया था। मनुष्य अपनी सहज प्रकृति के कारण अच्छे मार्ग पर चलने तथा बुराई से बचने में असमर्थ है। एडवर्ड्स ने इस विचार का प्रतिपादन अपने ग्रंथ 'दि ग्रेट क्रिश्चियन डाक्ट्रिन आव ओरिजनल सिन डिफेन्डेड' में किया। उसने इस ग्रंथ में कहा कि मनुष्य के पापमूलक स्वभाव की पुष्टि इतिहास तथा दैनिक अनुभव से होती है। प्रत्येक युग तथा प्रत्येक स्थान में मनुष्य पापों में रत दिखाई देता है। चूँकि मनुष्य के पापपूर्ण आचरण से उसकी पाप की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है, इससे प्रमाणित होता है कि मनुष्य स्वभाव से कलुष को अपनाए हुए है और उसके कारण वह विवश है।

हम कह चुके हैं कि एडवर्ड्स ने न्यूटन का गहरा अध्ययन किया था और इसलिए वह यह मानता था कि प्रत्येक सांसारिक वस्तु का कोई-न-कोई कारण होता है। इस तरह एडवर्ड्स के विचार में मनुष्य की पाप की ओर प्रवृत्ति का भी कोई-न-कोई कारण अवश्य होगा। यदि मनुष्य के पाप-मूलक स्वभाव को हम ईश्वर प्रदत्त मानते हैं, तो पाप का दायित्व ईश्वर पर चला जाता है, जो एक अकल्पनीय स्थिति होती। एडवर्ड्स ने प्राचीन ईसाई-परम्परा के अनुसार कहा कि मनुष्य का पापपूर्ण स्वभाव आदम (प्रथम पुरुष) के पाप का ही परिणाम है; परन्तु एडवर्ड्स ने आदम के पाप के सिद्धान्त का अनुसरण अधिक आगे तक नहीं किया। एडवर्ड्स का उद्देश्य डा० जॉन टेलर तथा अन्य अंग्रेज पादरियों का विरोध करना था, जिनका कहना था कि शोक, कष्ट तथा मृत्यु आदम के पाप के ही परिणाम हैं; किन्तु स्वभाव की विकृति मनुष्य को आदम के पाप के दंड के रूप में नहीं मिली है। मनुष्य आदम के पाप के लिए दोषी

नहीं हैं, क्योंकि पाप किसी व्यक्ति-विशेष के कर्म का ही परिणाम होता है। टेलर ने तो यहां तक कह डाला कि आदम के पतन के बाद मनुष्य का नैतिक स्तर स्वयं आदम से हीन नहीं था।

जिन दिनों एडवर्ड्स ने यह ग्रंथ लिखा, उन दिनों यह तर्क बहुत अधिक प्रचलित था और इसीलिए उसने एक ऐसे नए सिद्धान्त के विकास की आवश्यकता अनुभव की, जिससे टेलर की मान्यता को चुनौती दी जा सके। एडवर्ड्स ने कहा कि मानव जाति की एकता अखंड है और इसलिए आदम का पाप समस्त मानव जाति का पाप है। उसने तर्क दिया कि मानव जाति एक वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ में आदम है। इस जड़ के ऊपर जो शाखाएँ हुईं, उनमें भी जड़ के दोष के कारण सात्त्विक तत्त्व का अभाव हो गया। मानव जाति जब अनेक न होकर एक हो गई, तो आदम के और उसके दंड का विस्तार स्वाभाविक रूप में प्रत्येक व्यक्ति तक हो गया।

काल्विनवादियों के पाप के मूल सिद्धान्त पर इस कारण भी हमले हुए कि यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाता, तो ईश्वर ही पाप के लिए जिम्मेदार बन जाता। एडवर्ड्स ने इस तर्क का जो जवाब दिया, उससे बुराई की समस्या का समाधान निकल आया। एडवर्ड्स ने कहा कि ईश्वर ने आदम की सृष्टि करते समय उसमें प्राकृतिक तथा अलौकिक दो विशेषताओं का समावेश कर दिया। प्राकृतिक विशेषताओं अथवा सिद्धान्तों को स्रष्टा ने निम्न अथवा गौण स्थिति प्रदान की। इन्हें 'आत्मप्रेम' की संज्ञा दी जा सकती है। अलौकिक विशेषताओं अथवा सिद्धान्तों को प्रमुखता दी गई और उन्हें श्रेष्ठ माना गया। इन सिद्धान्तों को हृदय में प्रभुत्व का स्थान दिया गया और उन्हें संक्षेप में 'ईश्वर-प्रेम' ही कहा जा सकता है। आदम की मूल प्रकृति सात्त्विक थी; परन्तु आदम के पतन के बाद 'ईश्वर-प्रेम' की विशेषता को ईश्वर ने वापस ले लिया; इसलिए पाप का स्रष्टा ईश्वर नहीं हुआ। उसने केवल आदम की श्रेष्ठता को हटा दिया, जो पाप को रोकती थी। इस प्रकार एडवर्ड्स ने मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में अपने विचार का सम्बन्ध नैतिक सिद्धान्त की उस परम्परा से जोड़ दिया, जिसमें कहा गया है कि आदम के पतन के बाद मनुष्य का नैतिक व्यापार स्वार्थ के पथ पर चलता रहा है। साथ ही एडवर्ड्स ने यह संकेत भी किया कि वह स्वार्थ को ध्यान में रखकर किए गए कार्य को उचित नहीं समझते; बल्कि उसने इसके विपरीत यहां तक कह डाला कि स्वार्थ से प्रेरित होकर किया गया कार्य पाप की तरफ ले जाने वाला होता है।

निष्काम उदारता ही, जिसे ईश्वर ने आदम से ग्रहण किया, एडवर्ड्स के विचार में सदाचरण अथवा अच्छाई है। यदि मनुष्यों में इस गुण का अभाव है, तो वे अच्छे अथवा भले कैसे हो सकते हैं? एडवर्ड्स ने बुराई के विश्लेषण की धार्मिक समस्या के समाधान का जो प्रयास किया, उसके कारण उसके आगे सदाचार से सम्बन्ध रखने वाली सात्त्विकता की समस्या सामने आ गई। यह सदाचार-सम्बन्धी समस्या उसके लिए इस कारण जटिल हो गई, क्योंकि एडवर्ड्स उसका कोई ऐसा समाधान स्वीकार नहीं कर सकता था, जिसमें विवेक को सद्‌गुणों का आधार माना गया हो। एडवर्ड्स के अनुसार, सद्‌गुण मनुष्य की बुद्धि अथवा विवेक पर आधारित न होकर मनुष्य की भावनाओं पर आधारित है। स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों ही मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं; किन्तु स्वार्थ बुराई की तरफ ढकेलता है, जबकि परमार्थ मनुष्य को साधुता की तरफ ले जाता है। ऐसे व्यक्ति, जो आदम के पतन से सात्त्विक प्रवृत्ति को खो बैठे, वे बुराई की ओर बढ़ने के प्रलोभन पर कैसे विजय पा सकते हैं? इस प्रश्न को एडवर्ड्स ने मृत्यु के बाद प्रकाशित अपने ग्रंथ 'दि नेचर आव ट्रू वर्चु' में उठाया।

इस ग्रन्थ में बताया गया है कि सद्‌गुण एक प्रकार का सौन्दर्य है; परन्तु सभी प्रकार का सौन्दर्य सद्‌गुण नहीं होता। वही सौन्दर्य सद्‌गुण है, जिसे धारण करने वाला मनुष्य संवेदनशील है और जिसकी अनुभूति तीव्र है। मनुष्य का बाह्य सौन्दर्य सद्‌गुण नहीं है; बल्कि उसका मानसिक सौन्दर्य ही सद्‌गुण है। इसी प्रकार, सभी प्रकार का मानसिक सौन्दर्य सद्‌गुण नहीं कहलाता। कल्पना की ऊँची उड़ान अथवा विवेकशीलता सद्‌गुण के अन्तर्गत नहीं आती। सद्‌गुण मन की उन विशेषताओं अथवा क्रियाओं का सौन्दर्य है, जिनकी सराहना अथवा निन्दा सम्भव है। प्रश्न उठाया गया है कि किसी आदत, किसी स्वभाव अथवा किसी प्रक्रिया को क्या कोई वस्तु वास्तव में सुन्दर बनाती है? यहाँ "वास्तव में" शब्दों का यह महत्त्व है कि सुन्दर वही है, जो स्वयमेव तथा तत्काल आकृष्ट करता है। उसे सुन्दर नहीं कहा जा सकता, जिसकी उपयोगिता अथवा जिसके परिणाम पर विचार करने के बाद हम उसके प्रति आकृष्ट होते हों।

इस प्रकार, अपने सिद्धान्त का आधार तैयार कर एडवर्ड्स ने कहा कि सभी प्राणियों के प्रति उदारता ही सच्चा सद्‌गुण है। उसने कहा कि प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसी रूप में सामूहिक प्राणितत्त्व से सम्बन्धित है। इस तरह वास्तविक सद्‌गुण हृदयों के मिलन में है, जिससे व्यक्ति का सम्बन्ध समष्टि से हो सके। एडवर्ड्स ने ईसाई-परम्परा के अनुरूप इससे यह परिणाम भी

निकाला—सद्‌गुण प्रेम का ही दूसरा नाम है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि सद्‌गुण अथवा सात्विकता की भावना व्यक्ति के हृदय के प्रेमपूर्वक समष्टि से मिलन में है। यदि प्रेम का विषय कोई व्यक्ति विशेष है, तो वह सम्पूर्ण प्राणितत्त्व के प्रति प्रेम से भिन्न है। इस प्रकार, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य की सात्विक वृति का झुकाव आत्मा के प्रति स्वाभाविक रूप से होता है और चूँकि सात्त्विकता का उद्देश्य प्राणिमात्र का कल्याण है, इसलिए वास्तविक सात्विकता का लक्ष्य समष्टि का अधिकतम कल्याण है।

एडवर्ड्स की विचारधारा का निष्कर्ष हम थोड़े शब्दों में इस प्रकार निकाल सकते हैं कि सात्विक स्वभाव वाले एक व्यक्ति का उद्देश्य प्राणिमात्र के प्रति कल्याण-भावना रखना है। उसके मतानुसार किसी दूसरे प्राणी के प्रति उसकी उदारता उसी अनुपात में रहती है, जिस अनुपात में उस प्राणी का आत्मिक विकास हो चुका रहता है। मनुष्य की सद्‌गुणशीलता—( १ ) किसी व्यक्ति के ईश्वर के प्रति प्रेम में और ( २ ) मानव के प्रति मानव के प्रेम में निहित है।

जिस प्रकार मनुष्य की श्रेष्ठता ईश्वर के प्रति प्रेम को प्रश्रय देने में है, उसी प्रकार ईश्वर की महिमा अपने प्रति प्रेम में है। सृष्टि की रचना में ईश्वर का उद्देश्य अपने को प्रस्फुट करना और इस प्रकार अपनी महिमा को प्रकट करना है। जगत् वास्तव में ईश्वर की महिमा का दृश्य है। मनुष्य की मुक्ति का एकमात्र मार्ग अपने स्वामी की दया पर अपने को छोड़ देना और उससे यह प्रार्थना करना है कि वह अपनी अनुकम्पा की वर्षा उस पर करे। केवल ईश्वर की अनुकम्पा ही, स्वभाव से पाप की ओर प्रवृत्त होने वाले मानव को, जो स्वार्थ से अन्धा रहता है, सद्‌गुण की ओर ले जाती है। मनुष्य अपने प्रयास से सद्‌गुण की ओर नहीं बढ़ सकता। सद्‌गुण की देन या तो सहज में प्राप्त होती है अथवा वह ईश्वर की दया से मिलती है। ईश्वर ने आदम से जिस सात्विक भावना को ले लिया था, उसे वह संतों को दे देता है। यदि मनुष्य पाप से कभी मुँह फेरता है, तो ऐसा ईश्वर के प्रयास से ही होता है और केवल ईश्वर ही उसके लिए जिम्मेदार है। १७३७ में एडवर्ड्स ने अपने एक प्रवचन में कहा कि जीव की मुक्ति के लिए इस निर्भरता से ईश्वर की महिमा में वृद्धि होती है।

एडवर्ड्स ने अपने जीवन का पिछला काल काल्विनवादियों के सिद्धान्तों का दार्शनिक आधार तैयार करने में लगा दिया। काल्विनवादियों के जिस सिद्धान्त

की पुष्टि के लिए 'दि फ्रीडम आव विल' नामक ग्रंथ लिखा गया, वह था मनुष्य की भाग्यरेखा का पहले से लिखा जाना। एडवर्ड्स काल्विनवादी मत के लिए इस सिद्धान्त को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण मानता था। इसके अलावा, एडवर्ड्स ने अपनी विचारधारा की पुष्टि के लिए लॉक और न्यूटन के इस सिद्धान्त से भी मदद ली थी कि प्रत्येक घटना का कोई-न-कोई कारण होता है।

एडवर्ड्स ने कहा कि प्रत्येक इच्छा का भी कोई-न-कोई कारण होता है। कारण वह उद्देश्य होता है, जिससे प्रेरित होकर इच्छा का जन्म होता है। एडवर्ड्स इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए इस परिणाम पर पहुँचा कि इच्छा एक यांत्रिक प्रक्रिया है, जो अनिवार्य रूप से अच्छाई की ओर बढ़ती है। इस प्रकार, इच्छा अनियंत्रित नहीं है, बल्कि जिस किसी की इच्छा होती है, उससे निर्धारित होती है। यह अधिकतम कल्याण की भावना द्वारा निर्धारित होती है।

इस प्रकार, मनुष्य अपनी इच्छा करने के लिए स्वतंत्र नहीं है ; किन्तु अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए वह स्वतंत्र है। लॉक की तरह एडवर्ड्स ने इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य इससे अधिक स्वतंत्रता की कल्पना ही नहीं कर सकता। एडवर्ड्स की, इस विचारधारा का उद्देश्य मनुष्य को इच्छा के अधिकार से वंचित करना नहीं था ; बल्कि उसकी इच्छा को सीमित कर देना था। कोई निश्चय करते समय नैतिक दृष्टि से इच्छा अधिक-से-अधिक शक्तिशाली इरादे से निर्धारित होती है ; किन्तु इन निश्चयों पर अमल करते समय मनुष्य की इच्छा पर प्रतिबन्ध नहीं रहता है। एडवर्ड्स के अनुसार स्वाधीनता का अर्थ यही है कि मनुष्य को जैसा वह चाहे कार्य करने का अधिकार तथा अवसर मिल जाता है, यद्यपि उसे यह विचार करने का अधिकार नहीं होता कि वह इच्छा उसमें कैसे हुई। एडवर्ड्स की उपर्युक्त विचारधारा से काल्विनवादियों का बड़ा लाभ हुआ। यद्यपि मनुष्य अपनी इच्छा का निर्णायक स्वयं नहीं है ; फिर भी अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र होने के कारण अपने कार्यों के लिए नैतिक दृष्टि से वही जिम्मेदार है। अस्तु, मनुष्य जो कुछ करते हैं, उसके लिए उनकी प्रशंसा अथवा निन्दा की जा सकती है ; किन्तु कोई कार्य करने या न करने की इच्छा की जिम्मेदारी उन पर नहीं है।

जोनेथन एडवर्ड्स ने काल्विनवादियों के मत में अपनी आस्था का इस प्रकार औचित्य सिद्ध किया। उसने स्वयं तथा उस समय के अन्य विद्वानों ने इसे एडवर्ड्स की एक अकाट्य स्थिति मानी थी। यूरोप के विद्वानों ने तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में केवल एडवर्ड्स को ही महत्त्व प्रदान किया। सच तो यह है कि उच्च

स्तर का वही पहला अमरीकी दार्शनिक था। एडवर्ड्स की असाधारण योग्यता तथा अपने समय की विचारधारा पर उसके अत्यधिक प्रभाव के बावजूद उसकी मान्यताओं में आज अधिक सार नहीं रह गया है। उसका निर्मित दुर्ग इतनी पूर्णता से गिर गया है कि अब उसका कुछ भी अवशेष नहीं रह गया है। फिर भी एडवर्ड्स ने लॉक और न्यूटन के विचारों का चतुरतापूर्वक प्रयोग कर अमरीकी चेतनवादी विचारधारा का प्रायः एक शताब्दी तक का ढाँचा तैयार कर दिया, जो जर्मन चेतनवादी विचारधारा के आने तक बना रहा।

# जड़तत्त्व की प्रक्रिया : काडवालेडर कोल्डेन

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार जोनेथन एडवर्ड्स के धार्मिक दर्शन में लॉक और न्यूटन की विरासत को प्लेटो की विचारधारा के मूल तत्त्वों से मिलाकर काल्विनवाद की पुष्टि की गई। एडवर्ड्स ने न लॉक से प्राप्त इन्द्रियजन्य ज्ञान पर अपनी निर्भरता का परित्याग किया और न न्यूटन के कार्य-कारण-सिद्धान्त से प्राप्त प्रेरणा से ही मुँह मोड़ा और इन सब की सहायता से उसने विश्व के एक ऐसे रूप का प्रतिपादन किया, जिसमें जड़तत्त्व ठोस तथ्य न होकर एक मानसिक तथा आध्यात्मिक यथार्थता के सम्बन्ध में हमारी अनुभूति की अभिव्यक्ति-मात्र था। अमरीका में क्रान्ति से पूर्व की विचारधारा पर लॉक और न्यूटन के प्रभाव-सम्बन्धी चित्र को पूर्ण करने के लिए अब हम उसी काल के एक वैज्ञानिक काडवालेडर कोल्डेन के दार्शनिक विचारों पर एक दृष्टि डालेंगे।

यह स्मरण रखने की बात है कि यह एक व्यापक वैज्ञानिक जिज्ञासा का काल था। १७वीं तथा १८वीं शताब्दी की वैज्ञानिक भावना का ही यह परिणाम था कि अनेक वैज्ञानिक विषय तथा अनुसंधान प्रकाश में आने के साथ ही पुराने पड़ जाते थे। न्यूटन के महान् संश्लेषण का परिणाम हुआ कि कितने ही लोग यह मानने लगे कि प्रकृति के सारे व्यापार एक नियमित प्रणाली के अनुसार होते हैं। इस विश्वास के फलस्वरूप प्रकृति के अन्य गुप्त रहस्यों को प्रकट करने के लिए अन्वेषण चल पड़े। वैज्ञानिक धारणाओं में तीव्र परिवर्तनों का परिणाम यह होता था कि अधिकांश वैज्ञानिक ग्रंथ प्रकाशित होते ही पुराने पड़ जाते थे।

काडवालेडर कोल्डेन, जिसके विचारों पर हम एक दृष्टि डालने जा रहे हैं, अमरीका में न जन्मा और न प्रशिक्षित ही हुआ ; इसलिए अमरीकी वैज्ञानिक शिक्षण के क्षेत्र में कोल्डेन को हम न्यूटन की विचारधारा के संदेशवाहक के रूप में नहीं मान सकते। हम उसकी योग्यता की तुलना अमरीका में प्रशिक्षित न्यूटन के शिष्यों से भी नहीं करते, जिनमें एक हारवर्ड के प्रोफेसर जॉन विन्थ्रोप

थे। उन दिनों अमरीका में जो विचारक थे, उनमें कोल्डेन का सब से अधिक सम्बन्ध न्यूटन के गणित तथा भौतिक विज्ञान-सम्बन्धी दार्शनिक अनुसंधानों से था। कोल्डेन के अध्ययनों के लिए उसकी एक योग्यता यह भी थी कि वह अनुशीलन की शास्त्रीय पद्धति के विरुद्ध था। उसमें यह खूबी एडिनबरा विश्वविद्यालय की अपनी शिक्षा के कारण आई, जिससे वह १७०५ में स्नातक हुआ था।

शास्त्रीय पद्धति यह थी कि एक समस्या को उठाया जाय। फिर उसके दोनों पक्षों पर जितने मत-मतान्तर मिलें, उन्हें क्रमानुसार एकत्र किया जाय। इसके बाद अध्ययनकर्त्ता यह परिणाम निकाले कि किस पद्धति का तर्क अधिक जोरदार है। इस पद्धति का एक परिणाम यह होता था कि उद्धृत किए जाने वाले मतों के समूह में एक नया मत और जुड़ जाता था। वैज्ञानिक दृष्टि से शास्त्रीय पद्धति दोषपूर्ण थी ; क्योंकि उसमें पुस्तकों में प्राप्त सामग्री को वस्तुओं के निरीक्षण तथा प्रयोगों से प्राप्त ज्ञान पर तरजीह दी जाती थी। धार्मिक विषयों के अध्ययन के लिए शास्त्रीय पद्धति अधिक उपयोगी थी और अभी तक इस क्षेत्र में वह प्रचलित है। परन्तु, वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में शास्त्रीय पद्धति को कोल्डेन के विद्यार्थी-जीवन के समय ही एडिनबरा विश्वविद्यालय में विरोध का सामना करना पड़ा।

काडवालेडर कोल्डेन एडिनबरा से डाक्टरी की उपाधि तथा प्रशिक्षण प्राप्त कर अमरीका पहुंचा और उसने फिलाडाल्फिया में प्रैक्टिस आरम्भ कर दी। डाक्टरी पेशे में जितनी सफलता की उसे आशा थी, वह उसे नहीं मिली और वह न्यूयार्क को चला गया। सार्वजनिक प्रशासन के पेशे में वह अधिक सफल हुआ और उसे आर्थिक लाभ भी हुआ। मृत्युपर्यन्त १७७६ तक वह न्यूयार्क राज्य के लेफ्टिनेंट-गवर्नर पद पर रहा। इस पद की जिम्मेदारी का वहन करते हुए उसने सभी तरह के अध्ययनों के लिए अवकाश निकाला। न्यूयार्क के अमरीकी आदिवासियों के सम्बन्ध में उसने जिस ग्रंथ की रचना की, उसे अनेक वर्ष तक इस विषय की सर्वोत्तम रचना माना जाता रहा।

परन्तु, कोल्डेन का मुख्य कार्य न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त के विषय में हुआ। १७४५ में इस सम्बन्ध में उसने अपना निबन्ध प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था 'द्रव्य तत्व-में क्रिया के प्राथमिक कारणों का स्पष्टीकरण।'[1]

---

१. Cadwallader Colden : An Explication of the First Causes of Action in Matter.

१७५१ में उस निबन्ध का संशोधित संस्करण इस शीर्षक से प्रकाशित हुआ—'द्रव्य-तत्त्व की प्रक्रिया तथा नभ-मंडलीय पिंड-सम्बन्धी गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त और इन सिद्धान्तों के आधार पर ग्रहों की गतियों का स्पष्टीकरण।'[1]

१७५१ से मृत्यु-काल तक कोल्डेन की जो पांडुलिपियाँ उपलब्ध हुईं, उनमें उपर्युक्त निबन्ध के विस्तृत संशोधन मिले, जिससे प्रकट हुआ कि कोल्डेन उसका तृतीय संस्करण प्रकाशित करना चाहता था। कोल्डेन ने जिस महत्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाला, उसका बीज न्यूटन के इस कथन में था कि गुरुत्वाकर्षण स्वयं कारण नहीं है, वरन् वह किसी अज्ञात कारण का निरीक्षण के द्वारा जाना हुआ परिणाम है। न्यूटन मध्ययुग में दिए गए स्पष्टीकरणों की आलोचना से सावधान हो गया था। उस समय प्राकृतिक क्रियाओं के ऐसे गुप्त कारण दिए जाते थे, जिन्हें भौतिक कारण नहीं कहा जा सकता था। यदि किसी मध्ययुगीय वैज्ञानिक से पूछा जाता कि वायुयान भूमि से उठ कर आकाश में कैसे उड़ता है, तो उत्तर मिल सकता था कि वायुयान की उड्डयन शक्ति से। इसका तात्पर्य केवल यही होता कि वायुयान के उड़ने के कारण उसकी उड्डयन शक्ति है। न्यूटन ने अनुभव किया कि गुरुत्वाकर्षण का शब्दार्थ वस्तुओं का एक दूसरी की ओर खिंचाव है। इस अवस्था में यह कहना कि वस्तुओं के परस्पर आकृष्ट होने का कारण गुरुत्वाकर्षण है, यह कहने के समान होता कि वस्तुएँ एक दूसरी के प्रति आकृष्ट होती हैं, क्योंकि वे एक दूसरी के प्रति आकृष्ट हैं।

कोल्डेन ने गुत्वाकर्षण अथवा वस्तुओं के एक दूसरी के तरफ खिंचाव की व्याख्या द्रव्य-तत्त्व की प्रक्रियाओं, अथवा अधिक सही यह कहना, कि द्रव्य-तत्त्व की क्रियाशील शक्तियों के रूप में की। उसने द्रव्य-तत्त्व की तीन शक्तियाँ बताईं—चलायमान शक्ति अथवा गति का सिद्धान्त, अवरोध शक्ति अथवा निश्चलता, जिसे दूसरे शब्दों में द्रव्य की जड़ता भी कह सकते हैं और 'ईथर'—वह माध्यम जिसके द्वारा गति अथवा अवरोध का संचार सम्भव

१. Cadwallader Colden : The Principles of Action in Matter, the Gravitation of Bodies and the Motion of the planets Explained from these Principles.

है, ताकि दूरी पर क्रिया सम्भव हो सके। कोल्डेन ने इन तीनों की संयुक्त क्रिया को गुरुत्वाकर्षण कहा। हम यहाँ कोल्डेन के इस विचार का वैज्ञानिक मूल्यांकन करने को नहीं अग्रसर होंगे। दार्शनिक दृष्टि से उसने यही किया कि उसने गुरुत्वाकर्षण को तीन क्रियाओं में बाँटा और फिर यह माना कि ये तीन स्वतंत्र द्रव्य-तत्त्व हैं। इस तरह उसने न्यूटन की विचार-पद्धति का अनुसरण किया। यहाँ तक पहुँचने के बाद कोल्डेन अपने क्षेत्र के बाहर निकला और वह गुरुत्वाकर्षण की व्याख्या करने वाली शक्तियों को ही गुरुत्वाकर्षण का कारण मान बैठा।

इस प्रकार कोल्डेन कतिपय मनोरंजक अनुमानों की ओर अग्रसर हुआ। प्रथम, उस काल में यह सिद्धान्त प्रचलित था कि द्रव्य के दो रूप होते हैं—प्रथम आत्मिक अथवा मानसिक द्रव्य जो चेतन होता है, और दूसरा जड़ द्रव्य, जो निष्क्रिय होता है। इस सिद्धान्त से मतभेद रखने वाले दार्शनिक, जैसे बर्कले अथवा एडवर्ड्स ने जड़ द्रव्य की वास्तविकता को स्वीकार नहीं किया और आत्मिक और चेतन तत्त्व को ही वास्तविकता बताया। कोल्डेन के विचार का झुकाव विपरीत दिशा में हुआ। उसने कहा कि यदि द्रव्य वास्तव में पूर्णतः निष्क्रिय है, तो उसे जानने का कोई तरीका संभव नहीं है। उसने स्वीकार किया कि यदि हम यह मानें कि वस्तुओं के प्रत्यय द्रव्यों की किसी प्रक्रिया के परिणाम हैं, तो हमारे तर्क के लिए वैकल्पिक मार्ग खुल जाता है। यदि तर्क का यह आधार मान लिया जाय, तो बर्कले की स्थिति निराधार हो जाती है। कोल्डेन ने अपने इस मंतव्य पर जोर दिया कि द्रव्य एकदम निश्चल और निष्क्रिय नहीं है। जहाँ तक द्रव्य ज्ञातव्य है, वह निष्क्रिय नहीं हो सकता। द्रव्य की अनुभूति हमें हो सके—इसके लिए उसका क्रियाशील और गतिशील होना आवश्यक है।

परन्तु कोल्डेन का विश्वास था कि दृश्य वस्तुओं की चरम विशेषता को अनुभूति द्वारा न पूर्णतः जाना जा सकता है और न बुद्धि से उनकी वास्तविकता को ही पहचाना जा सकता है। मनुष्य जिस द्रव्य को जान सकता है, वह द्रव्य की क्रिया है, वह द्रव्य का सार-तत्त्व नहीं है। कोल्डेन ने शास्त्रीय पद्धति का जो उपहास उड़ाया, उसका मूल कारण शास्त्रीय पद्धति के हिमायतियों का यह दावा था कि वस्तुओं की प्रकृति का ज्ञान विचारों के एकीकरण द्वारा सम्भव है। कोल्डेन ने अपने ग्रंथ 'इंट्रोडक्शन टु फिलॉसफी' में शास्त्रीय पद्धति की निस्सारता प्रकट करने के लिए एक मोमबत्ती का उदाहरण

दिया है। मोमबत्ती की गोलाई उसका एक गुण है, जो वस्तु पर निर्भर है और जिसका वस्तु से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। मोमबत्ती की सफेदी भी उसका एक दूसरा गुण है, जो हमारी इंद्रियों को प्रभावित करता है और इसी तरह मोमबत्ती की चिकनाई तथा कड़ापन उसके गुण हैं। यह तथ्य कि मोमबत्ती को जलाया जा सकता है और जलने के बाद वह प्रकाश देती है, उसके सारतत्त्व की अपेक्षाकृत एक कम महत्त्वपूर्ण विशेषता है, क्योंकि जब वह नहीं जलती तब भी मोमबत्ती है, और जब जलती है तब भी मोमबत्ती ही है। इस प्रकार, मोमबत्ती का सार एक विचारमात्र है, जो गुणों तथा संयोगों को हटाने के बाद बच रहता है। इस प्रकार वस्तुओं को न अनुभूति द्वारा जाना जा सकता है, और न उनकी वास्तविकता ही पहचानी जा सकती है।

अस्तु, निष्क्रिय वस्तुओं की अनुभूति अथवा इंद्रियों द्वारा निष्क्रियतापूर्वक ग्रहण की गई वस्तुओं का ज्ञान असम्भव है। अपने से पृथक् वस्तुओं का ज्ञान हमें अपनी इंद्रियों पर उन वस्तुओं की प्रक्रिया द्वारा ही होता है। कोल्डेन ने यह स्थिति ग्रहण की कि वस्तु-सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान उनके दिक् और काल ( Space and Time ) तक सीमित रहता है और केवल क्रियाशील वस्तु का ही ज्ञान हमें होता है और जिसे हम ज्ञान कहते हैं, वह वस्तुओं की क्रिया के सम्बन्ध में हमारी अनुभूति होती है। इस प्रकार कोल्डेन के लिए द्रव्य शक्ति का ही रूपान्तर है। अवरोध शक्ति, गति तथा कमनीयता ( Elasticity ) ही द्रव्य की तीन मूलभूत प्रक्रियाएँ हैं। कोल्डेन विचार करने को भी प्रक्रिया का एक रूप मानता है। वह मानसिक तथा आध्यात्मिक माध्यम की तरह जड़-सम्बन्धी माध्यम मानता था। यद्यपि कोल्डेन जड़-सम्बन्धी माध्यम पर जोर देता था, किन्तु वह जड़वादी नहीं था; क्योंकि उसने प्रत्येक कारंवाई को जड़ अथवा जड़-सम्बन्धी प्रक्रिया का रूप नहीं दिया था। इसके विपरीत, कोल्डेन ने उन विद्वानों की आलोचना की, जिन्होंने आत्मा अथवा चेतन शक्ति के अस्तित्व से इनकार किया अथवा यह दावा किया कि जड़तत्त्व के अलावा और कुछ है ही नहीं।

कोल्डेन की दार्शनिक विचारधारा का मुख्य विषय जड़ और चेतन-संबंधी अन्तर नहीं है। उसने यदि एक वर्ग की प्रक्रिया को जड़ कहा, तो दूसरे वर्ग की प्रक्रिया को उसने चेतन माना। शरीर और मन की प्रक्रियाओं की संयुक्त कारंवाइयों से ही हमें वस्तुओं का ज्ञान होता है। एक निष्क्रिय वस्तु का ( यदि मान लिया जाय कि ऐसी कोई वस्तु हो सकती है ) ज्ञान कभी सम्भव

नहीं है । समस्त ज्ञान प्रक्रिया तथा उसके प्रभाव का प्रतिफल है । जहाँ तक हमारे ज्ञान का सम्बन्ध है, निष्क्रियता तथा अनस्तित्व में कोई भेद नहीं । "यदि किसी वस्तु का हमारी इंद्रियों पर असर नहीं पड़ता, तो यह जानना असम्भव है कि वह वस्तु है भी या नहीं और यह स्मरणीय है कि कोई भी कार्य अपने कारण के बिना नहीं हो सकता ।"

यद्यपि द्रव्य अथवा जड़तत्त्व सक्रिय होता है ; किन्तु उसकी प्रक्रियाएँ ऐसी नहीं होती कि उन्हें जड़ में निहित प्रबुद्ध सत्ता अथवा इच्छा का परिणाम माना जा सके । हम जड़ में अनुभूति का अस्तित्व नहीं मान सकते, किन्तु हम स्पष्टतया तथा बिना किसी संदेह के यह मानते हैं कि चेतना, अनुभूति, विवेक आदि विशेषताओं का अस्तित्व है । इन विशेषताओं की स्वीकृति से प्रकट है कि ये सक्रिय शक्तियाँ हैं । इससे यह परिणाम निकलता है कि जड़-तत्त्व के अलावा एक दूसरा भी तत्त्व है, जिसे कोल्डेन ने प्रबुद्ध सत्ता माना है । उसका कहना है कि प्रबुद्ध-सत्ता उसी प्रकार उपर्युक्त क्रियाओं के कारण जानी जाती है, जिस प्रकार जड़-सत्ता गति, अवरोध तथा कमनीयता से जानी जाती है । प्रबुद्ध-सत्ता अपनी प्रक्रियाओं तथा अपने परिणामों से उसी प्रकार जानी जाती है, जिस प्रकार जड़-सत्ता अपनी प्रक्रियाओं और अपने परिणामों द्वारा जानी जाती है । प्रबुद्ध सत्ता के मूलस्वरूप का ज्ञान हमें उसी प्रकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार जड़-सत्ता के स्वरूप का ज्ञान हमें नहीं हो सकता ।

परन्तु दोनों प्रकार की सत्ताओं के मध्य प्रधान अन्तर निकालना असम्भव नहीं । उनमें अन्तर क्रियाओं तथा क्रियाओं की विधियों के कारण होता है । जड़-सत्ताओं की क्रियाएँ एक-जैसी होती हैं और इन क्रियाओं के प्रभाव सभी दिशाओं में होते हैं । जिस शक्ति के द्वारा उनकी क्रिया होती है, उसे वे स्वयं कम या अधिक नहीं कर सकतीं और न जिन दिशाओं में उनकी क्रिया होती है, उन्हें ही वे सीमित कर सकती हैं । इसके विपरीत, प्रबुद्ध सत्ताओं के आगे जो लक्ष्य या इरादे होते हैं, उनके सम्बन्ध में वे शक्तियों तथा दिशाओं में अपने कार्यों का नियमन करती हैं । जड़-सत्ताओं के कार्यों की समानता के कारण उनका गणित के द्वारा अनुसंधान सम्भव है । परन्तु, कोल्डेन के कथनानुसार, प्रबुद्ध-सत्ताओं का गणित द्वारा अनुसंधान सम्भव नहीं है, क्योंकि उनकी क्रियाएँ समान नहीं होतीं और वे लक्ष्यों, इरादों तथा इच्छाओं पर निर्भर करती हैं और उनके परिमाण की माँग असम्भव है ।

प्रवुद्ध-सत्ताओं की क्रियाओं को नैतिक क्रियाएँ भी कहा गया है। कोल्डेन ने कहा है कि इन क्रियाओं का सिद्धान्त आचार-सम्बन्धी ज्ञान का आधार है। वस्तुतः यह सिद्धान्त सभी प्रकार के ज्ञान का आधार है; परन्तु कोल्डेन आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त के एक पहलू पर विचार नहीं कर सका, और वह यह था कि नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के इरादों से है अथवा उसके कार्यों के परिणामों से। एक स्थान पर कोल्डेन ने कहा है कि नैतिक कार्यों के क्षेत्र में इरादे अथवा इच्छा पर ही विचार किया जाना चाहिए। परन्तु, अन्य स्थानों पर उपयोगितावाद का आश्रय ग्रहण करते हुए उसने मंतव्य प्रकट किया कि मनुष्य का उद्देश्य उसके कार्यों के परिणाम से जाना जाता है। साधारण रूप में यही कहा जा सकता है कि चूँकि कोल्डेन ने सुख को नैतिक जीवन का लक्ष्य माना है; इसलिए वह आचार-शास्त्र के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण रखने के ही अधिक निकट है।

कोल्डेन ने नैतिकता की व्याख्या करते हुए उसे सुखी जीवन व्यतीत करने की कला और विज्ञान कहा है। उसने सुख की भी व्याख्या की है कि वह जीवन में अधिक-से-अधिक ऐसा आनन्द प्राप्त करना है, जिसमें दुःख की न्यूनतम मिलावट हो। उसने ज्ञान को नैतिकता की सब से प्रथम आवश्यकता बताया है, क्योंकि किसी व्यक्ति का ज्ञान जितना ही अधिक होता है, वह उतना ही सुखी हो सकता है और यदि वह अपने ज्ञान का सदुपयोग करता है, तो उसे सुख भी होना चाहिए; परन्तु ऐसे व्यक्तियों का उदाहरण दिया जा सकता है, जिनका ज्ञान बहुत अधिक है, किन्तु वे नैतिक दृष्टि से पूर्ण नहीं हैं और आनन्द का उपभोग नहीं करते। कारण यह है कि उनका ज्ञान विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित है अथवा वे विशेषज्ञ हैं। कोल्डेन के विचार से जिस ज्ञान का सम्बन्ध नैतिकता से है, वह है साधारण ज्ञान अथवा ऐसा ज्ञान, जिससे सुख की प्राप्ति होती है। यदि मनुष्य के लिए आवश्यक सभी प्रकार की वस्तुओं के ज्ञान तथा सुख का तथा सुख और नैतिकता का सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाय, तो नैतिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति ही होनी चाहिए। सुकरात की तरह कोल्डेन के लिए सद्गुण ही ज्ञान हैं। "मनुष्य में जितना ही ज्ञान होगा, उतना ही वह नैतिकता के लाभों से अवगत होगा।"

इस प्रकार, कोल्डेन आनन्दवादी था। उसके अनुसार आचार-शास्त्र सुखी जीवन की कला-मात्र था। विश्वास साधारणतः यही किया जाता है कि

आनन्द की लालसा मनुष्य को नैतिकता की अपेक्षा अनैतिकता की तरफ ले जाती है । यदि सद्‌गुण और ज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध है, तो अनैतिक आचरण का सम्बन्ध अज्ञान तथा दोष से होना चाहिए । कोल्डेन ने इसे स्वीकार किया ; किन्तु उसने यह भी कहा कि किसी विशेष आनन्द का उपभोग शेष आनन्दों से वंचित कर देता है और फिर यह बुराई अनैतिकता की तरफ ले जाती है । जब हम एक विशेष प्रकार के आनन्द को अपनी चेष्टाओं का एकमात्र केन्द्र बना लेते हैं और दूसरे आनन्दों की उपेक्षा कर देते हैं, तो हम अपने आनन्द की आवश्यकताओं का ठीक तरह अनुमान नहीं लगा पाते । एक प्रकार का आनन्द चाहे कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, फिर भी उसी पर केन्द्रीभूत रहना एक बुराई है, एक अनैतिक कृत्य है । धर्म के प्रति अति श्रद्धा भी पापमूलक है । धर्म की शुरुआत उस आनन्द में होती है, जिसकी आशा हम ईश्वर की अनुकम्पा की प्राप्ति द्वारा करते हैं ; किन्तु यदि इसके लिए हम शेष आनन्दों को तिलांजलि दे दें, तो हम एक गलत तथा खतरनाक उन्माद के वशीभूत हो जाते हैं ।

कोल्डेन ने कहा कि केवल विचारहीन समाज में ही यह खतरा है कि मनुष्य अपने सभी कार्यों को आनन्द के उपभोग के इरादे से करेगा । उसने तर्क उपस्थित किया कि आनन्द का उपभोग करने वालों के अनुसार ही अनैतिकता का अस्तित्व असम्भव है । यही नहीं, शास्त्रकार लोगों से सुख की प्राप्ति के लिए ही नैतिक तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करने का अनुरोध करते आए हैं । सत्य तो यह है कि नीतिसम्मत जीवन में सुख पर जो जोर दिया गया, उसका ध्यान आने पर यह समझना मुश्किल हो जाता है कि "लोग धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए आनन्दों से मुख मोड़ लेने की सलाह क्यों देते हैं ।"

कोल्डेन अपने युग की परम्परा के अनुसार अधिष्ठातृ ईश्वरवादी था । विश्व के विधान तथा उसकी एकरूपता को देखकर वह विश्व के विधाता तथा उसके सामंजस्यकर्ता के अस्तित्व को प्रमाणित कर सका । कोल्डेन ने कल्पना की कि विश्व का स्रष्टा तथा विधाता असीम बुद्धि तथा विवेक का भंडार है । उसने अपने आनन्द के उपभोग-सम्बन्धी सिद्धान्त को आगे बढ़ा कर यह भी कल्पना की कि ईश्वर अतिशय उदार है । कोल्डेन की मान्यता थी कि ईश्वर ने अपनी बुद्धि तथा उदारता से प्रेरित होकर ऐसा विधान किया कि सुख प्राप्त करने के वर्तमान साधनों में ही भावी सुख के साधन निहित हैं ।

ज्ञान का असीम भंडार तथा सुख का सागर, ईश्वर, विश्व के नियम इस प्रकार के कैसे बना सकता था कि मनुष्य को इहलोक अथवा परलोक में से एक श्रेणी के आनन्द को चुनना पड़ता और दूसरे वर्ग के आनन्द को छोड़ना पड़ता। कोल्डेन की विचारधारा में जब भी धर्म की चर्चा आती, तभी वह ईश्वरीय विधान के विवेकपूर्ण स्वरूप के आशावादी दृष्टिकोण पर प्रकाश डाले बिना नहीं रहता।

यद्यपि कोल्डेन धर्म-ग्रंथों तथा दैवी अनुभूति के प्रति श्रद्धा प्रकट करने से कभी नहीं चूकता था, फिर भी उसका ईश्वर प्यूरिटनों के ईश्वर की तरह स्वेच्छाचारी नहीं था। कोल्डेन के धार्मिक विधान में ईश्वर के चमत्कारपूर्ण हस्तक्षेपों तथा पूर्व-निर्देशों के लिए स्थान नहीं था। असीम विवेक की केन्द्रीभूत सत्ता उन नियमों को कभी भंग नहीं करती, जिनके अनुसार जड़वादी सत्ता का संचालन होता है। यदि ईश्वर उन नियमों की अवहेलना करे, तो विश्व में अव्यवस्था फैल जायगी। ईश्वर की चरम विवेकशीलता ही इस बात का सर्वोत्तम प्रमाण है कि विश्व के कार्य-संचालन के लिए उसने जो व्यवस्था चलाई है, वह अचूक है और उसमें संशोधन अनावश्यक है। मनुष्य अपने से श्रेष्ठ सत्ता का स्वाभाविक रूप से अनुसरण करते हैं। मनुष्य जड़तत्त्व का उपयोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, ऐसे विवेकपूर्ण ढंग से करते हैं कि जड़-वस्तुओं से उनका विरोध अथवा टक्कर नहीं होती। यदि मानवीय विवेक पर यह बात लागू हो, तो असीम विवेक की भंडार दैवी सत्ता के लिए तो यह कल्पना और भी नहीं की जा सकती कि वह जड़तत्त्व की प्रक्रिया के विरुद्ध कोई कार्य करेगी; क्योंकि विरोध उत्पन्न होने पर विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जायगी और सत्य और असत्य के बीच कोई भेद नहीं रह जायगा।

न्यूटन से प्रेरणा लेकर, कोल्डेन ने विश्व को एक ऐसी मशीन माना है, जो उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने निर्माता की इच्छा के अनुसार चलती रहती है। पूर्ण सत्ता की पूर्ण कृति के लिए इससे कम और क्या आशा की जा सकती है? विश्व की यह प्रणाली ऐसी है कि उसके सभी अंग किसी-न-किसी रूप में एक केन्द्र-बिन्दु से सम्बन्धित हैं और इस केन्द्र-बिन्दु के कारण सभी अंगों की एकता अविच्छिन्न रहती है।.....हम इस प्रणाली पर उसके अंगों को अलग रख कर विचार नहीं कर सकते; किन्तु हम उन अंगों के केन्द्र से सम्बन्ध को ध्यान में रख कर समष्टि रूप में विचार कर सकते हैं। जब तक विभिन्न अंगों का केन्द्र से सम्बन्ध नियमित रहता है, तब तक प्रणाली को स्वस्थ कहा जाता

है ; किन्तु सम्बन्ध के अव्यवस्थित होने पर प्रणाली 'रुग्ण' हो जाती है। यदि किसी अंग का केन्द्र से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तो उस अंग की मृत्यु हो जाती है। यदि सम्पूर्ण प्रणाली की संचार-व्यवस्था भंग हो जाय, तो केन्द्र से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर, उस प्रणाली का अन्त हो जायगा। इस प्रकार, भौतिक विश्व का केन्द्र-विन्दु ईश्वर है, जो उसकी व्यवस्था के चलते रहने के लिए उत्तरदायी है। यह ईश्वर असीम बुद्धि तथा विवेक का आगार है।

यदि ऐसा है, तो ऐसा कोई समय अकल्पनीय है, जब जड़तत्त्व नहीं था। यदि पूर्ण विवेक किसी समय जड़-प्रणाली के साथ बना रहना सम्भव है, तो कोल्डेन के मतानुसार पूर्ण विवेक और जड़ प्रणालियों का कभी भी एक साथ बना रहना असंगत बात नहीं। कोल्डेन यह मानता था कि सूर्यमंडल के समान भौतिक प्रणालियाँ उत्पन्न हो सकती हैं और विनाश को प्राप्त हो सकती हैं ; किन्तु प्राकृतिक व्यवस्था की सब से बड़ी विशेषता यह है कि एक भौतिक प्रणाली के नष्ट होने पर दूसरी भौतिक प्रणाली का जन्म हो जाता है। कोल्डेन की मान्यता यह भी थी कि असीम विवेक वाली सत्ता नए सूर्यमंडल जड़-द्रव्यों के घात-प्रतिघात के तरीके से उत्पन्न करती है। हमें यहाँ कोल्डेन की इस मान्यता के विस्तार में नहीं जाना है, हमारी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण यही है कि कोल्डेन ईश्वर की असीम विवेकशीलता से भौतिक जगत् की नित्यत्ता का परिणाम निकालता था।

इस प्रकार, हमें पता चलता है कि न्यूटन के अध्ययन से कोल्डेन का अनुशीलन उसे एडवर्ड्स अथवा जॉन्सन की अपेक्षा कहीं अधिक जड़वाद की तरफ ले गया। अमरीकी उपनिवेशों में लॉक और न्यूटन के ग्रंथों का व्यापक रूप से अध्ययन हुआ और कितने ही व्यक्तियों को इससे अपनी रूढ़ि-वादी निद्रा से जागने की प्रेरणा मिली। इन दोनों अंग्रेज विचारकों से प्रेरणा प्राप्त कर जो लोग नए विज्ञान तथा उसके नए तरीकों की तरफ आकृष्ट हुए, उन्हें प्रकृति, पुरुष और परमेश्वर के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं पर नए सिरे से विचार करना पड़ा ; परन्तु विचारों का यह तूफान अमरीकी विचारकों को एक ही जैसे परिणामों की तरफ नहीं ले गया। यह उन्हें विभिन्न दिशाओं की ओर ले गया। यदि जोनेथन एडवर्ड्स चेतनवादी तथा मनो-वैज्ञानिक धार्मिक विचारधारा की ओर आकृष्ट हुआ, तो काडवालेडर कोल्डेन जड़वादी एवं अधिष्ठातृ ईश्वरवादी यंत्रवाद की ओर मुड़ गया।

---

# २

# ज्ञान और प्रकाश का युग

# क्रान्तिकालीन विचारधारा की विशेषताएँ

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में न केवल अमरीकी राष्ट्र तथा अमरीकी संस्कृति के विकास का श्रीगणेश हुआ; बल्कि उससे एक संगतपूर्ण तथा युक्तियुक्त विचारधारा एवं कार्यशैली की भी अभिव्यक्ति हुई। यह विचारधारा पश्चिमी यूरोप के सम-सामयिक बौद्धिक जीवन से मिलती-जुलती थी, जिसे अमरीकी ज्ञान और प्रकाश का युग कहा जा सकता है। हम अमरीकी जागृति तथा उन लोगों की विचारधारा पर दृष्टि डालेंगे, जिन्होंने हमारे राष्ट्र का निर्माण किया और उसकी विरासत को एक दिशा प्रदान की। हमें यहाँ अमरीकी राष्ट्र की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करना है तथा प्रगतिशील विचारों के उस ढांचे पर दृष्टि डालनी है, जो अमरीकी राष्ट्र के हृदय का प्रतिनिधित्व करता है।

इस ढांचे ने शीघ्र सुडौल तथा सर्वांगपूर्ण स्वरूप धारण किया। ज्ञान और प्रकाश को वहन करने वाले मनुष्यों के विचारों के बीच उस युग के विज्ञान, धर्म, राजनीति तथा अर्थशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। इन सभी क्षेत्रों में एक-जैसी विधियों तथा सुनिश्चित विचारों को आगे बढ़ाया गया। उस समय दर्शन और धर्म, धर्म और विज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्र के बीच एक दूसरे को पृथक् करनेवाली दीवारें नहीं थीं। जीवन तथा विचारधारा के सभी अंग ज्ञान के एक ही सामान्य ढांचे के अन्तर्गत आते थे। इन विभिन्न क्षेत्रों के विचारणीय विषयों को चाहे एक दूसरे से अलग माना जाता रहा हो; किन्तु उन सभी पर विश्लेषण के एक-जैसे सिद्धान्त ही लागू किए जाते थे।

इस क्रान्तिकाल के प्रतिनिधिक विचारों पर प्रकाश डालने से पूर्व उनकी दो विशेषताओं की चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा। प्रथम विशेषता यह थी कि इस युग के सभी व्यक्तियों अथवा विचारधाराओं के सूत्रधारों के दृष्टिकोण एक-जैसे नहीं थे। उस अवस्था में भी, जब कि विचारों का सूत्रपात सिद्धान्तों के एक ही वर्ग से हुआ और एक-जैसे ही तर्क दिए गए, तब भी परिणाम समान



४

नहीं निकले थे। सच तो यह है कि मतैक्य कम ही होता था ; क्योंकि कोई भी दो विचारक समान सिद्धान्तों को आधार मानकर शायद ही कभी चलते थे। फिर भी नई विचारधारा की विरासत जिस रूप में हमें मिली, उसमें वह इतनी व्यापक और प्रभावोत्पादक अवश्य थी कि उसे युग की प्रतीक कही जा सके। दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह मानी जा सकती है कि जिन विचारों की चर्चा करने हम जा रहे हैं, उनकी तात्कालिक लोकप्रियता के विषय में अधिक दृढ़ता से दावा नहीं किया जा सकता। यह विचारधारा हमें ग्रन्थों के रूप में प्राप्त हुई ; इसलिए हमारे पास यह जानने का ही कोई साधन नहीं है कि अशिक्षित जन-समुदाय की भावना इन विचारों के प्रति क्या थी। अस्तु, जिन भी सामान्य प्रवृत्तियों की चर्चा हम करेंगे, वह उसी अल्पसंख्यक समुदाय पर लागू थीं, जो लिखने और पढ़ने में समर्थ था।

इन दोनों विशेषताओं को स्वीकार करने के बाद जब हम १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के उपलब्ध अमरीकी साहित्य पर दृष्टि डालते हैं, तो उसमें पिछले काल की यूरोपीय विचारधाराओं का मिलाजुला प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस काल में मानव की शक्ति तथा उसकी पहुंच में अगाध विश्वास था और यह भी धारणा थी कि गणित के तरीके का प्रयोग कर तथा पूर्व-निश्चित सिद्धान्त से सुनिश्चित परिणाम निकालकर मानव, दैवी सहायता प्राप्त किए बिना अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता है। दैवी सहायता पर निर्भर हुए बिना सर्वज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों के निरूपण का एक परिणाम यह हुआ कि परलोक की तुलना में इहलोक का महत्त्व बढ़ गया। अब जीव की मुक्ति से अधिक महत्त्व संसार में मनुष्य के सुख और शान्ति को दिया जाने लगा और जीवन-संग्राम का लक्ष्य उसी को माना जाने लगा। यही नहीं, मनुष्य तथा उसकी प्राकृतिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमियों का महत्त्व बढ़ गया और ज्ञान के धर्मेतर क्षेत्रों में १७वीं शताब्दी तथा १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अंग्रेज-विचारकों तथा लेखकों ने जो अनुशीलन किया, उसका अमरीकी विचारधारा पर सुनिश्चित प्रभाव पड़ा। इस विचार-संघर्ष का यह भी परिणाम हुआ कि औपनिवेशिक काल के उत्तरार्द्ध में तथा राष्ट्रीय काल के शुरू के दिनों में, लौकिक उदारता की विचारधारा, अधिष्ठातृ ईश्वरवाद, मनुष्य की पूर्णता तथा उसके द्वारा वैज्ञानिक प्रगति कर सकने की क्षमता में आस्था एक लोकतंत्री राजनीतिक आदर्श और अर्थशास्त्र के निर्बाध व्यापार-सिद्धान्त का विकास हुआ और क्रमशः मानव विश्व नागरिकता के लक्ष्य की ओर प्रगति करने लगा।

इस सबका पता पुराने ग्रंथों की अच्छी तरह छान-बीन करने से लग सकता है। अमरीकी ज्ञान-गरिमा का नेतृत्व करने वाले कर्म-मार्ग के पथिक थे। इतिहास के घटनाचक्र का संचालन करने में वे इतने व्यस्त थे कि उनके कार्य जिन विचारों पर आधारित थे, उनकी शास्त्रीय व्याख्या करने की छुट्टी उन्हें नहीं थी। युद्ध-क्षेत्र के मोर्चे पर दार्शनिक ग्रंथों का शायद ही प्रणयन होता है और प्रायः अर्द्ध-शताब्दी तक अथवा उससे भी अधिक समय तक ज्ञान और प्रकाश के अमरीकी युग की संस्कृति के निर्माता एक ऐसे संघर्ष की अगली पाँति पर रहे, जिसमें युद्ध-विराम-जैसी कोई बात नहीं थी। कभी उन्हें क्रान्ति की समस्याओं से सामना करना पड़ा, कभी राष्ट्र की नींव रखने में व्यस्त होना पड़ा और कभी स्थिरता तथा सुरक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों से जूझना पड़ा। उन्हें एक अभूतपूर्व मात्रा में प्रतिनिधिक शासन की शर्तों तथा परिस्थितियों को भी तय करना पड़ा। इस बहुमुखी व्यस्तता के कारण वे अपनी विचारधारा को क्रमबद्ध रूप नहीं दे सके। इन व्यक्तियों के विचारों को एकत्र करने के लिए उनके द्वारा विभिन्न समय पर लिखे गए पत्रों की छान-बीन आवश्यक है, उनके द्वारा दिए गए भाषणों की उलट-पलट होनी जरूरी है और राजकीय कागज-पत्रों में उनके द्वारा दी गई टिप्पणियों से मतलब की बातें निकाल लेनी है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका के शुरू के वर्षों की अवस्था को देखकर प्लेटो के गणतंत्री आदर्श का स्मरण हो उठता है, जब सभी राजे दार्शनिक थे ; किन्तु राजे अपने शासन-कार्य में इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने का समय नहीं मिलता था।

बाद में जब परिस्थिति में कुछ स्थिरता आई, तो कम-से-कम चोटी के व्यक्तियों के दार्शनिक विचारों की क्रमबद्ध व्याख्या हो सकती थी ; किन्तु बौद्धिक प्रगति का रथ इसी बीच रुक गया। इसके अनेक कारण बताए जा सकते हैं; किन्तु उनमें सबसे प्रमुख मानव-प्रकृति-सम्बन्धी सिद्धान्तों का समुचित विकास नहीं हो सकता था। सच तो यह है कि अमरीकी दार्शनिक विचारधारा में वेग आने से पहले ही उसकी गति अवरुद्ध हो गई। ज्ञान और प्रकाश के विचारों के अच्छी तरह सामने आने से पूर्व ही, उनकी प्रतिक्रिया आरम्भ हो उठी। इससे पूर्व कि कपड़े की सिलाई कर उसे वस्त्र का रूप दिया जाता, उसमें छिद्र हो गए। ज्ञान और प्रकाश की किरणें जब अपनी चरम प्रखरता पर थीं, उस समय अथवा बाद में कभी भी इस विचारधारा को पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर नहीं प्राप्त हुआ।

ज्ञान और प्रकाश के युग के विश्वास उनके प्रतिपादकों द्वारा प्रकट किए जाने के पूर्व ही इस युग के आगमन के लक्षणों का पूर्वाभास होने लगा था।

उदाहरण के लिए धार्मिक विचारधारा में निराशावाद से हटकर आशावादिता की ओर झुकाव परिलक्षित होने लगा था। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, प्रारंभिक काल के प्यूरिटन विचारक ईश्वर को एक कठोर शासक के रूप में देखते थे, जो दुनिया के मामलों में सीधे और मनमाने ढंग पर हस्तक्षेप करता है। बाद की पीढ़ियों ने जिन बातों को प्राकृतिक नियमों तथा कार्य-कारण सिद्धांत का परिणाम माना, उन्हें प्यूरिटन लोग ईश्वर की असीम शक्ति का प्रत्यक्ष प्रस्फुटन मानते थे। प्यूरिटन लोग मनुष्य को स्वभाव से एक नीच प्राणी मानते थे और वे यह भी विश्वास करते थे कि प्रकृति मनुष्य के प्रति ईश्वर के प्रेम की प्रतीक न होकर उसकी न्याय-भावना की अभिव्यक्ति है। नए युग की पृष्ठभूमि में प्रकृति मनोहर थी और ईश्वर कल्याणकारी था। ईश्वर के हस्तक्षेप का स्थान प्रकृति के नियमों ने ले लिया था। ईश्वर ने प्रकृति की सृष्टि मानव के हित के लिए की और प्रकृतिरूपी यह मशीन इतनी पूर्ण है कि अपने स्रष्टा से स्वतंत्र होकर भी चलते रहने की क्षमता रखती है। कॉटन माथेर ने भी अपने पिछले ग्रंथों में प्रगतिशीलता की ओर झुकाव दिखाया है। उसने एक स्थल पर कहा है कि संसार सुआयोजित, सुव्यवस्थित तथा इतना सुन्दर है कि प्रकृति के अध्ययन से ईश्वर के कल्याणकारी रूप के दर्शन होते हैं और मनुष्य अपनी बुद्धि से काम लेकर ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

माथेर ने अपनी प्रगतिशील विचारधारा को उदारता के आचार-शास्त्र की ओर मोड़ दिया। उसने कहा कि एक ईसाई के जीवन की सार्थकता दूसरों का कल्याण करने में है। उसने यह भी कहा कि मानव को प्रसन्नतापूर्वक कल्याण-कार्य करने का अवसर प्राप्त करना चाहिए और इसे अपना परम सौभाग्य भी समझना चाहिए। यदि माथेर की कल्याणकारी उदारता में बड़प्पन की भावना से कार्य करने की प्रवृत्ति छिपी है, तो साथ ही उसमें जनकल्याण करने की इच्छा भी झलकती है। उसके विचार से मनुष्य का प्रेम केवल ईश्वर को ही नहीं, वरन् मानव-समाज को भी मिलना चाहिए। १८वीं शताब्दी के अधिष्ठातृ ईश्वरवादी अंग्रेज लेखकों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य की कल्याणकारी प्रवृत्ति, सृष्टि की ईश्वरीय व्यवस्था के ही अनुरूप है। उनके मत में ईश्वर विशेष व्यक्तियों अथवा विशेष घटनाओं पर ध्यान नहीं देता, बल्कि वह मनुष्य के कल्याण की विश्वव्यापी योजना बनाकर छुट्टी पा लेता है। यह तर्क बिशप जॉसेफ बटलर ( १६९२–१७५२ ), विलियम पैले ( १७४३–१८०५ ), विलियम वोलास्टन ( १६५९–१७२४) तथा नई विचारधारा के अमरीकी विचारकों की रचनाओं

में मिलता है। किंग्स कॉलेज (जिसका नाम बाद में कोलंबिया कॉलेज हुआ), के अध्यक्ष सेमुएल जॉन्सन ने कहा कि मनुष्य की सृष्टि चिरानन्द के लिए हुई है। मनुष्य का सुख और उसका कल्याण दृश्यजगत् की प्रकृति तथा उसकी यथार्थता से संवद्ध है और उनका परिणाम भी है। विश्व की रचना मनुष्य को सुख प्रदान करने के लिए हुई है। सृष्टि के स्वरूप में नैतिक स्तर भी निहित है।

जबकि बैंजामिन फ्रैंकलिन लन्दन में कम्पोजिंग का कार्य करता था, संयोग से उसे वोलास्टन की पुस्तक[1] कम्पोज करने को मिली। फ्रैंकलिन को इस पुस्तक में वोलास्टन की संतोषभरी आशावादिता देख कर एक खीझ हुई। उसने पुस्तक का मजाक उड़ाने के लिए एक दूसरी पुस्तिका[2] तैयार कर डाली। इस आलोचनात्मक पुस्तिका में फ्रैंकलिन ने आग्रह किया कि अच्छाई और बुराई के बीच भेद करने की जो कसौटी वोलास्टन ने बताई है, वह ठीक नहीं। फ्रैंकलिन ने अपने जीवन के आगे के कालम में इस पुस्तिका के प्रकाशन को एक गलत कदम स्वीकार किया, क्योंकि उसी के कथनानुसार उसमें अच्छाई और बुराई के बीच कोई भेद नहीं किया गया था।

फ्रैंकलिन ने उदारता और सेवा की नैतिकता के जिस दृष्टिकोण का विकास किया, वह कॉटन माथेर के बड़प्पन की भावना से प्रेरित उदारता से ठीक उल्टा था। फ्रैंकलिन ने अपनी किशोरावस्था में ही एक और पुस्तिका लिखी थी, जिसमें धनवान, कुलीन तथा आडम्बर वाले व्यक्तियों की त्रुटियों पर प्रकाश डाला गया था—उन्हीं व्यक्तियों की त्रुटियों पर, जिनकी माथेर संभवतः कभी आलोचना न करता। फ्रैंकलिन की उपर्युक्त पुस्तक बोस्टन में प्रकाशित हुई थी। बाद में फ्रैंकलिन ने फिलाडल्फिया में इसी वर्ग की आलोचना जारी रखी। उदारता द्वारा समाज को सुधारने के विषय में फ्रैंकलिन के विचार माथेर की अपेक्षा अधिक व्यापक थे। फ्रैंकलिन का जीवन स्वयं समाजसेवा की लौकिक भावना का प्रतीक था। उसके जीवन में ऐसी योजनाओं तथा कार्यक्रमों की भरमार थी, जिन पर अमल कर नागरिकों के विभिन्न वर्ग अपनी तथा अपने समाज की उन्नति कर सकते और ऐसा करने में उन्हें किसी धार्मिक सम्प्रदाय, किसी गिरजा अथवा किसी पादरी की भी आवश्यकता न पड़ती। बैंजामिन फ्रैंकलिन ने सच्चाई, सदाशयता और ईमानदारी को मनुष्य के दैनिक जीवन की आवश्यकताओं में स्थान

१. Wollaston : Religion of Nature Delineated.

२. Benjamin Franklin : A Dissertation on Liberty and Necessity, Pleasure and Pain.

दिया और कहा कि इनकी उपयोगिता किसी दूसरे लोक में नहीं, वरन् इसी लोक में है।

ज्ञान और प्रकाश के इस काल में ईसाई-धर्मावलम्बियों की दृष्टि से आवश्यक उदारता के सबसे उल्लेखनीय उदाहरण हमें फ्रेंड्स अथवा क्वैकर्स के बीच मिलते हैं। जहाँ तक फ्रेंड्स का संबंध है, एन्थोनी बेनीजेट तथा जॉन वूलमैन के नाम दासता के विरुद्ध उनके संघर्षों के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। वूलमैन की पत्रिका को दार्शनिक ग्रंथ तो नहीं कहा जा सकता ; फिर भी उसमें हमें प्रकाश-युक्त उदारता के व्यावहारिक परिणामों की झलक मिलती है। वूलमैन ने केवल दासता का ही नहीं ; बल्कि शोषण के आधार पर किए जाने वाले प्रत्येक श्रम का विरोध किया। अपनी एक पुस्तिका[1] में वूलमैन ने आर्थिक शोषण के प्रति अपने विरोध का दार्शनिक आधार बताया है। वूलमैन की विचारधारा इसलिए विशेषरूप से मनोरंजक है, क्योंकि उसमें धनियों के पास संपत्ति धरोहर के रूप में रहने के सिद्धांत तथा एक मानव के दूसरे मानव के प्रति प्रेम को संयत पूंजी-वाद की सराहना के साथ जोड़ने का प्रयास किया। वूलमैन के विचारानुसार पूंजीवाद को सामाजिक हस्तक्षेप के द्वारा नहीं, वरन् धार्मिक आत्मनियंत्रण के द्वारा संयत बनाया जा सकता है। वूलमैन ने एक आदमी के द्वारा दूसरे आदमी के शोषण को, चाहे यह शोषण दासता के रूप में हो अथवा अपर्याप्त वेतन पर काम करने वाले मजदूरों के रूप में हो, घोर अवांछनीय बताया और अपनी विचारधारा में क्वैकर-सम्प्रदाय के सहनशीलता, शांतिवादिता तथा अचल ईश्वर-निष्ठा के सिद्धान्तों से मतैक्य प्रकट किया। क्वैकर की गहरी ईश्वरनिष्ठा के ही समान वूलमैन भी ईश्वर से पथ-निर्देशन के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने में विश्वास करता था। वह आंतरिक प्रकाश से प्रेरणा प्राप्त कर जीवन व्यतीत करने के सिद्धांत पर चलने को भी स्वीकार करता था ; परन्तु वूलमैन की शांति-वादिता बैंजामिन फ्रैंकलिन की सक्रिय उदारता से उसी प्रकार भिन्न थी, जिस प्रकार क्वैकर का "आंतरिक प्रकाश" का सिद्धांत जोनेथन एडवर्ड्स के "दैवी तथा अलौकिक प्रकाश" के सिद्धांत से भिन्न था। एडवर्ड्स का दैवी प्रकाश मनुष्य की प्राकृतिक इंद्रियों में ईश्वर की दया से एक अतिरिक्त इन्द्रिय की वृद्धि करने के समान था। क्वैकर का 'आंतरिक प्रकाश' ईश्वर से एक सुनिश्चित क्षेत्र में प्रत्यक्ष प्रेरणा प्राप्त करना था, जिससे किसी विशेष परिस्थिति में कोई विशेष कार्य किया जा सके। जबकि एडवर्ड्स की विचारधारा मनुष्य में दैवी शक्ति की

१. Woolman : Remarks on Sundry Subjects.

स्थापना करती थी, वहाँ क्वैकर का आंतरिक प्रकाश मनुष्य के हृदय में मानवता की नींव रखता था। वूलमैन की विचारधारा इमर्सन (अध्याय ४, खंड २) की इस शिक्षा से मिलती थी कि ईश्वरीय सत्ता मानव-आत्मा से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करती है। मनुष्य को इस आंतरिक प्रेरणा की प्रतीक्षा और उसका अनुसरण करना चाहिए; क्योंकि यह संदेश मनुष्य को अपने हृदय में निवास करने वाली दैवी सत्ता से प्राप्त होता है।

फ्रैंकलिन की नैतिकता माथेर की प्यूरिटन नैतिकता का लौकिक संस्करण था। प्यूरिटन जीवनादर्श तथा प्यूरिटन विचारधारा का एक महत्त्वपूर्ण पहलू धार्मिक शासन-प्रणाली थी, जिसके आधार पर विचार-विनिमय होते-होते पहले अमरीकी क्रान्ति का और फिर बाद में अमरीकी स्वतंत्रता के सिद्धान्तों का विकास हुआ। विशुद्ध धार्मिक विचारधारा में फिर किस प्रकार एक विशुद्ध लौकिक राजनीतिक आदर्शों का विकास हुआ, इसका चित्र हमें जॉन वाइज के ग्रंथ[1] में मिलता है। इस ग्रंथ में, जैसा कि हम प्राक्कथन में देख चुके हैं, वाइज ने बोस्टन के पादरियों के सभी गिरजों को 'चर्च आव इंगलैंड' के नियंत्रण में लाने के प्रयास के विरुद्ध स्थानीय गिरजों की स्वाधीनता का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की थी। वाइज ने ग्रंथ के शुरू में अपनी मान्यता के पक्ष में धार्मिक तथ्य दिए हैं; किन्तु आगे जाकर वह मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों पर जोर देता है। परन्तु वाइज अपने तर्क को लोकतंत्री परिणाम तक नहीं ले जाता; बल्कि उससे सीमित राजतंत्र के नतीजे पर पहुँचकर ही संतोष कर लेता है। वाइज के ग्रंथ का महत्त्व यही है कि उसमें धार्मिक दृष्टिकोण को परित्याग कर प्राकृतिक नियम के आधार को अपना लिया गया है।

कुछ प्यूरिटनों ने जोनेथन मेह्यू की तर्कशैली का अनुसरण किया, जिसकी धार्मिक कट्टरता तो स्वीकार्य नहीं थी; किन्तु जिसकी राजनीतिक विचारधारा को पसंद किया जाता था। मेह्यू ने अपने एक प्रवचन में, जो इंग्लैंड के चार्ल्स प्रथम को प्राणदंड दिए जाने की १००वीं वर्षगांठ के अवसर पर दिया गया था, धार्मिक विचारधारा के मध्य क्रान्ति के अधिकार को प्रतिष्ठित कर दिया। मेह्यू का यह प्रवचन, जिसे जॉन एडम्स ने क्रान्ति की पहली तोप कहा, तर्क की शैली की दृष्टि से दोषहीन नहीं माना जा सकता; किन्तु राजनीतिक स्वेच्छाचारिता तथा राजाओं के ईश्वरप्रदत्त अधिकारों के सिद्धान्त के विरुद्ध वह एक बहुत प्रभावो-

---

१. John Wise: Vindication of the Government of New England Churches (1717).

त्पादक आह्वान सिद्ध हुआ। मेह्यू ने अपने इस प्रवचन में जॉन लॉक, जॉन मिल्टन, अल्जेर्नन सिडनी, राल्फ कडवर्थ, सैमुअल क्लार्क तथा फ्रांसिस हचेसन के विचारों से प्रेरणा ग्रहण कर उपर्युक्त परिणाम निकाला था।

मेह्यू ने अमरीका की राजनीतिक विचारधारा के विकास में सबसे उल्लेखनीय योगदान यह किया कि उसने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों के बीच क्रान्ति के अधिकार को भी प्रतिष्ठित कर दिया और धर्मग्रन्थों पर नई दृष्टि से विचार कर उसने इस स्थापना का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की। उसने प्रश्न उठाया कि क्या मनुष्यों के लिए अपने शासकों के समक्ष पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना आवश्यक है और क्या शासकों के आदेश की अवहेलना अथवा उनके प्रति कतिपय परिस्थितियों में अवरोध को न्यायोचित नहीं माना जा सकता ? मेह्यू ने जनता के इस प्राकृतिक अधिकार पर बल दिया।

मेह्यू ने अपने धार्मिक प्रवचनों के बीच राजनीतिक तथा नैतिक समस्याओं पर विचार प्रकट कर, दूसरे पादरियों तथा जनता के अन्यान्य लोगों को स्तम्भित कर दिया। ऐसा जान पड़ता है कि उसका इरादा ईश्वर की महिमा के स्थान पर, जो प्यूरिटन सम्प्रदाय की एक परम्परागत मान्यता थी, एक नैतिक तथा सामाजिक विचारधारा को स्थापित करने का था। इस परिवर्तन को लाने के लिए उसने ईश्वर की महिमा के स्थान पर उसके कल्याणकारी स्वरूप पर अधिक बल दिया और कहा कि मुक्ति किसी की अनुकम्पा पर निर्भर न होकर नैतिक संघर्ष का ही परिणाम होती है। विचारधारा में इस प्रकार का परिवर्तन लाने के परिणामस्वरूप वह अपने धार्मिक प्रवचनों के बीच विशिष्ट राजनीतिक समस्याओं पर अपने उदार विचारों की अभिव्यक्ति कर सका। उसने कहा कि सच्चे धर्म के अंतर्गत देश और स्वतंत्रता के प्रति प्रेम तथा सभी प्रकार के अत्याचार एवं उत्पीड़न के प्रति घृणा की भावना भी सम्मिलित हैं। यह उल्लेखनीय है कि अपने समय के अन्य धार्मिक अधिकारियों के बीच, मेह्यू की विचारधारा मानवीय गुणों से पूर्ण थी और उसमें लौकिकता का पुट भी कम नहीं था। उदाहरण के लिए उसने १७५४ में कहा कि समाज की उत्पत्ति मनुष्यों के द्वारा ही हुई। उसने कहा कि जनसमुदाय ने शासनाधिकारियों को शांति और समृद्धि बनाए रखने के लिए आवश्यक अधिकार प्रदान किए हैं। जिस उद्देश्य-पूर्ति के लिए शासनयंत्र की स्थापना हुई, उसकी पूर्ति करने में यदि वह असफल रहा, तो जनता को सरकार से विरोध करने तथा उसे अपदस्थ करने का अधिकार है। १७५० के अपने प्रसिद्ध प्रवचन में मेह्यू ने यही कहा था।

क्रांति के प्राकृतिक अधिकार ने क्रमश: अमरीकी क्रांति के विशिष्ट सिद्धांत का रूप धारण कर लिया । अमरीकी क्रांति के सिद्धांत का निरूपण कितने ही व्यक्तियों ने मिल कर किया था। इन लोगों में से प्रमुख थे, सेमुएल एडेम्स, जॉन एडेम्स, टामस जैफर्सन, अलेक्जेन्डर हैमिल्टन और टॉमस पेन। इन सभी के विचारों का विस्तृत विवेचन न कर, हम केवल उन्हीं विचारों को संक्षेप में उपस्थित करेंगे, जिन पर ये लोग और इनके साथी क्रान्तिकारी सहमत थे। अमरीकी क्रांति के सिद्धांत का सूत्रपात इस तर्क से हुआ कि अमरीकी उपनिवेश और ब्रिटेन ब्रिटिश सम्राटों के प्रति अपने कर्तव्यों के कारण परस्पर बंधन में आवद्ध हैं। जैसा कि हैमिल्टन ने कहा था, अमरीकी उपनिवेशों में ब्रिटिश शासकों के आदेशपत्रों के द्वारा---ब्रिटिश संसद् के द्वारा नहीं—भूमि दी गई थी, और इसलिए अमरीकी उपनिवेश संसद् के आदेशों को मानने के लिए बाध्य नहीं हैं। जैफर्सन ने इसी विचार को अपनी रचना " ब्रिटिश अमरीका के अधिकारों का संक्षिप्त दृष्टिकोण " में अमरीकी उपनिवेशों में रहनेवालों को " सम्राट् की ब्रिटिश प्रजा " कहा और यह तर्क उपस्थित किया कि ब्रिटिश संसद् जिस अधिकार का प्रयोग करेगी, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। चूँकि उपनिवेशों की प्रजा सम्राट् के प्रति राजभक्ति रखती है, संसद् के प्रति नहीं ; इसलिए उपनिवेशों पर कर लगाने का कार्य संसद् के लिए केवल अबुद्धिमत्तापूर्ण तथा अन्यायमूलक ही नहीं, बल्कि अनुचित भी है और इसके द्वारा ब्रिटिश संविधान के नियमों का भी उल्लंघन होता है।

इसके अलावा, अमरीकी उपनिवेशों के निवासियों ने यह तर्क भी दिया कि सम्राट् से उन्हें जो अधिकारपत्र मिले, उनके कारण उन्हें ब्रिटेन के नागरिकों के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। इनमें से एक अधिकार यह है कि उपनिवेशों की जनता पर वही संस्था कर लगा सकती है, जिसे इस जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। जॉन एडेम्स ने कहा कि उपनिवेशों को संसद् में प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त है और इस तरह यह परिणाम निकलता है कि संसद् में प्रतिनिधित्व के अभाव में अमरीकी जनता पर केवल अमरीकी उपनिवेशों की धारा-सभाएँ ही कर लगा सकती हैं।

१७७४ को कांग्रेस ने यह साहसपूर्ण घोषणा की कि अमरीकी उपनिवेशों के निवासियों को जीवन-व्यतीत करने, स्वाधीनता का उपभोग करने तथा सम्पत्ति रखने का अधिकार है और उन्होंने किसी प्रभुशक्ति को इनमें से किसी अधिकार को हस्तांतरित नहीं किया है। यह घोषणा करते समय कांग्रेस 'सामाजिक इकरार' के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान कर रही थी। इस सिद्धान्त के अनुसार कल्पना की

गई है कि नागरिक प्रशासन कायम होने से पूर्व, लोग प्राकृतिक अवस्था में रहते थे और इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के कुछ अधिकार थे। इन अधिकारों को प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए निर्धारित करता था और प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग भी करता था। यह प्रारम्भिक अराजकता की परिस्थिति थी ; किन्तु इसका परिणाम संतोषजनक नहीं निकला। इसलिए, पारस्परिक समझौते के द्वारा उन्होंने अपने कुछ अधिकारों को अर्पित कर एक अधिकारी संस्था अथवा नागरिक सरकार कायम की। यदि इस प्रकार कायम की गई सरकार समाज में सुरक्षा तथा स्थिरता कायम रखने में, जिसके लिए वह स्थापित की गई थी, असफल रही अथवा वह अपने अधिवेशनकारों का अतिक्रमण कर अत्याचार करने लगी, तो अपने द्वारा कायम की गई इस सरकार को क्रान्ति कर उलट देने तथा पुनः प्राकृतिक अवस्था में लौट जाने का लोगों को पूर्ण अधिकार है।

मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में किसी के अधीन नहीं होता और प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र तथा पूर्ण सत्ता-सम्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार-क्षेत्र तथा सत्ता समान होने से यह परिणाम निकलता है कि सभी बराबर हैं। कोई व्यक्ति विशेषाधिकारों को लेकर उत्पन्न नहीं होता। प्राकृतिक अवस्था में सभी व्यक्तियों के अधिकार होते हैं। इनमें से कुछ अधिकार सरकारों को दे दिए जा सकते हैं ; किन्तु अन्य अधिकार सरकारों को दिए नहीं जा सकते। ये न दिए जा सकने वाले अधिकार ही राजनीतिक अधिकारों की आधारशिला हैं। स्वतंत्रता की घोषणा में इन अधिकारों की जो व्याख्या की गई है, उससे सभी परिचित हैं। यदि हम इन अधिकारों को दूसरे शब्दों में प्रकट करें, तो शायद उनका अर्थ अधिक स्पष्ट हो सकेगा। न्यू हैम्पशायर राज्य के मूल अंतरिम संविधान में कतिपय प्राकृतिक आवश्यक तथा निहित अधिकारों की चर्चा की गई है, जिनमें अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार जीवन तथा सम्पत्ति का उपभोग एवं उनकी रक्षा कर सकने, सम्पत्ति प्राप्त करने, उसे रखने तथा उसकी रक्षा करने संबंधी अधिकार हैं, जिन्हें दूसरे शब्दों में सुख प्राप्त करने तथा उसका उपभोग करने की सुविधा कहा जा सकता है।

ज्ञान तथा प्रकाश के उस युग के नेताओं को प्रतीत हुआ कि किसी राजनीतिक समाज का एकमात्र आधार 'सामाजिक इकरार' का सिद्धान्त ही हो सकता है, जिसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हुआ कि समाज का प्रशासन उसकी इच्छा के अनुसार होना चाहिए। इकरार के स्वरूप के वर्णन करने का प्रयास नहीं किया

गया और न यही बताया गया कि 'सामाजिक इकरार' जैसी कोई ऐतिहासिक घटना वस्तुतः हुई भी थी। 'सामाजिक इकरार' के सिद्धान्त को स्वतः सिद्ध मान लिया गया ; क्योंकि जनता के अधिकारों का एकमात्र यही स्पष्टीकरण सम्भव था। यदि एक बार यह मान लिया जाता है कि प्रशासन यंत्र की स्थापना जनता की अनुमति से हुई, तो उससे अगला परिणाम यह निकलता है कि बनाए जाने वाले सभी कानूनों को किसी-न-किसी तरह की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। यह अनुमति प्रतिनिधि के द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है। यदि सरकार में जनता का प्रतिनिधित्व है, तो लोगों को एकत्र होकर निर्णय करना आवश्यक नहीं है। जॉन एडम्स ने कहा कि स्वतंत्र व्यक्ति वही है, जो किसी ऐसे कानून से बाध्य नहीं, जिस पर उसकी अनुमति नहीं ली गई हो।

उपर्युक्त राजनीतिक तथा नैतिक विचारधारा के पीछे मानव के स्वभाव तथा ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष कल्पनाएं थीं। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति को राजनीतिक निर्णय कर सकने के योग्य माना जा सका। १६वीं और १७वीं शताब्दियों में महान् वैज्ञानिक उन्नति हुई, जिसकी चरम परिणति विश्व के यांत्रिक सिद्धान्त ( न्यूटन के ) के रूप में हुई। इस सबका परिणाम यह हुआ कि दृश्य जगत् के जिन अनेक व्यापारों को पहले चमत्कार माना जाता था, उनका स्पष्टीकरण प्राकृतिक आधार पर किया जाने लगा। प्राकृतिक घटनाओं को समझाने के लिए ईश्वर को लाने की आवश्यकता कम होती गई और ईश्वर की आवश्यकता घटने के कारण मनुष्य की ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना में भी परिवर्तन हुआ। ईश्वर-वादी परम्परा में ईश्वर की मानवीय कल्पना हटने लगी और उसके निराकार होने की कल्पना को प्रोत्साहन मिला। इसी प्रकार जैसे-जैसे दृश्य जगत् के रहस्यों का उद्घाटन होता गया, वैसे-वैसे मनुष्य का विश्वास ज्ञान की प्राप्ति तथा उसका उपयोग करने की अपनी क्षमता में भी बढ़ता गया। वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति होने का मार्ग खुल गया था और वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से प्रकृति के सभी रहस्यों का उद्घाटन होने की आशा जाग्रत हो चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे दृश्य जगत् के सभी व्यापारों को समझना तथा उन पर नियंत्रण प्राप्त कर लेना असम्भव नहीं। साधारण जन के लिए अब उस संस्था अथवा व्यक्ति से सम्बन्ध बनाए रखना आवश्यक नहीं रह गया, जिसका ईश्वर से विशेष सम्बन्ध माना जाता था। सच तो यह था कि नई स्थिति में राजे और पादरी दोनों ही अनावश्यक हो गए। खुली आंखें और क्रियाशील मस्तिष्क—ज्ञान का प्रकाश—अब प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ थे और यही अच्छे जीवन की गारंटी थे।

पराम्परागत संस्थाओं के विरुद्ध विरोध तथा मानव-बुद्धि पर बढ़ती हुई निर्भरता के ढाँचे का व्यावहारिक पहलू अमरीकी इतिहास के इस काल में खूब दिखाई देता है। इसके विकास का दिग्दर्शन हम अमरीकी क्रान्ति तथा अमरीकी ज्ञान के तीन प्रमुख प्रतिनिधियों की चर्चा के रूप में करेंगे। ये तीन प्रतिनिधि हैं—टामस जैफर्सन, टामस पेन और बेंजामिन रश।

# प्रबुद्ध राजनीति : टामस जैफर्सन

अमरीका में ज्ञान तथा प्रकाश के विचारों की जैसी स्पष्ट और पूर्ण झलक हमें टामस जैफर्सन की विचारधारा तथा जीवन में मिलती है, वैसी उस काल के शायद ही किसी दूसरे व्यक्ति की विचारधारा और जीवन में मिल सके। सच तो यह है कि जैफर्सन के जीवनचरित्र के अध्ययन से तात्कालिक ज्ञान तथा प्रकाश की विचारधारा से परिचय स्वयमेव हो जाता है। जैफर्सन ने लगभग अर्द्ध शताब्दी तक वकालत का पेशा किया और उसमें से लगभग चालीस वर्ष तक राजनीति में भाग लिया। इसके अलावा अनेक विषयों तथा शिल्पों में उसकी दिलचस्पी थी। वह एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक, अखिल अमरीकी दार्शनिक संस्था का सदस्य, एक सफल किसान, एक आविष्कारक, एक ख्याति-प्राप्त भवन-निर्माता तथा अपने समय का एक परम आदरणीय नेता था। अपने राज्य वर्जीनिया तथा संघ-सरकार में उसने उच्चतम पदों को सुशोभित किया और अपनी योग्यता के लिए जनता का सम्मान प्राप्त किया।

जैफर्सन ने अपनी समाधि पर लगाई जाने वाली शिला पर अंकन करने के लिए देश के प्रति अपनी तीन सबसे महत्त्वपूर्ण सेवाओं को स्वयं चुना था। जैफर्सन ने कहा कि अमरीका की जनता को उसे स्वतंत्रता की घोषणा के लेखक के रूप में, वर्जीनिया राज्य के धार्मिक स्वाधीनता विधेयक का मसविदा बनाने वाले के रूप में और वर्जीनिया विश्वविद्यालय के संस्थापक के रूप में स्मरण करना चाहिए।

जैफर्सन एक पेशेवर दार्शनिक नहीं था और इसीलिए उसकी दार्शनिक विचारधारा क्रमबद्ध रूप में सुलभ नहीं है। मानव और समाज की प्रकृति तथा आचार-शास्त्र, राजनीति और धर्म पर उसके विचारों को इधर-उधर बिखरे हुए, उसके सरकारी कागजों तथा विस्तृत पत्र-व्यवहार से लेकर संकलित करना पड़ता है। इस बिखरी हुई सामग्री को एक स्थान पर एकत्र करने के बाद ही पता चलता है कि जैफर्सन ने संयुक्त राष्ट्र अमरीका के विकास के लिए अपनी बहुसंख्यक सेवाओं

के बीच उपर्युक्त तीन देनों को ही सबसे अधिक महत्त्व क्यों दिया था। इसे समझने के लिए हमें सबसे पहले जैफर्सन के जीवन-सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करना होगा।

अपने समय के अन्य अमरीकी विचारकों के समान ही जैफर्सन, उस विचार-धारा से गहरा प्रभावित हुआ था, जिसका सूत्रपात न्यूटन ने किया था। उसका विश्वास था कि प्रकृति तथा मनुष्य के स्वभाव की विशेषताओं का ज्ञान वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और फिर इस ज्ञान से मानव-समाज को भी लाभान्वित किया जा सकता है। जैफर्सन का दृष्टिकोण मुख्य रूप से व्यावहारिक ही था। किसी सुंदर वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक सिद्धांत की उपयोगिता जैफर्सन की दृष्टि में उसी सीमा तक थी, जिस सीमा तक मानव-जीवन पर उसे लागू किया जा सकता अथवा उसके द्वारा मनुष्य के सुख में वृद्धि की जा सकती। जैफर्सन प्रयोग करने में विश्वास रखता था। वह ऐसे किसी सिद्धांत को सही नहीं मानता था, जो परीक्षण की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता था; इसलिए कहा जा सकता है कि विरोधियों ने जैफर्सन की जो आलोचनाएँ कीं, उनमें सबसे अनुचित आलोचना यह थी कि वह कल्पना के जगत् में रहता था।

कल्पना-जगत् में रहने वाला विचारक, जिसे अपने सिद्धान्त के व्यावहारिक पहलू की चिन्ता नहीं होती, अपने परिणामों को निगूढ़ तथा निरपेक्ष भाषा में व्यक्त करता है। जैफर्सन रूढ़िवादिता का विरोधी था। वह जो कुछ कहता प्रयोग-वादी दृष्टि से कहता था और परिणाम पर उसकी दृष्टि रहती थी। इसलिए उसने दावा किया कि लोकतंत्र अमरीका में एक व्यावहारिक शासन-प्रणाली हो सकती है; किन्तु केवल इसी प्रणाली को व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। जैफर्सन ने कहा कि किसी जन-समुदाय के लिए शासन-प्रणाली की उपयुक्तता इस बात पर निर्भर करती है कि वह जन-समुदाय किन परिस्थितियों में रहता है और कोई सरकार उसी मात्रा में सफल मानी जा सकती है, जिस मात्रा में वह शासितों के अनुकूल अपने को बना पाती है। यद्यपि जैफर्सन ने तात्कालिक व्यावहारिक आवश्यकताओं के संबंध में इस प्रकार का व्यावहारिक दृष्टिकोण ग्रहण किया, फिर भी उसे पूर्ण सापेक्षवादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके मतानुसार कुछ निरपेक्ष तथा पूर्ण सत्य भी होते हैं, जो मनुष्य का पथ-प्रदर्शन करते हैं। उसने स्वीकार किया कि विज्ञान की प्रगति के कारण उन आदर्शों की ओर प्रगति अनिवार्य है। सभी मनुष्यों में सहज बुद्धि स्वाभाविक रूप से होती है; किन्तु विभिन्न अधिकारियों द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों के कारण लोग उस सहज बुद्धि का उपयोग करने के योग्य नहीं हो पाते। जैफर्सन ने अनुभव किया कि इन

प्रतिबंधों के एक बार हटाए जाते ही विज्ञान, कला, मानवीय सम्बन्धों और प्रशासन में उन्नति की गति इतनी तीव्र हो जायगी कि मनुष्य तर्क के अनुसार चलने लगेगा।

मनुष्य जिस अवस्था में अपनी विवेक-बुद्धि से प्रेरित होते है, उसे जैफर्सन ने सुख कहा है। उसके अनुसार नैतिक जीवन का लक्ष्य सुख है। उसका यह भी विश्वास था कि मनुष्य की सात्त्विक प्रवृत्ति और स्वार्थ परस्पर सम्बन्धित है और यदि मनुष्य स्वार्थ के वशीभूत होकर सुख की तरफ अग्रसर होगा, तो इससे सामाजिक लाभ भी होगा। जैफर्सन का यह भी विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति नैतिक पृष्ठभूमि के साथ उत्पन्न होता है, जिसमें कमी को विवेक-बुद्धि के विकास के द्वारा दूर किया जा सकता है। इस प्रकार, नैतिक दृष्टिकोण अंत:करण की कोई ऐसी भावना नहीं है, जिससे मनुष्य को सत् अथवा असत् का ज्ञान हो सकता हो ; बल्कि वह विवेक-बुद्धि का एक परिणाम है, जिसके द्वारा कतिपय कार्यों की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता प्रकट हो जाती है। जैफर्सन ने कहा कि प्रकृति ने गुण अथवा अवगुण का मूल्यांकन करने के लिए उपयोगिता को हमारा मानदंड बनाया है। यद्यपि जैफर्सन के शब्द नैतिक भावना (Moral Sense) का प्रयोग अंग्रेज लेखकों ने अपने आचार-शास्त्र-सम्बन्धी साहित्य में किया ; फिर भी दोनों के प्रयोग में भिन्नता है। अंग्रेज-लेखकों के लिए नैतिक भावना का मतलब नैतिकता के निरपेक्ष नियमों से था ; किन्तु जैफर्सन का आशय इससे उपयोगिता अथवा अवसरवादिता-सम्बन्धी सापेक्ष निर्णयों से था। "विभिन्न देशों, विभिन्न परिस्थितियों तथा विभिन्न आदतों में रहने वाले व्यक्तियों का उपयोगिता के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण हो सकता है और इसलिए कोई कार्य किसी एक देश में अच्छा और लाभकर माना जा सकता है, तो वही कार्य किसी दूसरे देश में हानिकर तथा बुरा माना जा सकता है।"

जैफर्सन का विश्वास था कि अधिकांश मामलों में विवेक-बुद्धि की प्रेरणा मनुष्यों को ऐसे कार्यों की ओर प्रवृत्त करेगी, जिनका परिणाम सुखकर ही होगा। वह कभी-कभी "अच्छे और बुरे कर्मों का भविष्य में प्रतिफल मिलने की भी चर्चा करता था"; किन्तु साधारण तौर पर वह इस धार्मिक विश्वास पर बल नहीं देता था कि अच्छे कर्मों का आगे जा कर सुफल प्राप्त होता है। कम-से-कम कुछ अंशों में जैफर्सन मानव-प्रकृति के प्रति आशावादी दृष्टिकोण ग्रहण कर, नैतिक आचरण के सम्बन्ध में मनुष्य को आगे जाकर पुरस्कार अथवा दंड मिलने की भावना से बचाए रखने में सफल हो सका था। जैफर्सन ने १८१६

में डुपो डि नेमर्स को अपना यह विश्वास प्रकट किया था कि "नैतिकता, करुणा और उदारता मानव-स्वभाव के सहज तत्त्व हैं।" इस प्रकार मानव-प्रकृति स्वभाव से अच्छी है, बुरी नहीं। मानव की असत् प्रवृत्तियाँ अपवाद हैं, साधारण नियम नहीं। यदि ऐसा है, तो कुमार्ग पर चलने वाले को सुमार्ग पर लाने के लिए दैवी भय दिखाने की आवश्यकता नहीं है और केवल शिक्षा तथा विवेक-बुद्धि की प्रेरणा से ही ऐसा हो सकता है।

इस तरह जैफर्सन का राजनीतिक सिद्धान्त इस मान्यता को लेकर चला कि समाज में रहने वाला मनुष्य स्वभाव से अच्छा और विवेकशील है। अपने समय के अन्य राजनीतिक विचारकों की भाँति जैफर्सन प्रशासन-व्यवस्था को मनुष्य की कृति मानता था। इसकी सृष्टि मनुष्यों ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए की। प्रशासन-व्यवस्था का उद्देश्य नागरिकों के लिए सुख की प्राप्ति है। यदि सरकारें उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करतीं, जिसके लिए उनकी रचना की गई, तो नागरिकों को उन्हें उलट देने और उनके स्थान पर ऐसी नई सरकारें स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है, जो मूल उद्देश्य की पूर्ति कर सकें। स्वतंत्रता की घोषणा में जैफर्सन ने अपने समस्त देशवासियों की तरफ से क्रान्ति के सिद्धान्त का संयमित, किन्तु सुदृढ़ भाषा में प्रतिपादन किया। इसमें उसने कहा कि मनुष्यों को केवल अधिकारों के गम्भीर तथा दीर्घकालीन दुरुपयोग के लिए ही विद्रोह कर सरकार को उलटना चाहिए ; परन्तु जैफर्सन का निजी दृष्टिकोण इस सामान्य स्थिति से कहीं आगे बढ़ा हुआ था। उसका विचार था कि शासन-यंत्र के सुस्वास्थ्य के लिए विद्रोह दवा के समान आवश्यक है। उसने १७८७ में विलियम एस० स्मिथ को लिखा कि "ईश्वर न करे कि बीस वर्ष की कोई अवधि विद्रोह के बिना गुजरे ; क्योंकि स्वाधीनता के पौधे को बढ़ने के लिए समय समय पर अत्याचारियों तथा देश-भक्तों के रक्त की आवश्यकता होती है। यह उसके लिए प्राकृतिक खाद का काम करता है।"

जैफर्सन की राजनीतिक विचारधारा में क्रान्ति का अधिकार इस मान्यता का परिणाम है कि सरकारें मनुष्य की ही कृति हैं। मनुष्यों ने सरकारों की स्थापना अपनी स्वाधीनता की रक्षा तथा अपने सुख की अभिवृद्धि के लिए की। उसने लिखा--"प्रत्येक वैध सरकार का एकमात्र उद्देश्य यही है कि मनुष्य स्वाधीन और सुखी रहे" और इस बात पर बल दिया कि वह जो कुछ भी कहता है, इसमें उसका उद्देश्य स्वाधीनता की पुष्टि करना होता है। आंशिक रूप में मनुष्य की स्वाधीनता उसके प्राकृतिक अधिकारों में निहित है। स्वतंत्रता की घोषणा

के अनुसार ये अधिकार जीवन की रक्षा, स्वाधीनता तथा सुख की प्राप्ति थे ; परन्तु जैफर्सन के विचारानुसार प्राकृतिक अधिकारों का क्षेत्र यहीं सीमित नहीं हो जाता। जैफर्सन ने अपनी व्यापक विचारधारा में प्राकृतिक अधिकारों के बीच विचारों की स्वाधीनता, धर्म की स्वाधीनता, भाषण की स्वाधीनता, संवाद-वहन की स्वाधीनता, प्रेस की स्वाधीनता, व्यापार की स्वाधीनता और निजी स्वाधीनता को भी स्थान दिया। यहाँ तक कि स्वशासन को भी जैफर्सन ने प्राकृतिक अधिकार माना और कहा कि "मनुष्यों के लिए जन्म लेने के साथ ही वह उन्हें प्रकृति से मिलता है।"

जैफर्सन का विश्वास था कि इन प्राकृतिक अधिकारों के अलावा मनुष्यों के सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार भी होते हैं, जैसे सम्पत्ति का अधिकार ; परन्तु एक तरह से ये सीमित अधिकार ही होते हैं। मनुष्यों को ये अधिकार "उसी सीमा तक सुलभ हैं, जिस सीमा तक वे उसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों के अधिकारों पर हावी नहीं होते।" दूसरे लेखक कुछ ऐसे अधिकार भी मानते थे, जिन्हें स्वीकार करने के लिए जैफर्सन तैयार नहीं था। १८वीं शताब्दी के कट्टरपंथी तथा प्रतिक्रियावादी विचारकों ने अधिकारों की भाषा को उदार विचार वालों के ही समान हृदयंगम कर लिया था। जैफर्सन ने इन लोगों के अधिकार सम्बन्धी दावों के विरोध में दृढ़तापूर्वक इस तथ्य पर बल दिया कि किसी व्यक्ति को दूसरे के अधिकार का अतिक्रमण करने का अधिकार नहीं है, किसी व्यक्ति को ऐसे मामले का निर्णय करने का भी अधिकार नहीं, जिसमें कि वह स्वयं एक पक्ष हो ; किसी व्यक्ति को दूसरे पर अत्याचार करने का प्राकृतिक अधिकार नहीं है और किसी व्यक्ति को एकाधिकार का भी प्राकृतिक अधिकार नहीं है।

जैफर्सन ने प्राकृतिक अधिकार का उपयोग यह सिद्ध करने के लिए भी किया कि एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को किसी बात के लिए बांध नहीं सकती। जैफर्सन के राजनीतिक सिद्धान्त ने एडमंड बर्क-जैसे कट्टरपंथी विचारकों के विचार को चुनौती दे दी। कट्टरपंथी विचारकों की, जिनमें अधिकांश वकील थे, यह मान्यता दी कि एक पीढ़ी के समय में स्वीकृत नियम परम्पराओं अथवा नजीरों के रूप में बाद की सभी पीढ़ियों के लिए भी मान्य होनी चाहिए। जैफर्सन ने तर्क उपस्थित किया कि यदि इस स्थिति को मान लिया जाय, तो पृथ्वी पर जीवित व्यक्तियों के स्थान पर मृतकों का अधिकार होना चाहिए। उसने यह भी कहा कि प्रत्येक पीढ़ी के समय में पृथ्वी रेहन के रूप में रहती है। जब एक पीढ़ी

समाप्त हो जाती है, तो रेहन स्वयमेव दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित हो जाता है और यह रेहन नई पीढ़ी को बिना किसी बंदिश के प्राप्त हो जाता है। इस तरह, प्रत्येक पीढ़ी अपने जीवन-भर भूमि का उपयोग बिना किसी प्रतिबन्ध के करने के लिए स्वतंत्र है ; परन्तु अगली पीढ़ी को यही भूमि बिना किसी प्रतिबन्धों के मिलती है। १८२३ तक जैफर्सन की यह कानूनी व्याख्या स्वयंसिद्ध तथ्य के रूप में स्वीकार की जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि जैफर्सन इसे एक ऐसा विवादहीन तथ्य मानने लगा, जिसकी सफाई देना स्वयं उसे अनावश्यक जान पड़ने लगा।

जैफर्सन एक तरफ स्वशासन के अधिकारों को मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों के बीच स्थान देता है, तो दूसरी तरफ कुछ अन्य प्रसंगों में वह स्वशासन को प्रयोग के रूप में जारी करना चाहता है। दूसरे शब्दों में, जैफर्सन के साहित्य में हमें स्वशासन का विचार दो विभिन्न तरीकों से व्यक्त किया हुआ मिलता है। दो प्रकार की उक्तियों का भी कारण था। जैफर्सन दो विभिन्न कार्य करने का इरादा रखता था। एक तरफ वह सभी प्रकार के प्रशासन के लिए एक आदर्श उपस्थित करना चाहता था और दूसरी तरफ वह संयुक्त राष्ट्र अमरीका के लिए एक व्यावहारिक कार्यक्रम देना चाहता था। इस प्रसंग में जैफर्सन के निम्न शब्द उल्लेखनीय हैं—"प्रशासन की विभिन्न प्रणालियों में सर्वोत्तम वह प्रणाली है, जिसमें जनता अपने अधिकार से अपना प्रशासन करती है। यह माना गया है कि यह आदर्श अप्राप्य है ; क्योंकि लोग अपना शासन आप चलाने की क्षमता नहीं रखते। संयुक्त राष्ट्रों में यह कहने के स्थान पर कि यह आदर्श अप्राप्य है, हम लोग यह सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं कि स्वशासन सम्भव तथा व्यावहारिक है।"

यही कारण है कि जैफर्सन ने अपने से पहले के राजनीतिक दार्शनिकों के विचारों को अस्वीकार कर दिया था। "प्रतिनिधिक लोकतंत्र के सिद्धान्त का उदय होने पर शासन-व्यवस्था स्थापित करने के क्षेत्र में जो कुछ भी पहले कहा गया था, वह एक प्रकार से व्यर्थ हो गया। लोकतंत्र की सम्भाव्य सफलता के विषय में पिछले लेखकों को यह मान कर चलना पड़ता था कि लोकतंत्री शासन तभी सम्भव है, जब निर्णय करने में सभी नागरिक स्वयं और सीधे भाग लें। अमरीकी प्रयोग में प्रतिनिधिक शासन प्रणाली को प्रविष्ट कर, पुरानी मान्यता को अनावश्यक करार कर दिया गया और साथ ही यह भी कहा गया कि जिन देशों में प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली चालू नहीं हुई है, उनकी परिस्थिति का अध्ययन कर अमरीकी प्रयोग पर निर्णय नहीं किया जा सकता।

जैफर्सन प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली का परीक्षण पूरी तरह किए जाने के पक्ष में था। उसने कहा कि इस प्रयोग का पूर्ण परीक्षण तभी सम्भव है, जब स्वेच्छाचारितापूर्ण प्रशासन का अन्तिम चिह्न भी अमरीका में न रहे। अमरीका में स्वेच्छाचारिता के अवशेष का अन्त करने के लिए जैफर्सन ने यह भी कहा कि वही शासन-प्रणाली सर्वोत्तम है, जो कम-से-कम शासन करे।

जैफर्सन ने यह भी कहा कि वह अधिक शक्तिशाली सरकार के पक्ष में नहीं है। उसका मत था कि ऐसी सरकार हमेशा अत्याचारी होती है और जनता के विरुद्ध वह शासकों का पक्ष लेती है। जैफर्सन की मृत्यु के २५ वर्ष बाद हैनरी थोरू ने उसके विचारों का विश्लेषण करते हुए कहा कि सर्वोत्तम सरकार वही है, जो प्रशासन बिल्कुल नहीं करती। इस प्रसंग में जैफर्सन ने शिक्षा की आवश्यकता पर भी जोर दिया। उसने कहा कि देश में शान्ति बनाए रखने के लिए सरकार को अतिरिक्त दमनकारी अधिकार देने की अपेक्षा लोगों में शिक्षा का प्रचार करना कहीं अच्छा है। लोगों में शिक्षा का प्रचार होने से उन्हें पता चलेगा कि शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखना स्वयं उन्हीं के हित में है और यह अनुभव होने पर वे शान्ति बनाए भी रखेंगे।

यह ठीक है कि जनता का निर्णय ही कार्यान्वित होना चाहिए ; किन्तु यदि लोगों में निर्णय करने की क्षमता का अभाव है, तो हमें उन्हें स्वशासन के अधिकार से नहीं वंचित करना चाहिए। इसके स्थान पर हमें प्रशिक्षित कर, इतना सक्षम बना देना चाहिए, जिमसे निर्णय करने में समर्थ हो सकें। जैफर्सन के समय में यूरोप में, ऐसी परिस्थितियों का अभाव नहीं था, जिनसे प्रमाणित होता था कि जनता के निर्णय राजाओं तथा मंत्रियों के निर्णय से घटकर नहीं होते। जैफर्सन ने कहा—" पिछली २० पीढ़ियों में ऐसा एक भी राजा नहीं हुआ, जिसमें औसत व्यक्ति से अधिक विवेक-बुद्धि हो। वे तो अधिक-से-अधिक यही कर सकते हैं कि निर्णय करने की जिम्मेदारी मंत्रियों पर छोड़ दें ; किन्तु आखिर मंत्री कैसे होते हैं ? उनका चुनाव ठीक तरह नहीं हो पाता। यदि कभी राजा मंत्रियों के निर्णयों में हस्तक्षेप करता है, तो ऐसा वह केवल हानि पहुँचाने के लिए ही करता है।"

जैसा कि हम देख चुके हैं, जैफर्सन के मानव प्रकृति में विश्वास ने उसे राजाओं तथा मंत्रियों के अधिकारों के विरुद्ध व्यक्ति की स्वाधीनता के अधिकार की पुष्टि के लिए प्रेरित किया। इसी कारण उसके इस विश्वास को भी बल मिला कि कोई भी व्यक्ति पादरी की सहायता के बिना धार्मिक तथा राजनीतिक प्रश्नों पर विचार कर सकता है और ऐसे परिणामों पर पहुँच सकता है, जिनसे

कम-से-कम उसके अन्तःकरण को तो संतोष हो ही सकता है और साथ ही वह आगे जाकर चिरंतन सत्य पर भी पहुंच सकता है। १८०० में जब जैफर्सन अमरीका के राष्ट्रपति पद का उम्मेदवार था, तो कट्टरपंथी पादरियों ने धार्मिक क्षेत्र में उसके उदार दृष्टिकोण की कटु आलोचना की। जैफर्सन ने उन्हें उत्तर देते हुए लिखा—"मैंने दैवी वेदी पर मानव-मस्तिष्क के विरुद्ध किए जाने वाले अत्याचार को उन्मूलन करने के लिए शपथ ली है।" जैफर्सन का यह एक वाक्य स्वाधीनता के प्रति उसकी विचारधारा को धर्म, राजनीति और शिक्षा के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप से उपस्थित करता है।

वर्जीनिया राज्य में धार्मिक स्वाधीनता को स्थापना के लिए जिस कानून का मसविदा बनाया था, उसकी पहली धारा में ही उसने अपना पक्ष उपस्थित करते हुए घोषणा की कि ईश्वर ने मनुष्य के मस्तिष्क को स्वच्छंद बनाया है। यदि इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाता है, तो मनुष्य द्वारा अपने मस्तिष्क के उपयोग पर सीमाएं लादने का किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के किसी समूह को, चाहे यह समूह पादरियों का हो अथवा राज्य के अधिकारियों का हो, अधिकार नहीं है। यदि मनुष्यों द्वारा अपने विवेक-बुद्धि द्वारा निकाले गए परिणामों के कारण शान्ति और व्यवस्था खतरे में पड़ती है, तो सरकार उस अवस्था में हस्तक्षेप कर सकती है। "सरकार को केवल उन्हीं कार्यों में हस्तक्षेप का अधिकार है, जिनमें दूसरों को हानि पहुंचने की सम्भावना हो ; परन्तु यदि मेरा पड़ोसी यह कहे कि ईश्वर २० हैं अथवा ईश्वर है ही नहीं, तो इससे मेरी कोई हानि नहीं होती। इससे न मेरा जेब कटता है और न मेरी टांग टूटती है।" इसलिए किसी विशेष प्रकार की धार्मिक प्रणाली का समर्थन नागरिकों से प्राप्त करना अथवा अपने धार्मिक विचारों के लिए किसी व्यक्ति को नागरिक अधिकारों से वंचित करना, सरकार के कर्तव्य-क्षेत्र के भीतर नहीं आता। इसके विपरीत सरकार का कर्तव्य यह देखना है कि सभी व्यक्ति अपना धार्मिक विश्वास रख पाते हैं और धार्मिक विषयों में तर्क के द्वारा अपनी विचारधारा को कायम रख सकते हैं और अपनी इस मान्यता के लिए उनके नागरिक पद पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

सत्य तो यह है कि जैफर्सन ने स्वाधीनता के लिए जितनी चिन्ता प्रकट की, उतनी समानता के लिए नहीं। जैफर्सन विशुद्ध समानतावादी तो नहीं था ; किन्तु वह यह अवश्य मानता था कि प्रत्येक पीढ़ी में एक जैसा अवसर सभी को मिलना चाहिए। एक पीढ़ी के भीतर अवसर की समानता को लाने के लिए जैफर्सन

ने वर्जीनिया राज्य में इस कानूनी परम्परा को तोड़ने के लिए आन्दोलन चलाया कि भू-सम्पत्ति का पैत्रिक अधिकार केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही मिले और भू-सम्पति को टुकड़े-टुकड़े कर न बेचा जाय। अवसर की समानता लाने के लिए जैफर्सन ने दूसरी जिस बात पर जोर दिया, वह शिक्षा थी। उसके विचार में प्रत्येक बालक को अपनी विवेक-बुद्धि के विकास का पूरा अवसर मिलना चाहिए, चाहे बालक का परिवार निर्धन ही क्यों न हो। शिक्षा का लाभ केवल धनी वर्ग तक सीमित नहीं रहना चाहिए। अपने इस विश्वास के अनुरूप जैफर्सन ने शिक्षा की एक ऐसी योजना बनाई, जिसके अन्तर्गत स्कूली कक्षाओं से कालेज तक की शिक्षा प्रत्येक बालक के लिए सुलभ हो सके। जैफर्सन ने जिस वर्जिनिया विश्वविद्यालय की स्थापना की, उसने इस विषय में पथ-प्रदर्शन किया। इसमें ऐसी व्यवस्था की गई कि क्षमता रखने वाले विद्यार्थी कालेज की शिक्षा अबाधित रूप में प्राप्त कर सकें।

जैफर्सन का यह विचार नहीं था कि प्रत्येक पीढ़ी का प्रत्येक बालक समान रूप से गुणी एवं मेधावी होता है ; परन्तु वह विशिष्ट वर्ग के विचार का विरोधी नहीं था, जिसका मतलब यह हुआ कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा नेतृत्व करने के अधिक योग्य होते हैं। जैफर्सन केवल इसी बात का विरोधी था कि कुछ लोग उच्च अथवा धनी-कुल में उत्पन्न होने के ही कारण विशिष्ट वर्ग के कहला सकते हैं। १७८६ में जैफर्सन ने कहा कि अमरीका में मनुष्य और मनुष्य के बीच केवल एक ही भेद स्वीकार किया गया है और वह यह है कि एक वर्ग में अधिकारी लोग हैं और दूसरे वर्ग में गैर-अधिकारी लोग। जैफर्सन का विश्वास था कि लोग स्वतंत्र चुनाव के द्वारा बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करते हुए केवल वास्तव में अच्छे तथा बुद्धिमान व्यक्तियों को ही विशिष्ट पदों के लिए चुनेंगे।

यद्यपि जैफर्सन विभिन्न वर्गों के मध्य भेद नहीं करता था ; फिर भी वह पेशों-सम्बन्धी भेद को मानता था। उसका विश्वास था कि लघु किसान अमरीकी लोकतंत्र की रीढ़ है। जैफर्सन ने एक स्थान पर कहा था कि व्यापारी, पादरी तथा वकील अपनी विचारधारा के कारण पूरी तरह वफादार नहीं हैं। वे अमरीकी संविधान की तुलना में इंगलैंड के तथा अन्य देशों के राजतंत्र को पसन्द करते हैं। व्यापारी किसी देश के नहीं होते, वे अपने मुनाफे के होते हैं। पादरी स्वेच्छाचारी नरेशों से साठ-गाँठ में रहते हैं। यद्यपि वकील लोकतंत्र के प्रति उदार भावना रखते हैं ; फिर भी जिस प्रकार के साहित्य को पढ़ने के वे अभ्यस्त होते हैं, उसके परिणामस्वरूप अधिकांश युवा वकील कट्टरपंथी दल में शामिल

होते हैं। इन सब के विपरीत किसान लोकतंत्र के प्रति अचल आस्था रखते हैं। कोई-कोई किसान भले ही भ्रष्ट दिखाई दें ; किन्तु किसानों का वर्ग सामूहिक रूप से भ्रष्ट नहीं होता। किसान अपनी भूमि तथा अपने श्रम पर निर्भर करते हैं और इसलिए वे दूसरे वर्गों की अधीनता में रहना पसन्द नहीं करते।

जैफर्सन ने भविष्यवाणी की कि जब तक कृषि अमरीका का मुख्य पेशा रहेगा, तब तक उसमें सात्त्विक वृत्तियों एवं लोकतंत्र का प्रभाव बना रहेगा। उसने यह भी कहा कि जब अमरीका में लोग यूरोप की तरह शहरों में ठुसे हुए रहना आरम्भ कर देंगे, तब वे यूरोप की तरह ही भ्रष्ट हो जायेंगे और यूरोप की तरह ही एक दूसरे को निगल जाने की चेष्टा करने लगेंगे। जैफर्सन जिस प्रकार किसानों को समाज का स्वस्थ एवं ईमानदार अंग मानता था, उसी प्रकार वह शहरों की भीड़ को समाज का रोगग्रसित अंग कहता था। जैफर्सन उत्पादन करने वाले उद्योगों को एक विशेष सीमा के भीतर रखने के पक्ष में था और चाहता था कि अमरीका कच्चा माल यूरोप भेजे, जहाँ उससे वस्तुएँ तैयार की जायें। वह अनाज यूरोप भेजे, जिससे कारखानों में काम करने वाले श्रमजीवी वर्ग का पोषण हो। जैफर्सन का विश्वास था कि इस प्रकार की नीति का आर्थिक परिणाम चाहे जैसा होता ; किन्तु इसका नैतिक परिणाम अच्छा ही हुआ होता। जैफर्सन के विचार में किसानों का समाज आदर्श वर्गहीन समाज है।

जैफर्सन की इस पृष्ठभूमि का ध्यान रखने पर यह समझ में आ जाता है कि उसने क्यों स्वतंत्रता की घोषणा, धार्मिक स्वाधीनता स्थापित करने का कानून तथा वर्जीनिया विश्वविद्यालय की स्थापना को अपने जीवन की तीन महानतम सफलताएँ माना था। अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा, राजनीतिक स्वाधीनता के प्रति जैफर्सन की जीवन-व्यापी साधना का प्रतीक है। इसमें उसका उद्देश्य एक ऐसे संसार की रचना था, जिसमें सरकारी अत्याचार के लिए स्थान नहीं रहेगा। जैफर्सन की दूसरी देन ने राज्य तथा धर्म के पृथक्करण का आधार तैयार किया, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य का मस्तिष्क धर्माधिकारियों के बोझ से छुटकारा पा गया। उसकी तीसरी देन ने एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली की नींव रखी, जिसका राजनीतिक एवं धार्मिक स्वाधीनता द्वारा प्राप्त लाभों को बनाए रखने की दृष्टि से असाधारण महत्त्व था। जैफर्सन ने कहा कि संसार का कोई राष्ट्र ज्ञान से अपने को वंचित रख कर स्वतंत्र नहीं रह सकता। अज्ञान का नाश तथा ज्ञान के प्रकाश का विस्तार ही वह आधार है, जिस पर स्वाधीन प्रशासन की व्यवस्था का भवन खड़ा हो सकता है।

# ज्ञानी लेखक : टामस पेन

टामस जैफर्सन की मनुष्य के मन की शक्ति में असीम आस्था थी। इस आस्था ने उसे राजनीतिक लोकतंत्र, सार्वभौमिक शिक्षा तथा धार्मिक स्वाधीनता के परिणामों तक पहुँचा दिया। जैफर्सन के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को कुछ अखंडनीय अधिकारों के साथ उत्पन्न किया, जिनका परिणाम हुआ राजनीतिक स्वतंत्रता। उसने मनुष्य को उन्मुक्त मन के साथ ही उत्पन्न किया, जिसका परिणाम हुआ धार्मिक स्वाधीनता। राजनीतिक अथवा धार्मिक रूढ़वादिता को—क्योंकि वे उपर्युक्त दैवी देनों के विरुद्ध पड़ती हैं—सहन नहीं किया जा सकता। जैफर्सन का आदर्श था कि स्वाधीन समाज में मनुष्यों का मन भी उन्मुक्त रहे। सच तो यह है कि अमरीकी क्रान्ति के अधिकांश नेताओं की विचारधारा जैफर्सन के ही समान थी ; किन्तु वे अपने मतों का प्रतिपादन जैफर्सन के समान सुनिश्चित तथा स्पष्ट शब्दों में नहीं करते थे।

राजनीतिक स्वाधीनता की कम-से-कम जैफर्सन के ही जितनी लगन से आराधना करने वालों में और उससे कुछ आगे बढ़ जाने वालों में टामस पेन का नाम अग्रगण्य है ; परन्तु जहाँ जैफर्सन ने अपने विचारों को निजी चिट्ठियों अथवा राजकीय पत्रों में संयम के साथ प्रकट किया था, वहाँ पेन लेखक तथा प्रचारक था। इसलिए, क्रान्ति का झंडा लेकर आगे बढ़ने वालों के विचारों को देश-भर में लोकप्रिय बनाने का भार टामस पेन के कंधों पर पड़ा, क्योंकि उसकी शैली में ओज एवं सरलता दोनों का पुट था। यह देश की एक बहुत बड़ी सेवा थी और इसीलिए टामस पेन को क्रान्तिकारी दल का एक मुख्य सहायक माना गया। १७८२ में वाशिंगटन, राबर्ट मैरिस तथा लिविंग्स्टन ने क्रान्ति के प्रति पेन की सेवा को इतना मूल्यवान समझा कि उन्होंने स्वाधीनता के पक्ष में लिखने के लिए उसका वेतन ८०० डालर वार्षिक निर्धारित कर दिया, जो उस जमाने में कोई छोटी धनराशि नहीं थी।

परन्तु पेन की लोकप्रियता तथा अमरीकी नेताओं की उसके प्रति श्रद्धा

अधिक समय तक कायम नहीं रही। यह परिणाम फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के बाद हुआ। यह वह समय था, जब अनेक अमरीकी क्रान्तिकारी नेताओं ने या तो राजनीतिक मौन धारण कर लिया था अथवा वे शीघ्रता से अनुदार विचार-धारा की शरण ग्रहण करने लगे थे ; परन्तु पेन सदा की भाँति प्रगतिशील विचार-धारा का प्रतिपादक बना रहा। अपने जीवन के पिछले दिनों पेन की प्रतिष्ठा में जो कमी हुई, वह उसके अपने विचारों में परिवर्तन का परिणाम न होकर वातावरण में परिवर्तन का परिणाम थी। वृद्धावस्था में पेन को जिस निराशा का सामना करना पड़ा, उसका कारण एक यह अनुभव भी था कि उसके पुराने साथी क्रान्ति के शिविर से अलग हो चुके थे।

परन्तु, एक दृष्टि से टामस पेन अलेक्जेन्डर हैमिल्टन के समान अपने समय के अन्य नेताओं के विपरीत अधिक अनुदार था। अन्य विषयों में चाहे हैमिल्टन और पेन में कुछ मतभेद रहे हों ; किन्तु वे दोनों ही एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार अमरीका में रहने के प्रतिपादक थे। केन्द्रीय सरकार के अधिकारों की सीमाओं की तथा राज्य सरकारों को संविधान में दिए गए संरक्षणों की दोनों में से किसी को भी चिन्ता नहीं थी। इसका कारण भी स्पष्ट था। हैमिल्टन अथवा पेन में से कोई भी अमरीका में नहीं जन्मा था और वाशिंगटन, जैफर्सन अथवा जॉन एडम्स जिस प्रकार अपने राज्यों के साथ बँधे थे, उस प्रकार ये नहीं बँधे थे। ये राष्ट्र के प्रति वफादार थे ; क्योंकि राष्ट्र ने हैमिल्टन के दोगलेपन के दोष को ढँक लिया था और पेन को निम्न मध्यम वर्ग के स्तर से उठा कर अमरीका के प्रमुख व्यक्तियों के बीच लाकर बैठा दिया था।

अमरीका के अन्य क्रान्तिकारी नेताओं की भाँति पेन भी शुद्ध तथा प्रयुक्त विज्ञान में रुचि रखता था। २० वर्ष की अवस्था में ही उसे न्यूटन के ज्योतिष-विज्ञान-सम्बन्धी व्याख्यान सुनने का अवसर मिला। १७ वर्ष बाद, १७७४ में जब पेन लंदन में बेंजामिन फ्रैंकलिन से मिला, तो उनमें विद्युत् शक्ति के सम्बन्ध में विचार-विनिमय हुआ। फ्रैंकलिन से एक सिफारिशी पत्र प्राप्त कर पेन अमरीका चला आया और 'पेन्सिल्वानिया मैग्जीन' के प्रकाशक राबर्ट एटकिन के यहाँ काम करने लगा। पेन का प्रथम लेख बिजली की मशीन के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ। क्रान्ति के बाद, बेंजामिन रश के प्रोत्साहन से पेन विज्ञान के प्रौद्योगिक विकास पर अनुसंधान करने लगा। जिन विषयों पर उसने अनुसंधान किया, उनमें दो थे—ऐसी मोमबत्ती, जिसमें से धुआँ नहीं निकलता हो और एक नए प्रकार का लोह-पुल। इस पुल की बिक्री बढ़ाने के उद्देश्य से

वह १७८७ में यूरोप गया। १७९० में उसने इसे पेटेंट करा लिया। इससे प्रकट हो सकता है कि पेन को विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान था।

जैसा कि हम देख चुके हैं, न्यूटन ने दृश्य जगत् के सम्बन्ध में जो अनुसंधान किया, उसके परिणामस्वरूप अमरीकी विचारकों का विश्वास प्राकृतिक नियमों की क्रमबद्धता पर जम गया। पेन के साहित्य में भी प्रकृति की क्रमबद्धता का सहारा लेकर उसके सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ कर सकने की सम्भावना पर प्रकाश डाला गया। पेन ने कहा कि ईश्वर ने जड़ तत्त्व के लिए जो नियम बनाए, उन्हीं को प्रकृति कह सकते हैं। इन्हीं नियमों से दृश्य जगत् के सभी व्यापार चलते हैं। पेन ने कहा कि वैज्ञानिक अनुसंधान से किसी नए नियम को जारी नहीं किया जाता; बल्कि प्रकृति के भीतर चलने वाले विभिन्न व्यापारों का ही स्पष्टीकरण किया जाता है। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया। प्रकृति के नियम ईश्वर निर्मित हैं; किन्तु वैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा मनुष्य उन नियमों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पेन के विचारानुसार ईश्वर-निर्मित उसी प्राकृतिक व्यापार को कह सकते हैं, जिसमें क्रमबद्धता तथा नियमबद्धता पाई जाय। यही वह पृष्ठभूमि थी, जिसमें पेन ने चमत्कारों के अस्तित्व से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि प्रकृति के नियमों के विपरीत कुछ भी होना असम्भव है।

पेन ने संक्षेप में चमत्कारों के विरुद्ध डेविड ह्यूम के तर्क को उपस्थित किया। उसने कहा है कि किसी चमत्कारपूर्ण घटना के विवरण को हम स्वयं देखे बिना केवल उसके सुने-सुनाए विवरण के आधार पर सत्य मान लेते हैं। "सच तो यह है कि किसी चमत्कार की यथार्थता पर विश्वास करने के लिए हमें ईश्वर से विश्वास हटाकर मनुष्य पर विश्वास करना होता है। यदि हम किसी चमत्कार का विवरण कहीं पढ़ें, तो हमें विचार करना चाहिए कि प्रकृति अथवा मनुष्य दोनों में से किसके सत्य से विमुख होने की सम्भावना अधिक है। जीवन में हम प्रकृति को अपने दैवी नियमों का उल्लंघन करते एक बार भी नहीं देखते; किन्तु उसी अवधि में हम अनेक बार असत्य वचन सुनते हैं। इस अवस्था में चमत्कार का सुना-सुनाया विवरण गलत होने की सम्भावना कहीं अधिक रहती है।

इस प्रकार, प्रकृति की नियमबद्धता में विश्वास रखने वाले विचारक के रूप में पेन को ज्ञान और प्रकाश के अमरीकी युग का एक प्रतिनिधि माना जा सकता है। पेन का कहना था कि प्रकृति के सभी व्यापार ईश्वर द्वारा

निर्मित नियमों के अनुसार चलते हैं और चूंकि मनुष्य ईश्वरीय व्यवस्था का एक अंग है ; इसलिए उससे उन नियमों के अनुसार चलने की आशा की जाती है। इन नियमों को नैतिक कानून कहा जा सकता है। यह नैतिक कानून अथवा नैतिक नियम मनुष्य के लिए प्राकृतिक नियम है। जिस प्रकार मनुष्य प्राकृतिक नियम को अपने बुद्धि-विवेक द्वारा जान सकता है, उसी प्रकार वह नैतिक नियम को अपने बुद्धि-विवेक के द्वारा समझ सकता है। जिस प्रकार प्राकृतिक नियमों के द्वारा हमें विश्व की भौतिक एकरूपता का बोध होता है, उसी प्रकार नैतिक नियमों के द्वारा हमें विश्व की नैतिक एकरूपता का बोध होता है। पेन की राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक विचारधारा का उद्देश्य विश्व की उस नैतिक एकरूपता का ज्ञान प्राप्त करना है, जिसे सरकारों के कुशासन तथा पादरियों के भ्रामक प्रचार ने अस्तव्यस्त कर दिया था।

यदि पेन के दृष्टिकोण को समझना है, तो हमें मनुष्य को उसी रूप में लेना चाहिए, जिस रूप में स्रष्टा ने उसे उत्पन्न किया और जिस रूप में सरकारों की स्थापना से पूर्व वह था। पेन ने अपनी पुस्तिका 'मनुष्य के अधिकार' में मानव-अधिकार निर्धारित करने के सम्बन्ध में एडमंड बर्क की आलोचना की। पेन की आलोचना यह नहीं थी कि बर्क ने इतिहास सम्बन्धी तर्क का उपयोग क्यों किया ; बल्कि उसकी आलोचना यही थी कि बर्क अपने तरीके को काफी पीछे नहीं ले गया। पेन का प्रश्न यह था कि मनुष्य के अधिकारों की समस्या पर विचार करते समय हम विजेता विलियम द्वारा इंगलैंड की विजय के वर्ष १०६६ को ही क्यों महत्त्व प्रदान करें ? वास्तव में बात यह थी कि बर्क जिस ब्रिटिश परम्परा के पक्ष में तर्क उपस्थित करना चाहता था, उसकी शुरुआत इसी वर्ष हुई थी। पेन का कहना था कि मनुष्य के अधिकारों की समस्या पर विचार करते समय ऐतिहासिक दृष्टि से काफी पीछे जाने की जरूरत है। यदि काफी पीछे जाया जाय, तो हम उस अवस्था को पहुंच जाते हैं, जब मनुष्य प्रकृति के निकट था और जब राजा, सम्राट् अथवा सरदार की पदवियां नहीं प्रदान की गई थीं।

जब हम एक बार उस अवस्था को पहुंच जाते हैं, तो यह परिणाम निकलता है कि अधिकारों की उत्पत्ति मनुष्य के जन्म के साथ ही हुई थी। यह भी प्रकट होता है कि "मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार ईश्वर-प्रदत्त हैं।" सृष्टि के विवरण से प्रकट है कि मनुष्य जन्म के समय समान थे और उन्हें समान प्राकृतिक अधिकार थे। आज जो शिशु उत्पन्न होता है, उसके प्राकृतिक अधिकार उस व्यक्ति

के ही समान हैं, जो सब से पहले संसार में आया था। सृष्टि का जो शास्त्रीय विवरण उपलब्ध है, उसमें मनुष्य के बीच केवल लिंग का ही भेद मिलता है। इस प्रकार सच तो यह है कि मनुष्य-मात्र की स्वतंत्रता कोई आधुनिक सिद्धान्त नहीं ; बल्कि प्राचीनतम सिद्धान्त है। मनुष्य की समानता के अधिकार उसके प्राकृतिक अधिकार हैं और प्रत्येक व्यक्ति को वे अपने अस्तित्व-मात्र से प्राप्त हैं ; परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को इन अधिकारों की रक्षा की शक्ति नहीं है। पेन ने मानव-अधिकारों के विषय में जैफर्सन का अनुसरण किया। कुछ अधिकार ऐसे हैं, जिन्हें कायम रखने में व्यक्ति समर्थ है। इस श्रेणी में मनुष्य के बौद्धिक अधिकार आते हैं और इसी श्रेणी के अन्तर्गत वे अधिकार भी हैं, जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचाए बिना सुख की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है ; परन्तु अन्य अधिकार, विशेषकर वे अधिकार जिनका सम्बन्ध मनुष्य की सुरक्षा से है, प्रकृति द्वारा समान रूप से दिए जाकर भी उनकी रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है।

इस दूसरे वर्ग के अधिकारों की रक्षा करने की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में नहीं रहती ; इसलिए लोग समाजों में अपना संघटन करते हैं और प्राकृतिक अधिकारों को नागरिक अधिकारों में परिणत कर देते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक नागरिक अधिकार का विकास किसी प्राकृतिक अधिकार के एवज में होता है। स्पष्ट है कि समाज को सामूहिक रूप से जो अधिकार अर्पित किए जाते हैं, वही नागरिक प्रशासन की शक्ति का रूप धारण कर लेते हैं। परन्तु, मनुष्य के पास जो प्राकृतिक अधिकार बचे रहते हैं, उनका अतिक्रमण नागरिक अधिकारी शक्ति भी नहीं कर सकती। पेन ने समाज की स्थापना का जो विशद वर्णन किया है, वह टामस हॉब्स के इसी प्रकार के विवरण से कुछ भिन्न है। हॉब्स का विवरण उसके प्रसिद्ध ग्रंथ 'लेवियाथन' में मिलता है। पेन के विवरण में इस प्रकार के समाज की स्थापना करने की अत्यावश्यकता की झलक नहीं मिलती, जो हॉब्स के विवरण में मिलती है। पेन समाज को एक वरदान; किन्तु सरकार को एक अनिवार्य बुराई मानता था। उसके मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों का ध्यान सबसे पहले एक समाज की स्थापना की ओर जाता है, जो कुछ समय तक नैतिक कानून की प्रेरणा से चलता है। बाद में जब समाज के सदस्य अपने कर्तव्यपालन तथा एक दूसरे के प्रति प्रेम में ढिलाई करने लगते हैं, तो नैतिक भावना की पूर्ति के लिए किसी-न-किसी प्रकार की प्रशासन-प्रणाली की स्थापना कर ली जाती है। पेन लिखता है—

"कोई सुविधाप्रद वृक्ष राजभवन का रूप ग्रहण करेगा और उसकी शाखाओं के नीचे सम्पूर्ण बस्ती सार्वजनिक विषयों पर विचार-विनिमय के लिए एकत्र होगी। यह सम्भव है कि इस समाज के पहले कानून, नियम उप-नियमों के रूप में ही स्वीकृत हुए हों और उन्हें लागू करने के लिए सार्वजनिक अनादर से अधिक अन्य किसी दंड की व्यवस्था नहीं की गई हो। इस प्रथम संसद में प्रत्येक व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार से एक स्थान मिला होगा।" यह आदर्श लोकतंत्र अधिक समय तक नहीं बना रहता। समाज के सदस्यों की संख्या इतनी बढ़ जाती है कि एक वृक्ष के नीचे वे नहीं आते और चन्द व्यक्तियों द्वारा प्रशासन करने का कोई-न-कोई तरीका निकाल लिया जाता है। यह तरीका राजतंत्र विशिष्ट वर्गीय शासन तंत्र अथवा प्रतिनिधिक शासन-तंत्र में से कोई एक हो सकता है; परन्तु, इन सभी शासन-प्रणालियों में केवल प्रतिनिधिक शासन-तंत्र ही मूल समाज के उद्देश्य अर्थात् सुरक्षा की प्राप्ति कर सकता है।

राजतंत्र अथवा विशिष्ट-वर्ग तंत्र अधिकारों के अपहरण पर ही आधारित होते हैं। यद्यपि बर्क-जैसे लेखक राजाओं के राज करने के अधिकार की चर्चा करते थे; किन्तु पेन राजाओं के शासन-सम्बन्धी अधिकार को स्वीकार नहीं करता था। उसके विचार में किसी भी अधिकार को न्याय पर आधारित होना चाहिए और नैतिक कानून की पुष्टि भी उसे प्राप्त रहनी चाहिए। राजाओं के तथाकथित अधिकार मूल रूप से अन्याय पर आधारित होते हैं और उनकी पृष्ठभूमि में नैतिक कानून का उल्लंघन होता है। राजाओं को शासनाधिकार विजय, शक्ति अथवा हिंसा द्वारा प्राप्त होता है। पेन कानूनी अथवा राजनीतिक अधिकार का सम्बन्ध नैतिक अधिकार से जोड़ता था। उसका कहना था कि एक कल्पित अथवा गलत आधार पर स्थापित अधिकार को कायम नहीं रखा जा सकता और उसने इस बात पर जोर दिया कि राजनीतिक सुविधा की तुलना में सिद्धान्त पर आधारित कार्रवाई को प्राथमिकता मिलनी उचित है। सृष्टि के आरम्भ से आज तक जीवन धारण करने वाले शोहदों की अपेक्षा एक ईमान्दार आदमी का महत्त्व अधिक है। यह सत्य है कि किसी समय लोग मुकुट धारण करने वाले शोहदे, एक स्वेच्छाचारी राजा को शासनाधिकार प्रदान करें; किन्तु केवल इतने ही से उसके उत्तराधिकारियों को शासन का पैतृक अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता। एक पीढ़ी के समय बनाए गए कानून दूसरी पीढ़ी में जारी रह सकते हैं; किन्तु ऐसा

इसलिए नहीं होता कि उन कानूनों को रद्द नहीं किया जा सकता, बल्कि इसलिए कि उन्हें रद्द नहीं किया गया है।

यदि कुछ कानूनों को रद्द नहीं किया जाता है, तो इसका यही मतलब हुआ कि जीवित प्राणियों की अप्रत्यक्ष अनुमति उन कानूनों के लिए प्राप्त है। चूँकि प्रत्येक नवजात शिशु प्रथम मानव के जितने अधिकार लेकर जन्मता है इसलिए कोई पीढ़ी आगे आने वाली पीढ़ी के अधिकारों को सीमित करने में अयोग्य है। जैफर्सन की तरह पेन ने भी तर्क उपस्थित किया कि चूँकि सरकार जीवितों के लिए है, मृतकों के लिए नहीं ; इसलिए केवल जीवितों के अधिकारों को ही मान्यता दी जा सकती है। प्रत्येक पीढ़ी पूर्ववर्ती पीढ़ियों के समान अपनी कारंवाई करने के लिए स्वतंत्र है और इसलिए उसके अधिकार समाप्त नहीं हो सकते। यह भी एक मानी हुई बात है कि भावी पीढ़ियों के अधिकारों की रक्षा करना एक पवित्र कर्तव्य है। यदि पेन ने एक तरफ मनुष्य तथा नागरिकों के अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा का समर्थन किया, तो दूसरी तरफ उसने यह भी कहा कि अधिकारों की घोषणा के साथ ही कर्तव्यों की घोषणा भी है। पेन ने कहा कि "जिस प्रकार किसी विषय में मेरा अधिकार है, उसी प्रकार उस विषय में दूसरों का भी अधिकार है और इसलिए मेरा कर्तव्य एक तरफ अधिकारों का उपभोग करना है, तो दूसरी तरफ दूसरों के अधिकारों की गारंटी भी करना है। दूसरों के अधिकारों की गारंटी करना मनुष्य का एक सार्वभौमिक कर्तव्य है, जो एक पीढ़ी तक ही सीमित नहीं है ; बल्कि जिसका विस्तार आगामी पीढ़ियों के प्रति भी है।

परन्तु पेन ने अधिकारों की जिस समानता पर जोर दिया, उसका यह परिणाम नहीं निकलता कि मनुष्यों की समानता में उसका विश्वास था। किसी देश की जनता में गुण तथा योग्यता का वितरण व्यापक रूप से तथा असमान रूप से होता है। समाज में अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए गुण पर्याप्त मात्रा में होता है, किन्तु एक पीढ़ी में गुण जिस वर्ग के पास होता है, दूसरी पीढ़ी में उसका उसी पीढ़ी के पास होना आवश्यक नहीं है। पेन का कहना था कि योग्यता तथा गुण पिता के बाद पुत्र में होना आवश्यक नहीं है। बेंजिमिन रश तथा जैफर्सन की भाँति पेन का भी यह कहना था कि यदि योग्यता को विरासत के रूप में स्वीकार किया गया, तो लोकतंत्र का मानवीय अधिकार पक्ष कमजोर पड़ जायगा और वर्गों की विशिष्टता बनाए रखने के औचित्य की पुष्टि होगी। अनुभव से ज्ञात होता है कि मानसिक शक्ति के बटवारे में

प्रकृति का कुछ भी नियंत्रण सम्भव नहीं है। शायद बुद्धिमत्ता प्रत्येक परिवार के हिस्से में बारी-बारी से आती है; इसलिए प्रकृति के इस क्रम का प्रशासनीय व्यवस्था के स्वरूप पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। यह माना जा सकता है कि प्रत्येक पीढ़ी में कुछ लोग अधिक योग्य होते हैं; किन्तु उनकी अधिक योग्यता के कारण प्रशासन व्यवस्था में उत्तराधिकार की प्रथा चलाना आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत शासन-व्यवस्था का आधार अधिक-से-अधिक विस्तृत होना चाहिए, क्योंकि इससे बालिग मताधिकार के सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

आर्थिक क्षेत्र में पेन मनुष्य की मूल समानता को उसका जन्मसिद्ध अधिकार मानता था; किन्तु वैयक्तिक प्रयास तथा योग्यता पर अंकुश रखने के वह विरुद्ध था। वह जेफर्सन तथा जॉन वूलमैन की अपेक्षा, जो कृषि-सम्बन्धी आदर्शों में आस्था रखते थे, व्यापारिक पूँजीवाद में अधिक विश्वास रखता था। पेन का कहना था कि यदि व्यापार का उन्मुक्त विकास होने दिया जाय, तो अन्ततः उसका परिणाम बहुत ही सुखद होगा। पेन व्यापार-वाणिज्य के उन्मुक्त विकास के पक्ष में इसलिए था; क्योंकि उसका परिणाम अच्छा निकलने की उसे आशा थी। व्यापार-वाणिज्य से व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण सम्बन्धों का विकास होता है और परस्पर लाभ पहुँचने से उनमें एकता की भावना बढ़ती है। यदि वाणिज्य का राष्ट्रों के मध्य अबाधित विकास हो सके, तो उनके बीच युद्ध का कोई कारण नहीं रह जायगा। सच तो यह है नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना को छोड़ कर विश्व सभ्यता के विकास की दिशा में वाणिज्य से अधिक सहायक दूसरी वस्तु नहीं है। इससे प्रकट होता है कि कोई राष्ट्र अकेला रह कर समृद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। वह अपने माल का स्वयं ही विक्रेता तथा खरीदार दोनों नहीं बन सकता। किसी राष्ट्र के लिए अपनी व्यापारिक समृद्धि को मिटाने का सब से आसान तरीका दूसरे राष्ट्रों का व्यापार नष्ट कर देना है। पेन के इस आर्थिक सिद्धान्त में कोई नवीनता नहीं थी।

परन्तु पेन समानता के मूल सिद्धान्त पर कायम रहा और आर्थिक क्षेत्र में उसने इसे कृषि-न्याय की संज्ञा दी। हम ऊपर देख चुके हैं कि पेन ने तर्क दिया था कि स्रष्टा मनुष्य और मनुष्य के बीच केवल लिंग-भेद ही स्वीकार करता है और इसके अलावा सृष्टि के समय उसने मनुष्य के बीच और कोई भेद नहीं रखा था। यही नहीं, जिस प्रकार मनुष्य और मनुष्य के अधिकारों

को लेकर कोई अन्तर नहीं था, उसी प्रकार अमीर और गरीब का भी कोई भेदभाव नहीं था। ईश्वर ने पृथ्वी मानव-समाज के लिए रची थी। प्राकृतिक अवस्था में भूमि किसी व्यक्ति-विशेष के स्वामीत्व में न रह कर सम्पूर्ण समाज के उपयोग के लिए थी। पेन के समय में अमरीका के आदिवासी इसी तरह रहते थे। इस प्राकृतिक अवस्था में वह घोर निर्धनता नहीं दिखाई देती, जैसी अधिक सभ्य समाज में दिखाई देती है; किन्तु साथ ही इसमें कृषि, कला-कौशल, विज्ञान तथा प्रौद्योगिक उत्पादन के विकास से प्राप्त होने वाले लाभ भी सुलभ नहीं होते। यही वह पृष्ठभूमि है, जिसमें पेन ने रूसो की तरह प्राकृतिक अवस्था को आदर्श व्यवस्था मानने से इंकार कर दिया था।

परन्तु पेन ने इस तथ्य पर बल दिया कि सभ्यता का प्रथम सिद्धान्त यह रहना चाहिए कि उसका आरम्भ होने पर संसार में उत्पन्न प्रत्येक व्यक्ति की अवस्था इस अवधि से पूर्व की अपेक्षा घटकर नहीं होनी चाहिए। यहाँ पेन का तर्क इसके मानव-मात्र के प्राकृतिक अधिकार तथा अधिकारों के सम्बन्ध में सभी मनुष्यों की समानता को तर्क के समानान्तर चलता है। इस तर्क को आगे बढ़ा कर पेन इस परिणाम पर पहुँचता है कि भूमि सभी व्यक्तियों की समान रूप से होनी चाहिए और यह नहीं होना चाहिए कि जो व्यक्ति उसे खरीद ले, वह उसी की हो रहे। किसान भूमि का उपयोग करता है और उसे अपने अधीन रखते हुए जीवन-भर भूमिजन्य पदार्थों का उपभोग करते रहने का उसे अधिकार है। इस सुविधा के एवज में समाज को किसान से उस भूमि का लगान पाने का हक है। समाज का अधिकार ऊसर भूमि पर होना चाहिए, किन्तु यदि किसान ने भूमि में सुधार कर उसे उपजाऊ बना दिया है, तो इस अतिरिक्त उपयोगिता का लाभ उन लोगों को मिलना चाहिए, जिनके श्रम से भूमि की उपयोगिता में वृद्धि हुई है। परन्तु, पेन साधारण अर्थ में होने वाले भूमि के पुनर्वितरण के पक्ष में नहीं था।

परन्तु पेन की चिन्ता भूमि के उन वास्तविक स्वामियों को सहायता पहुँचाने की थी, जिन्हें बिना किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति के अपनी जमीनों से बेदखल कर दिया गया था। इस गलती को दुरुस्त करने के लिए पेन ने प्रस्ताव किया कि प्रत्येक धनी अथवा निर्धन व्यक्ति को २१ वर्ष की आयु में २१ पौंड दिया जाय और ५० वर्ष की आयु के बाद उसे १० पौंड वार्षिक वृत्ति बाँध दी जाय। नई प्रणाली जारी करने पर कुछ लोगों को जो क्षति होती, उसकी पूर्ति के लिए यह प्रस्ताव उसने किया। पेन ने कहा कि उसकी योजना का

खर्च चलाने के लिए भूमि के लगान से प्राप्त धन का एक राष्ट्रीय कोष कायम किया जाय। हम यहाँ इस योजना के विस्तार में नहीं जाना चाहते, हमारी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण केवल इतना है कि पेन ने एक सामाजिक सुरक्षा-प्रणाली की कल्पना की थी। इसे जारी कर जहाँ वह एक तरफ न्याय तथा मानवता का झंडा ऊँचा रखना चाहता था, वहाँ दूसरी तरफ वह सम्पत्तिवान वर्ग को मुसीबत से भी बचाना चाहता था। पेन उदार, न्यायी तथा मानवीय भावना से पूर्ण था; किन्तु साथ ही, जैसा कि उसने एक स्थान पर स्वीकार भी किया, वह धनियों का मित्र भी था।

पेन ने मानसिक अधिकारों अर्थात् विचारों की स्वाधीनता एवं अन्तःकरण की स्वाधीनता पर सब से अधिक जोर दिया था। १७९२ की ब्रिटिश शाही घोषणा का एक परिणाम यह हुआ कि 'मनुष्य के अधिकार' नामक अपने ग्रंथ के लिए पेन स्वयं संकट में पड़ गया और इस ग्रंथ पर प्रतिबंध लगाए जाने की नौबत आ गई। पेन ने ब्रिटिश सरकार को एक खुली चिट्ठी लिखकर यह आरोप किया कि अंग्रेज फ्रांस के पुराने राजाओं तथा स्पेनिश राजतंत्र का अनुसरण कर रहे हैं। किसी भी शासन-सत्ता के लिए यह कहना खतरनाक है कि लोग अमुक पुस्तक न पढ़ें, क्योंकि अन्ततः उस पुस्तक की विचार-धारा अन्य देशों में होकर लोगों तक पहुँच ही जाती है। जहाँ तक धार्मिक सहन-शीलता का सम्बन्ध है, पेन सहनशीलता शब्द की भावना से सहमत नहीं था, क्योंकि सहनशीलता से यह भाव प्रकट होता था कि एक पक्ष को दूसरे के धार्मिक विश्वास पर आघात करने का अधिकार तो प्राप्त है; किन्तु वह पक्ष दया कर ऐसा नहीं करता।

टामस पेन चाहता था कि विचार, भाषण तथा अन्तःकरण की जिस स्वाधीनता की वकालत वह स्वयं करता रहा है, उसका लाभ स्वयं उसे भी प्राप्त हो। १७९४ में पेन ने 'विवेक-बुद्धि का युग'[१] नामक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसका उपशीर्षक था—'सच्चे तथा काल्पनिक धर्मशास्त्र की जाँच।'[२] इस पुस्तक को पेन ने संयुक्त राष्ट्र अमरीका के नागरिकों को समर्पित किया और अपने एक पत्र में यह दावा किया कि उसे अपना विचार रखने का अधिकार है; परन्तु उसका यह अनुरोध स्वीकृत नहीं हुआ। पेन की खिल्ली

१. Thomas Paine : The Age of Reason.
२. An Investigation of the true and of Fabulous Theology.

उड़ाई गई, उसकी निन्दा की गई और उसे गलत समझा गया। उसे अनीश्वरवादी कहा गया, गोकि उसकी कृति का मुख्य उद्देश्य सच्चे धार्मिक ज्ञान को उस सामूहिक विनाश के बीच से उबारना था, जो फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के पीछे हुआ था। यह सच है कि उपर्युक्त पुस्तिका ईसाई-सम्प्रदायों की मान्यताओं के विरुद्ध था; किन्तु वह पुस्तिका धर्म-विरोधिनी नहीं थी। इसके विपरीत, पेन ने अपने युग के अन्य विचारकों के समान अपनी विचारधारा का आधार अधिष्ठातृ ईश्वरवाद को बनाया। पेन की पुस्तक पर जो आघात हुआ, उसकी तीव्रता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उसने उसे बुद्धिवादियों के लिए न लिख कर साधारण-जन के लिए लिखा था। जिस समय पुस्तिका प्रकाशित हुई, उस समय गिरजे के सदस्यों की संख्या बहुत ही कम थी; इसलिए, अमरीका के धार्मिक अधिकारियों के लिए अपनी स्थिति की रक्षा के लिए पेन पर आक्रमण करना आवश्यक हो गया।

पेन धार्मिक मामलों में दिखावटी स्वतंत्रता के भी आगे बढ़ गया। यदि कोई व्यक्ति एक बार अपने धार्मिक क्षेत्र को चुन लेता है, तो उसे निर्धारित धार्मिक मर्यादा से बाहर जाने की स्वतंत्रता नहीं रह जाती। उसने अन्धविश्वास से ऊपर उठ कर बुद्धि-विवेक पर अपना धार्मिक विश्वास आधारित करने का निश्चय किया। पेन ने कहा कि "मेरा मन ही मेरी धार्मिक संस्था है।" उसकी आशा यह थी कि मानसिक स्वतंत्रता के आधार पर एक धार्मिक मत चलाया जाय, जिसमें रूढ़िवादिता कम हो और प्रत्येक व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार विश्वास को अपना सके। इस मत के मानने वाले को एक ईश्वर तथा नैतिक कानून में आस्था रखनी थी और यह आशा करनी थी कि वह असीम आनन्द का अधिकारी हो सकता है। पेन के शब्द इस प्रकार हैं :—

> **मेरी आस्था एक ईश्वर में है—और इससे अधिक कुछ नहीं। मैं इस जीवन के परे परम आनन्द की प्राप्ति की भी आशा करता हूँ।**
>
> **मेरा विश्वास मनुष्य की समानता में है। मेरा यह भी विश्वास है कि न्यायपूर्ण कार्य करना, प्रेम और दया का व्यवहार करना तथा सभी प्राणियों को सुखी करना ही धार्मिक कर्तव्य है।**

इस सीधे-सादे धार्मिक दृष्टिकोण के प्रतिपादन के लिए पेन ने सभी धार्मिक सम्प्रदायों की कटु आलोचना की। उसने कहा कि सभी सम्प्रदाय गुलामी तथा एकाधिपत्य कायम करने की संस्थाएँ हैं। उसने यह भी कहा कि विभिन्न

सम्प्रदाय दैवी वाणी के एकाधिकार का जो दावा करते हैं, वह गलत है। वे जो कुछ कहते हैं, वह दैवी वाणी न होकर सुनी-सुनाई बातें ही हैं। मूसा और ईसा ने उतनी ही उत्तम नैतिक शिक्षाएँ प्रदान कीं, जितनी किसी भी युग के कोई विचारक अथवा दार्शनिक प्रदान कर सकते थे; परन्तु ईसाई-सम्प्रदाय का निर्माण ऐसे लोगों द्वारा किया गया, जिन्होंने एक सच्चे सुधारक तथा क्रान्तिकारी ईसा के सरल जीवन को कथा-कहानियों तथा आश्चर्यपूर्ण किम्वदन्तियों से आवृत कर दिया। पेन ने ओल्ड टेस्टामेंट तथा न्यू टेस्टामेंट दोनों पर यह कह कर विश्वास करने से इंकार कर दिया कि उनमें ईसा अथवा मूसा से निम्न स्तर के नैतिक दृष्टिकोण तथा विवेकशीलता की झलक मिलती है।

पेन ने कहा कि सच्चा दैवी प्रकाश हमें सृष्टि में——प्रकृति तथा मनुष्य की दुनिया में मिलता है, जिसे कोई भी मानवीय आविष्कार विकृत नहीं कर सकता। मानव को ईश्वर का अनुभव इसलिए होता है कि वही सृष्टि का आदि कारण है; किन्तु उसकी शक्ति, उसकी बुद्धिमत्ता, उसकी दयालुता तथा उसकी करुणा का परिचय हमें सृष्टि की सार्वभौमिक भाषा द्वारा मिलता है। मानव केवल अपने बुद्धि-विवेक के द्वारा, ईश्वर को पहचान सकता है; किन्तु अपने बुद्धि-विवेक द्वारा भी मनुष्य को ईश्वर की पूर्ण जानकारी नहीं हो सकती। ईसाई-धर्म-शास्त्र में ईश्वर के सम्बन्ध में विभिन्न मनुष्यों के विचारों तथा कल्पनाओं का संग्रह है; परन्तु सच्चा धार्मिक ज्ञान प्राकृतिक विज्ञान में निहित है। प्राकृतिक विज्ञान ईश्वर की कृति का प्रत्यक्ष अध्ययन है और इसलिए स्वयं ईश्वर का अप्रत्यक्ष अध्ययन है। विश्व की रचना का अध्ययन करने से प्राकृतिक सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। ईश्वर ने विश्व की रचना के द्वारा मनुष्य को शाश्वत सिद्धान्तों का ज्ञान उपलब्ध किया है और प्रकृति के इन सिद्धान्तों का अनुसरण मानव अपने शिल्पों की उन्नति में कर सकता है। ज्योतिष के विद्यार्थी अनेकों दुनिया के अस्तित्व को मानते हैं; किन्तु इससे प्राणि-जगत् के प्रति ईश्वर की असीम अनुकम्पा का भी परिचय मिलता है। "अनन्त विश्व में अकेली पृथ्वी के स्थिर अथवा गतिमान रहने के स्थान पर अब यह विश्वास गहरा हो चला है कि आकाश में अनेक पिंड हैं और उन्हें इस प्रकार रखा गया है कि वे अपनी गतियों के द्वारा मनुष्य को शिक्षा प्रदान करते रहें।" ऐसे विश्व में ईसाइयों द्वारा प्रतिपादित सृष्टि के सिद्धान्त पर कौन यकीन करेगा? ईश्वर की सृष्टि में करुणा का जो परिचय मिलता

है, मनुष्य का कर्तव्य उसका अनुकरण करना है। यदि ऐसा हो सके, तो एक मानव दूसरे मानव पर अत्याचार करना छोड़ देगा, मानव समाज पर अत्याचारी शासकों का राज उठ जायगा और मानव के प्राकृतिक अधिकारों की स्थापना हो सकेगी।

ऊपर हमने पेन की जिस सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक विचारधारा का दिग्दर्शन कराया है, उसका धार्मिक आधार पेन के अधिष्ठातृ ईश्वरवाद के प्रति आस्था में मिलता है। टामस पेन की प्रतिष्ठा में कमी केवल इसलिए हुई, क्योंकि उसकी पुस्तक को नापसन्द किया गया और उसकी निन्दा की गई। इसके परिणामस्वरूप अमरीकी राष्ट्र के निर्माण के प्रति उसकी सेवाओं का महत्त्व अक्सर पर्याप्त रूप में स्वीकार नहीं किया जाता; परन्तु, हमें स्मरण रखना है कि पेन की विचारधारा वास्तव में अपने समय को देखते हुए अधिक उग्र नहीं कही जा सकती। अमरीकी नेताओं में अधिष्ठातृ ईश्वरवाद में केवल पेन का ही विश्वास नहीं था; बल्कि १८वीं शताब्दी के अधिक शिक्षित समाज में यही धार्मिक विचारधारा प्रचलित थी। विशेषकर प्राकृतिक विज्ञान तथा राजनीतिक सिद्धान्तों से परिचित लोग तो इसी दृष्टिकोण से अनुप्राणित थे। इसलिए कहा जा सकता है कि पेन की विचारधारा किसी अकेले व्यक्ति के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं करती; बल्कि इसे ज्ञान की ज्योति से प्रकाशवान् युग की प्रतीक माना जा सकता है।

# वातावरणवाद और लोकतंत्र : बेञ्जामिन रश

अमरीका में ज्ञान और प्रकाश के युग की एक विशेषता यह थी कि प्राकृतिक विज्ञान के प्रति अभिरुचि बढ़ गई थी। फ्रैंकलिन, जैफर्सन, हैमिल्टन और पेन की चर्चा करते समय इस विशेषता के प्रति हम ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं। १८वीं शताब्दी का मानस, न्यूटन की विश्व यांत्रिक प्रणाली से प्रभावित था, जो स्रष्टा द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों अथवा नियमों के अनुसार संचालित होती है और जिन्हें मनुष्य अपने बुद्धि-विवेक के द्वारा जान लेता है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति विज्ञान के विकास का दिलचस्पी से अनुसरण करता था और लोकप्रिय पत्रिकाओं में वैज्ञानिक विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। कवि वैज्ञानिकों का गुणगान राष्ट्रीय वीरों के रूप में करते थे और कहते थे कि वे दुनिया को अज्ञान, उन्माद तथा अन्ध-विश्वास की खाई से निकालेंगे। मनुष्य की शक्ति में वृद्धि वैज्ञानिक प्रगति पर निर्भर है।

इस युग के जिन वैज्ञानिकों ने अधिक सफलता प्राप्त की, उनमें बेंजामिन रश प्रमुख था। रसायन-विज्ञान तथा शरीर-धर्म-विज्ञान के क्षेत्रों में उसके कार्य से काफी प्रगति हुई। उसने चिकित्सा-सम्बन्धी प्रशिक्षण में विशेष दिलचस्पी ली और १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अनेक चिकित्सकों ने बेंजामिन रश का प्रशिक्षण के लिए आभार माना है। बेंजामिन रश सार्वजनिक सेवा की भावना से अनुप्राणित था और पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय की चिकित्सा शाखा में उसने बेंजामिन फ्रैंकलिन की योजनाओं को आगे बढ़ाया। उसने अमरीका में पहला सार्वजनिक चिकित्सालय खोला। रश एक उत्साही गणतंत्रवादी था और अमरीकी स्वतंत्रता-आन्दोलन का जोरदार समर्थक था। उसने क्रान्ति के समय तथा उसके बाद भी अपनी देश की सेवा की। इसके अलावा, रश 'प्राकृतिक दार्शनिक' भी था, जिसे विज्ञान और दर्शन दोनों के प्रति गहरा प्रेम था। उसके विज्ञान के दर्शन का परिचय हमें वैज्ञानिक तरीके तथा उद्दीपन-सिद्धान्त-सम्बन्धी विचारधारा में मिलता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण

से प्रभावित दार्शनिक विचारधारा की झलक हमें उसकी राजनीतिक, सामाजिक तथा नैतिक मान्यताओं में मिलती है।

रश के काल में बुद्धिवादी ( Rational ) तथा अनुभववादी ( Empirical ) तरीकों के हिमायतियों में बहस चल रही थी। यह बहस विशेष रूप से चिकित्सा के क्षेत्र में थी। बुद्धिवादियों का विश्वास था कि निगमनात्मक विधि से चिकित्सा की एक पूर्ण प्रणाली का विकास निर्दिष्ट सिद्धांतों के आधार पर किया जा सकता है। अनुभववादियों का कहना था कि निर्दिष्ट सिद्धान्तों से किसी परिणाम पर पहुँचना ठीक नहीं है और निरीक्षण तथा प्रयोग के द्वारा ही चिकित्सा-विज्ञान की स्थापना सुदृढ़ आधार पर हो सकती है। रश ने कहा कि केवल निरीक्षण अथवा केवल तर्क के द्वारा किसी वैज्ञानिक परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता। वह चिकित्सा-विज्ञान की प्रगति के लिए बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों ही प्रणालियों को बाधक कहता था। उसने कहा कि दोनों ही पक्ष एक दूसरे की उपयोगिता को स्वीकार न कर, चिकित्सा विज्ञान को उस उन्नति से रोक रहे हैं, जो ज्योतिष तथा भौतिक व रासायनिक विज्ञान, इन दोनों तरीकों को अपनाकर प्रगति कर चुके हैं।

१७९१ में रश ने अपने विद्यार्थियों के लाभ के लिए एक व्याख्यानों का संग्रह संकलित किया, जिसका शीर्षक था—'चिकित्सा में निरीक्षण और तर्क की प्रणालियाँ'[१]। इस संग्रह के अध्ययन से प्रकट होता है कि रश की विचारधारा में अधिष्ठातृ ईश्वरवाद का कितना प्रभाव था। इस संग्रह के अनुसार, स्रष्टा ने विश्व के कल्याण और उसके ज्ञान के लिए एक योजना रखी थी। रश का विश्वास था कि तर्क और अनुभव को अलग कर दैवी व्यवस्था के सामंजस्य में हस्तक्षेप किया जाता है। उदार ईश्वर ने ज्ञान के प्राप्त करने के इन दोनों साधनों को मनुष्य के लिए इसीलिए सुलभ किया कि वे एक दूसरे की कमी की पूर्ति कर सकें। तर्क और अनुभव का एकीकरण ईश्वर का दैवी विधान था। मनुष्य को मन की भावना तथा इन्द्रियजनित अनुभव का एकीकरण करना चाहिए, जिससे विज्ञान की उन्नति हो सके और विज्ञान की इस उन्नति से मानव-समाज का व्यापक तथा स्थाई कल्याण संभव हो सके।

रश के द्वारा अपने तरीके लागू करने के परिणामस्वरूप उद्दीपन के

---

१. Benjamin Rush : "Observation and Reasoning in Medicine."

सिद्धान्त का जन्म हुआ। इस सिद्धान्त में यह है कि पहले निरीक्षण किया जाय, फिर उसे तर्क द्वारा आगे बढ़ाया जाय और अन्त में विचार द्वारा उसका विकास किया जाय। यद्यपि इस सिद्धान्त का विकास रश[1] ने शरीर-धर्म-विज्ञान के क्षेत्र में किया और फिर 'प्राणिजीवन पर व्याख्यान' नामक पुस्तिका में इसका निरूपण किया; किन्तु आगे जाकर मस्तिष्क-विज्ञान की प्रगति में वह सहायक हुआ। रश ने अपना सिद्धान्त इस प्रकार शुरू किया कि मानव-शरीर के प्रत्येक वाह्य अथवा आन्तरिक अवयव में बाहरी प्रभाव से इंद्रियजन्य संवेदना जाग्रत करने का गुण वर्तमान है। इस प्रकार की संवेदना को उसने इंद्रियजन्य संवेदन ( Sensibility ) तथा उत्तेजित किए जाने की प्रक्रिया को उद्दीपन (Excitability) कहा। रश इस परिणाम पर पहुंचा कि यदि शरीर के किसी अवयव को कोई बाहरी क्रिया प्रभावित करती है, तो इससे शरीर के सभी अवयवों में इंद्रियजनित संवेदन अथवा गति अथवा दोनों ही उत्पन्न होती हैं। यदि अँगुलियों के अग्रभाग जलते हैं, तो सम्पूर्ण शरीर कष्ट का अनुभव करता है और आग से दूर चला जाता है। यहां तक रश के विचार को, जिसमें समस्या के आध्यात्मिक पहलू को स्पर्श नहीं किया गया है, स्वीकार किया जा सकता है।

परन्तु, इस सिद्धान्त से रश ने आगे जो परिणाम निकाला, उसे साधारण तौर पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसने कहा कि मनुष्य के आन्तरिक तथा वाह्य अवयवों में उत्पन्न संवेदनों तथा उद्दीपनों का ही परिणाम जीवन है। इस प्रकार, रश के मतानुसार प्राण-शक्ति जड़ शरीर के भीतर दैवी चेतना के अन्तःप्रवेश का परिणाम न होकर जड़ कारणों का ही विशुद्ध यांत्रिक परिणाम है। रश ने प्राण-शक्ति के कारणों में अवयवों तथा इंद्रियों की प्रक्रियाओं को सम्मिलित कर लिया। रश ने भौतिक सत्ता का स्पष्टीकरण करने तक अपने सिद्धान्त को सीमित नहीं रखा। उसने मस्तिष्क की प्रक्रिया तथा विचार-शक्ति को भी, जिसे अभी तक मानव जाति के लिए ईश्वर का विशेष वरदान माना जाता रहा है, भौतिक उद्दीपन का परिणाम माना है। यद्यपि रश ने अपने विरुद्ध लगाए गए जड़वाद के आरोप से इंकार किया; किन्तु वास्तव में उसकी विचारधारा को जड़वाद के अलावा और क्या कहा जा सकता है।

रश के ग्रंथों में उपर्युक्त मान्यता का विस्तार मनोविज्ञान तथा आचार-शास्त्र तक किया गया है। उसने कहा है कि अच्छे और बुरे में भेद करने

---

१. Benjamin Rush : Lectures on Animal Life.

तथा बुरे के स्थान पर केवल अच्छे को चुनने की क्षमता का विकास उस वातावरण से होता है, जिसमें मनुष्य रहता है। उसका विश्वास था कि भौतिक कारणों का प्रभाव उसके नैतिक दृष्टिकोण पर पड़ता है। रश का इरादा यहाँ धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश करने का नहीं था। रश ने अन्तःकरण के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट नहीं किया; क्योंकि अन्तःकरण दृश्य जगत् की वस्तु नहीं है। उसने कहा कि अच्छे और बुरे कार्य होते हैं, मतामत नहीं। अन्तः-करण की आवाज मनुष्य को चाहे जो सोचने को प्रेरित करे, किन्तु मनुष्य की इच्छा का ही, जिसका पता उसके कार्यों से चलता है, प्रभाव सामाजिक कल्याण पर पड़ता है और इसलिए उसके सम्बन्ध में अनुशीलन लाभदायक है। रश स्काटिश परम्परा का अनुसरण करते हुए मनुष्य की इच्छा को ही उसकी नैतिक क्षमता कहता है, जो उसके कथनानुसार बाह्य भौतिक कारणों से उद्दीपित होती है।

इस प्रसंग में दो बातें उल्लेखनीय हैं। सामाजिक कल्याण को प्रभावित करने वाले मनुष्य के कार्यों को अच्छा अथवा बुरा बताकर रश आचार-शास्त्र के उस उपयोगितावादी सिद्धान्त की ओर झुक रहा था, जिसमें मानवीय उदारता को अच्छाई की संज्ञा दी गई थी। उसकी विचारधारा में धर्मशास्त्रीय अच्छाई-बुराई का लवलेश नहीं रह गया था। यद्यपि रश ने अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में जोनेथन एडवर्ड्स के विचार को ग्रहण किया था, किन्तु जब कि रश की उदारता का अर्थ मानवमात्र के प्रति प्रेम होता था, वहाँ एडवर्ड्स उसे प्राणिमात्र के प्रति प्रेम मानता था। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि जब रश अच्छाई-बुराई का सम्बन्ध मतामत से नहीं, कार्यों से जोड़ता है, तो वह अनावश्यक सत्त्वों को नहीं मानने के सिद्धान्त में अपनी आस्था प्रकट करता है। रश की स्थिति यह है कि अच्छाई या बुराई का स्वयं अपने में अस्तित्व नहीं है; किन्तु वे कार्य की विशेषताएँ हैं। इसी प्रकार, अन्तःकरण की भावना एक निरर्थक मान्यता है, क्योंकि अच्छे और बुरे कार्य इच्छा के कारण होते हैं और इच्छा भौतिक कारणों पर निर्भर होती है। इसलिए, रश के विचार में अन्तःकरण की मान्यता से कोई लाभ नहीं है।

जब रश को अपना सिद्धान्त जड़वादी माने जाने की आशंका हुई, तो उसने कोल्डेन की अपेक्षा अपने सिद्धान्त को संक्षेप में उपस्थित किया; किन्तु फिर भी उसका मूल आधार अपरिवर्तित रहा। कोल्डेन की तरह रश का भी विचार था कि जड़तत्त्व सनातन है। जड़वाद के संबंध में उसकी स्थिति निरपेक्ष थी।

वह आत्मा के अस्तित्व अथवा आत्मा की अमरता की सम्भावना से इन्कार नहीं करता था ; किन्तु साथ ही वह यह दावा भी नहीं करता था कि आत्मा चेतन है। रश का तर्क इस प्रकार था—"यदि जड़तत्त्व आत्मा के ही जितना अमर माना जाय, तो यह मान्यता भी असम्भाव्य नहीं कि जड़वाद अथवा चेतनवाद के विवाद में पड़े बिना ही आत्मा को अमर मान लिया जाय।" रश ने इस सिद्धांत से अपने को बांध लिया कि नैतिक मान्यता और प्राकृतिक क्षेत्र की व्याख्याएँ एक ही तरह से होनी चाहिएँ और नैतिक मान्यताओं के लिए एक तरह की बात कहना तथा दृश्य जगत् के व्यापार के लिए दूसरी तरह की बात कहना ठीक नहीं होगा। वह अधिष्ठातृ ईश्वरवादी परम्परा के अनुसार नैतिक तथा प्राकृतिक क्रियाओं को एक ही विधान के अंग मानता था। प्राकृतिक क्षेत्र में दैवी व्यवस्था नैतिक कारणों से परिचालित होती है। रश ने नैतिक क्षेत्र में इसी तर्क को आगे बढ़ाने के लिए यह स्थापना कर डाली कि भौतिक कारण नैतिक क्षेत्र में भी दैवी साधन होते हैं। रश ने अपनी वैज्ञानिक विचारधारा से दार्शनिक क्षेत्र में यह परिणाम निकाला कि मनुष्य-जीवन के मानसिक तथा नैतिक अंग भौतिक प्रेरणा पर पूर्णतः निर्भर हैं। उसने अपने सामाजिक दर्शन का भवन इसी आधार पर खड़ा किया। समाज में मनुष्य के आचरण की संभावना इस बात पर निर्भर रहती है कि वह कैसे वातावरण में रहा है और इस तरह मनुष्य का नैतिक व्यवहार भौतिक कारणों का परिणाम होता है। यदि मनुष्य के भौतिक वातावरण की उचित व्यवस्था की जाय, तो उसके कार्यक्षेत्र और नैतिक आचरण में क्रांतिकारी परिवर्तन सम्भव है। मनुष्य की प्रकृति स्थिर न होकर परिवर्तनशील है। इसे बदलकर सुधारा जा सकता है। मनुष्य किसी अधिकारी के आगे इसलिए झुक जाते हैं क्योंकि इसकी आदत उन्हें होती है, इसलिए नहीं क्योंकि झुकना मानव-स्वभाव की सहज विशेषता है। स्वाधीन वातावरण में मनुष्य स्वच्छंद विचारधारा तथा स्वच्छंद नैतिकता का विकास करेगा। रश की इस नींव के ऊपर ही उसकी बहुमुखी विचारधारा का महल खड़ा हुआ है। गणतंत्री सरकार के प्रति उसकी आस्था, शिक्षा के प्रति उसका दृष्टिकोण, दासता के प्रति उसका विरोध तथा अपराधियों में सुधार लाने के उसके विचार एक सुसम्बद्ध प्रणाली के अभिन्न अंग हैं।

इसलिए यदि हम इस आधारभूत सिद्धांत को मान लेते हैं कि भौतिक कारण नैतिक क्षमता को प्रभावित करते हैं, तो जिस वातावरण में शिक्षा होती है, उसका महत्त्व बढ़ जाता है। रश ने अपनी पुस्तकों में शिक्षा-संबंधी प्रश्नों पर भी विचार प्रकट किया है। १७८६ में उसने पेन्सिलवानिया में सार्वजनिक विद्यालय खोलने

की योजना प्रस्तुत की थी। यह योजना वर्जीनिया में जैफर्सन द्वारा निर्दिष्ट दिशा को ध्यान में रख कर तैयार की गई थी। रश की दिलचस्पी केवल विद्यालय स्थापित करने तक ही सीमित न थी, उसका दृष्टिकोण यह भी था कि विद्यालयों की शिक्षा इस प्रकार की हो कि उसके परिणामस्वरूप गणतंत्र-शासन-प्रणाली की ओर प्रगति सम्भव हो सके। शिक्षा की पृष्ठभूमि तथा विद्यालयों का अनुशासन ऐसा होना चाहिए कि राष्ट्र गणतंत्र के आदर्श की तरफ बढ़ सके। इस प्रकार रश का शिक्षा-संबंधी सिद्धांत तथा उसकी कार्यान्विति भौतिक प्रेरणा के नियंत्रण पर आधारित थी।

अब एक दूसरे क्षेत्र को लीजिए। यदि हमारा यह विश्वास है कि भौतिक कारणों से मनुष्य की नैतिक क्षमता पर असर पड़ता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि कोई स्वभाव से ही अपराधी है। प्रत्येक अपराधी का सुधार हो सकता है। उसके अपराधी बनने का कारण यह था कि भौतिक परिस्थितियों ने उसे बुरा काम करने के लिए विवश कर दिया। यदि किसी अपराधी को ऐसे वातावरण में रख दिया जाय कि वह अच्छा आचरण करने लगे, तो फिर वह अपराधी नहीं रह जायगा। यदि अपराध को जन्म देने वाली भौतिक परिस्थितियों का निराकरण कर दिया जाय और उनके स्थान पर सुकर्म को प्रोत्साहन प्रदान करनेवाली भौतिक परिस्थितियों को लाया जाय, तो अपराधी प्रवृत्ति का उन्मूलन किया जा सकता है। यदि हमारी यह मान्यता सही है, तो दंड के सिद्धांतों में काफी परिवर्तन करना पड़ेगा। यह सम्भव है कि उस हालत में भी हमें अपराधियों को जेलों में रखना पड़े; किन्तु उस हालत में जेलों का स्वरूप बदल देना होगा। एक क्षण के लिए यदि यह मान लिया जाय कि कुछ आदमी स्वभाव से अपराधी होते हैं, तो जेलों में रखने की सजा का यह मतलब हुआ कि समाज अपराधियों से अपना बदला चुकाता है। उस हालत में जेल अपराधी को कैद करने की जगह के अलावा और कुछ न होगा; परन्तु यदि रश के साथ हमारा यह विचार हो कि कोई व्यक्ति अपनी पृष्ठभूमि के कारण अपराध करता है, तो अपराधी को जेल में रखने का उद्देश्य उसके भौतिक वातावरण को बदल देना होगा। तब जेल एक शिक्षा संस्था अथवा एक सुधारगृह का काम करेगा। कैद की अवधि का विशेष महत्त्व इसलिए होगा कि उस अरसे में अपराधी के वातावरण का नियंत्रण होगा।

यद्यपि रश की विचारधारा के कुछ अंगों को आज सराहना की दृष्टि से देखा जा सकता है, फिर भी यह सच है कि उसका दृष्टिकोण अपने समय का—

अमरीकी क्रांति तथा ज्ञान और प्रकाश के एक युग का—प्रतीक था। एक साहसी, नई दुनिया आगे की तरफ बढ़ रही थी। अमरीकी क्रांति एक राजनीतिक आन्दोलन से बढ़कर कुछ और भी थी। रश जैसे उत्साहपूर्ण गणतंत्रवादियों के लिए यह एक ऐसा सांस्कृतिक आन्दोलन भी था, जिसका उद्देश्य उन्नति के मार्ग में आड़ी पड़ने वाली सभी बातों को कुचल देना था। यह एक ऐसे प्रगतिशील युग का प्रथम चरण था, जिसमें सम्पूर्ण मानव-समाज के सुखी होने की आशा की जाती थी। पेन और जैफर्सन के समान रश का भी यह विश्वास था कि क्रांति की पीढ़ी के विचारों में समाज को पीड़ित करनेवाली सभी व्याधियों का नुस्खा मौजूद था। रश आशावादिता तथा असीम उत्साह के साथ क्रांति के परिणामों की चर्चा करते थकता नहीं था:—

> स्पष्ट है कि प्रत्येक प्रकार का मानवीय कष्ट घट रहा है। सत्य के समान सुख भी एक अखंड इकाई है। बौद्धिक, नैतिक तथा राजनीतिक सत्य के प्रादुर्भाव होने से संसार मनुष्य के लिए अधिक निरापद तथा अधिक निवासयोग्य बन गया है। अमरीकी क्रान्ति की उथल-पुथल ने प्रकृति के मन्दिर के द्वार और खिड़कियां खोल दी हैं। अब मन्दिर की वेदी की ओर अग्रसर होने का समय आ गया है। हमने नैतिकता, दर्शन तथा प्रशासन के क्षेत्र में अन्वेषण किए हैं और इन अन्वेषणों का लक्ष्य मानव का सुख और उसकी समृद्धि है।

रश ने उपर्युक्त ओजस्वी शब्द चिकित्सक के कर्त्तव्य-सम्बन्धी अपने एक व्याख्यान के अन्त में कहे थे। रश एक वैज्ञानिक था और वह दूसरे वैज्ञानिकों से अनुरोध करता था कि वैज्ञानिकों के क्षेत्र से आगे बढ़कर वे मानव-मात्र को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील हों।

इस युग के अन्य वैज्ञानिकों में भी यांत्रिक विज्ञान का—जिसका उद्गम न्यूटन के विश्व यांत्रिक प्रणाली के विचार से हुआ—संयोग लोकतंत्री राजनीतिक तथा सामाजिक विचारधारा तथा अधिष्ठातृ ईश्वरवाद की पृष्ठभूमि से मिलता है। बेंजामिन फ्रैंकलिन, जोसेफ़ प्रीस्टले, टामस कूपर तथा जोसेफ बुकनान—जैसे अनेक व्यक्ति रश की दिशा में विचार कर रहे थे और उसी के जैसे परिणामों पर पहुंच रहे थे। टामस जैफर्सन, टामस पेन, तथा जॉन एडेम्स ने राजनीतिक दृष्टिकोण से चिन्तन आरम्भ किया और वे युग के वैज्ञानिकों की भांति धार्मिक तथा वैज्ञानिक परिणामों पर पहुँचे। अमरीका में ज्ञान और प्रकाश-युग के नेताओं की सबसे बड़ी कमी यही थी कि वे शायद ही कभी अनुभव कर पाए

कि विज्ञान, राजनीति और धर्म पृथक् क्षेत्रों की विचारधाराएँ हो सकती हैं। उनका विश्वास था कि मानवीय बुद्धि-विवेक का प्रयोग मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाले सभी क्षेत्रों में समान रूप से किया जा सकता है और तर्क की सहायता से विभिन्न क्षेत्रों में निकाले गए परिणामों में किसी प्रकार के विरोधाभास की आशंका नहीं है। यह एक सांत्वनामय आस्था थी और इसी कारण राष्ट्र के रूप में हमारा अस्तित्व बना रह सका है।

# ३

# दार्शनिक रूढ़िवादिता

# ज्ञान तथा प्रकाश के विरुद्ध प्रतिक्रिया

अमरीकी क्रांति का युग, धर्म तथा विज्ञान के संबंध में मनुष्य की विचारधारा में एक मौलिक परिवर्तन का काल था। इस काल में जहां महान् राजनीतिक उथल-पुथल हुई थी, वहां राजनीतिक सिद्धांतों को नई दिशाएँ भी प्राप्त हुई थीं। क्रांति के इस काल में मनुष्य की विचारधारा परम्परागत संस्थाओं की विरोधिनी थी, चाहे ये संस्थाएँ राजनीतिक रही हों अथवा धार्मिक। वह उच्च-अधिकारवादिता के भी विरुद्ध थी, चाहे यह अधिकारवादिता राजाओं की रही हो अथवा धर्म-गुरुओं की। क्रांतिकारी युग की पीढ़ियों का विश्वास प्रत्येक और सभी मनुष्यों की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा में था और उसकी सामाजिक एवं नैतिक विचारधारा इस उदार एवं मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित थी कि प्रत्येक मनुष्य केवल मनुष्य होने के नाते ही स्वतंत्र है और उसके अधिकार किसी भी दूसरे आदमी से कम नहीं हैं।

क्रांतिकारी युग के इन परिवर्तनों के बाद एकीकरण का भी एक युग आरम्भ हुआ। इस युग में नवीनता तथा परिवर्तन की अपेक्षा स्थिरता एवं स्थायित्व को अधिक महत्त्व दिया गया। जैसे-जैसे देश में समृद्धि फैलती गई, वैसे-वैसे स्थिरता की आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव की जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि साधारण-सी अशांति को भी महान् उथल-पुथल के रूप में लोगों के सामने रखा जाने लगा। यह आशंका व्यापक रूप से फैल गई कि फ्रांसीसी राज्यक्रांति की लपटें अटलांटिक के पार आ पहुँचेंगी और नवोदित अमरीकी गणतंत्र की सुरक्षा को नष्ट कर देंगी। इस प्रकार प्रतिक्रिया का एक युग आरम्भ हुआ। इस युग में क्रांतिकारी पीढ़ियों के आदर्शों पर आलोचनात्मक दृष्टि से पुनर्विचार किया जाने लगा और कितने ही क्षेत्रों में उन आदर्शों का कार्यान्वयन सीमित कर दिया गया अथवा उनका पूर्णतः परित्याग कर दिया गया। इस प्रतिक्रिया के कई अंगों की दार्शनिक अभिव्यक्ति हुई। स्वतंत्रता की घोषणा के कितने ही विचारों

की भी प्रतिक्रिया दिखाई देने लगी। इसलिए भी उत्तेजना फैली; क्योंकि दक्षिणी अमरीका में जैफर्सन के विचारों से दासत्व की समस्या का समाधान पर्याप्त रूप में नहीं हो सका। उदार विचारधारा रखने वालों में भी धार्मिक कट्टरता दिखाई देने लगी। इसका एक परिणाम यह हुआ कि जिन वैज्ञानिक विचारों का ईसाई-धर्म के विश्वासों से मेल नहीं खाता था, इनका विरोध अधिक कड़ाई से होने लगा। सब से अंतिम बात यह हुई कि दर्शन की एक ऐसी शास्त्रीय परम्परा की नींव पड़ी, जो साधारण विवेक को आधार बनाकर आगे चलती थी। इस परम्परा का जन्म स्काटलैंड में पहले ही हो चुका था और वह ईसाई-धर्म के प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय का आश्रय ग्रहण कर आगे बढ़ने लगी। इस खंड में हम क्रांति के बाद की प्रतिक्रिया से संबंध रखनेवाली इन सभी विचारधाराओं पर दृष्टि डालेंगे।

सच तो यह है कि कतिपय कट्टरपंथी राजभक्तों को छोड़कर, जिनमें एक मेरीलैंड का जोनेथन बाउचर भी था, अमरीकी क्रांति का शुरू में बौद्धिक क्षेत्रों में बहुत ही कम विरोध हुआ। अनुमान किया गया है कि ब्रिटेन से सम्बन्ध बनाए रखना अमरीकी राष्ट्र की केवल एक तिहाई जनता ही चाहती थी। इस में मुख्यतः ऐसे लोग थे जिन्हें भोजन, वस्त्र अथवा मकान का कष्ट नहीं था; परन्तु क्रांति की सफल परिणति हो जाने के बाद उसके आदर्श के विरुद्ध, जिसकी झलक स्वतंत्रता की घोषणा से मिलती थी, भावना बढ़ने लगी। क्रांति के आदर्शों के विरुद्ध भावना मुख्यतः वाणिज्य-व्यवसाय में लगे वर्ग में विशेष-रूप से देखी जाती थी। उदाहरण के लिए, अलेक्जेंडर हैमिल्टन ने १७७६ में स्वतंत्रता की घोषणा का समर्थन किया था; परन्तु उसी ने १७८१ में यह विचार भी प्रकट किया कि राष्ट्र को जितना भय शासकों की निरंकुशता का नहीं, उतना फैलने वाली अराजकता का है। उसने बताया कि आरम्भ में अनुभव की कमी तथा प्रशासन का अनुभव न रहने के कारण, उसने भिन्न विचार प्रकट किए थे। हैमिल्टन ने स्वीकार किया कि नागरिक तथा सैनिक मामलों में जो निश्चय किए गए थे, उनमें से अनेक को नए अनुभव के प्रकाश में काल्पनिक अथवा अव्यावहारिक कहा जा सकता है। हैमिल्टन ने जिन दिनों यह बात अपने "कन्टीनेन्टलिस्ट पेपर्स" में कही थी, उन दिनों वह एक अधिक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के पक्ष की वकालत कर रहा था। उसने कहा कि शुरू का शिथिल शासन-संघ तात्कालिक परिस्थिति का एक परिणाम था; किन्तु उस शिथिल संघ को आवश्यक व उचित नहीं माना जा सकता। हैमिल्टन की सेवाओं की जब देश में पर्याप्त कद्र नहीं हुई, तब उसने खीझ कर यहाँ तक कह डाला कि लोकतंत्र

अमरीकी राष्ट्र की एक मूल व्याधि है। उसने उत्तेजित होकर एक स्थान पर कहा है—" राष्ट्र ! आपका राष्ट्र, महाशय, एक जंगली पशु है। " हैमिल्टन की मुख्य दिलचस्पी एक अधिक स्थिर प्रशासन में थी। इसके लिए उसने अपने शुरू के तथा बाद के जीवन में अथक प्रयास किया। उसकी दिलचस्पी स्थिरता में क्रांति समाप्त होने से पहले ही आरम्भ हो गई थी। इसकी झलक हमें नए संविधान की, उसके द्वारा वकालत में भी मिलती है, जो उसने अपने 'फेडरलिस्ट पेपर्स' में की थी। बाद में राष्ट्रपति वाशिंगटन के प्रशासन में वित्तमंत्री के पद पर काम करते हुए भी हैमिल्टन नवोदित अमरीकी राष्ट्र की वित्तीय व्यवस्था को सुदृढ़ करने के समान ही सरकार में भी स्थिरता लाने का सतत प्रयास करता रहा। हैमिल्टन ने स्थिरता को जो इतना महत्त्व दिया, वह केवल इसी कारण नहीं; क्योंकि वह उसकी विचारधारा का अभिन्न अंग थी; बल्कि इसलिए भी, क्योंकि इसकी व्यावहारिक क्षेत्र में भी उपयोगिता थी। हैमिल्टन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र अमरीका का मान बढ़ाना चाहता था और वह दुनिया में उसकी वित्तीय साख को ठोस आधार देना चाहता था। हैमिल्टन की यह कामना केवल इसलिए थी कि वह अमरीका के वाणिज्य का विकास करना चाहता था। इस तरह स्थिरता में उसकी आस्था एक व्यावहारिक उद्देश्य से प्रेरित थी।

शुरू में जॉन एडेम्स भी स्वतंत्रता की घोषणा का समर्थक था। जिस समिति ने वह मसविदा बनाया, उसका वह एक सदस्य था। यह १७७६ की बात है। परन्तु १७८७ में एडेम्स एक भिन्न सिद्धांत की ओर आकृष्ट हुआ, जिसकी जड़ें तो प्राकृतिक व्यवस्था में थीं; किन्तु जिसमें बुद्धि-विवेक की अपेक्षा अनुभव पर अधिक बल दिया गया था। अपनी एक पुस्तक[१] के अन्त में उसने मौन्टेस्क्यू के लोकतन्त्र के सिद्धांत की आलोचना की। उसने कहा कि मनुष्य स्वार्थ से प्रेरित होता है और इसलिए लोकतंत्र का परिणाम एक-मात्र अराजकता ही सम्भव है। जिन दिनों यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, उन्हीं दिनों एडेम्स की आस्था प्राकृतिक उच्च वर्गवाद में थी। एडेम्स ने अपने 'डिस्कोर्सेज ऑन डेविला' (१७९०) तथा अपने मध्य जीवन के अन्य ग्रन्थों में असमानताओं की चर्चा उठाई है। उसने लिखा है कि असमानता सभी तरफ है और ईश्वर तथा प्रकृति ने विश्व का जो ढांचा रचा है, उसमें गहराई तक घुसी हुई है। मनुष्यों

---

१. John Adams : Defense of the Constitutions of Government of the United States.

के बीच असमानताओं के परिणाम-स्वरूप प्राकृतिक उच्च वर्ग बनता है। इस वर्ग में "कुलीन, धनी तथा योग्य" व्यक्ति हैं। प्राकृतिक उच्च वर्गवाद लोक-तंत्रीय देशों में उपाधियाँ हटा देने के बावजूद कायम हैं अपने। जीवन के अंतिम वर्षों में एडेम्स ने प्राकृतिक उच्च वर्गवाद में अपना विश्वास तो बनाए रखा; किन्तु इसमें, उसे लोकतंत्रीय जामा पहनाने का प्रयास किया। उसने कहा कि यह उच्च वर्गवाद दूसरों पर प्रभाव डालने की योग्यता ही है। एडेम्स ने एक अन्य स्थान पर उच्च वर्ग का, उस व्यक्ति को कहा है, जो समाज में दो अथवा उससे अधिक मत प्राप्त कर सकता है।

अन्य जिन लोगों के ग्रन्थों में स्वतंत्रता की घोषणा के विचारों की अस्वीकृति मिलती है, उनमें कनेक्टीकट के डेविड डेजेट और मेसाचुसेट्स के फिशर एम्स थे। डेजेट ने १७९९ के अपने स्वतंत्रता-दिवस के भाषण में जैफर्सन की विचारधारा का कड़ा विरोध किया और कहा कि ये लोग प्रशासन के क्षेत्र में प्रयोगवादी दृष्टिकोण रखते हैं। उसने यह भी कहा कि फ्रांसीसी राज्य-क्रांति की राजनीतिक विचारधारा के प्रतिपादक तथा जैफर्सन के नेतृत्व में इस विचार-धारा से सहानुभूति रखने वाले अमरीकी नागरिकों ने "समाज के मूल्यवान हितों पर खुला तथा करारा आघात किया है।" डेजेट को डर था कि जैफर्सन तथा उसके अनुयायी सम्पत्ति के अधिकारों को नष्ट कर देंगे। वह अमरीका की सरकार में सम्पत्तिवानों के स्वार्थों को प्रतिनिधित्व प्रदान कराने के लिए भी चिन्तित था। फिशर एम्स चाहता था कि शासन-शक्ति सम्पत्तिवानों के हाथों में केन्द्रित रहे; किन्तु वह प्यूरिटनों के इस आदर्श का भी कायल था कि धनिक वर्ग सम्पत्ति के केवल संरक्षक हैं। इस प्रकार सम्पत्ति-संबंधी उसके दृष्टिकोण में कुछ उदारता का भी पुट था। वह गणतंत्रीय संस्थाओं का समर्थन इस शर्त के साथ करता था कि ऐसी संस्थाएँ सार्वभौमिक सत्ता पर आधारित न रहें। फिशर एम्स के विचारों का परिचय उसके ग्रन्थ[१] से मिलता है।

स्वतंत्रता की घोषणा से कदम पीछे हटाने का जो आन्दोलन उठा, उसे १८३० में अलेक्सिस डि टोकेविली नामक फ्रांसीसी की अमरीकी यात्रा से भी बल मिला। उसने एक पुस्तक[२] लिखी, जिसकी बहुत प्रशंसा हुई। डि टोकेविली स्वयं

१. Fisher Ames : On the Dangers of American Liberty.

२. Alexis de Tocqueville : Democracy in America.

एक उच्च वर्गीय सम्भ्रांत व्यक्ति था। उसका कहना था कि जनता के सार्वभौमिक अधिकारों की स्वीकृति के कारण अमरीका में लोकतंत्र का भविष्य धूमिल है। उसके विचारों को अनेक अमरीकियों ने वेद-वाक्य माना, विशेषकर उन लोगों ने, जो साधारण जन के हाथ शक्ति देने से डरते थे।

जब कि एक तरफ अमरीका के कट्टरपंथी राजनीतिक नेता समानता के सिद्धांत से इस प्रकार पीछे हट रहे थे, वहाँ दूसरी तरफ जैफर्सन के दल को, विशेषकर दक्षिण में, स्वतंत्रता के सिद्धांत का दासता की परम्परा से सामञ्जस्य क़ायम करने में कठिनाई का अनुभव हो रहा था। दासता का प्रश्न संविधान परिषद् में भी उठा था; किन्तु एक दोहरे समझौते के द्वारा उसे टाल दिया गया। दासता की प्रथा का अन्त करने के स्थान पर प्रतिनिधियों ने दासों का व्यापार खत्म किया; परन्तु दासों का व्यापार तत्काल खत्म करने के स्थान पर प्रतिनिधियों ने २० वर्ष तक, यानी १८०८ तक उसे जारी रखने और उसके बाद उसे खत्म करने की अनुमति कांग्रेस को दे दी। इस दोहरे समझौते के परिणामस्वरूप एक बड़ी विषम बौद्धिक तथा सामाजिक समस्या अमरीका के जीवन में उत्पन्न हो गई।

यद्यपि टामस जैफर्सन स्वयं दासों का स्वामी था, फिर भी उसने दास-प्रथा का उग्र विरोध किया; परन्तु कैरोलाइन के जॉन टेलर ने, जो अन्य सभी बातों में जैफर्सन का अनुसरण करता था, दासता के प्रश्न पर डेमोक्रेटिक दल को जैफर्सन की विचारधारा से अलग हटाने का प्रयास किया। टेलर ने कृषि-संबंधी अपने निबन्धों में यह तर्क उपस्थित किया कि यूनान और रोम जैसे दासों पर निर्भर रहने वाले राष्ट्रों ने महान् नागरिकों को जन्म दिया था और स्वयं जैफर्सन इस बात का उदाहरण है कि अमरीका में दास-प्रथा से जनता की उन्नति होगी। उसने कहा कि दास-प्रथा से स्वामियों के चरित्र में सुधार होता है और उनमें अच्छे-बुरे के बीच भेद करने की क्षमता जागृत होती है। परन्तु टेलर कभी यह नहीं कह सका कि दास-प्रथा एक विशुद्ध वरदान है, जैसा कि टामस ड्यू और जॉन सी० कैल्हुन ने दावा किया।

ड्यू ने जर्मनी में शिक्षा पाई थी। अमरीका वापस आने पर उसे वर्जीनिया की विधान-सभा में राज्य में दासता-निषेध विधेयक पर वाद-विवाद सुनने को मिला। दासता की प्रथा तोड़े जाने की संभावना से टामस ड्यू काँप उठा। दासों को अधिकारों से वंचित करने के लिए ड्यू ने मानव-अधिकारों के मूलभूत सिद्धांत पर भी कुठाराघात किया। दासता के पक्ष में यह तर्क उपस्थित करने के कारण उसे विलियम एंड मेरी कालेज की अध्यक्षता प्रदान की गई।

कैलहुन ने दास-प्रथा को ठोस आधार प्रदान करने के उद्देश्य से एक विशेष राजनीतिक विचारधारा के विकास का प्रयत्न किया। ड्यू की तरह उसने भी स्वतंत्रता की घोषणा में उल्लिखित प्रगतिशील विचारों से मुँह फेर लिया। उसने यह सिद्धांत भी अस्वीकृत कर दिया कि शुरू में मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहता था और उसके बाद 'सामाजिक प्रतिज्ञापत्र' के द्वारा समझौता हुआ और सरकारों की स्थापना हुई। उसने कहा कि सरकारों के द्वारा मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता है। यदि शुरू में प्राकृतिक अवस्था नहीं थी, तो मनुष्य के प्राकृतिक अथवा अखंडनीय अधिकार भी नहीं हो सकते और जो कुछ भी अधिकार मनुष्य को प्राप्त हैं, वे उसे प्रशासन में भाग लेने के परिणामस्वरूप उपलब्ध हैं। सुरक्षा सरकार का आधारभूत लक्ष्य है और स्वतंत्रता की वह प्रथम आवश्यकता है। स्वतंत्रता समाज के बीच ही सम्भव है और सुरक्षा पर वह निर्भर है। कैलहुन ने कानून के आगे समानता का सिद्धांत स्वीकार किया; किन्तु साथ ही यह भी कहा कि इस अपवाद के सिवा समानता का सिद्धांत निराधार है। कैलहुन के विचार से असमानता के आधार पर ही प्रगति संभव है। इस आधार पर उसने बहुमत के विरुद्ध एक वर्गीय स्वार्थ की रक्षा का रास्ता निकालने का प्रयास किया। अपने राजनीतिक जीवन के अंतिम १५ वर्ष कैलहुन ने दक्षिणी राज्यों के स्वार्थों की रक्षा करने में व्यतीत किए और विधान-सभा में राज्यों के अधिकारों की रक्षा के लिए लड़े गए अनेक संघर्षों का नेतृत्व किया। इस प्रकार दास-प्रथा को कायम रखने के पक्ष में जो आन्दोलन उठा, उसमें कैलहुन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

दासता के पक्ष में जो विवाद उठाया गया, उसके कई पहलू थे। यहाँ हमारा सम्बन्ध दासता के पक्ष में किए गए दार्शनिक विवेचन से है। यह विवेचन हमें अलबर्ट टेलर ब्लेड्सो के ग्रंथ[1] में मिलता है, जो वर्जीनिया विश्वविद्यालय में गणित का अध्यापक था।

ब्लेड्सो ने नागरिक स्वाधीनता की व्याख्या के परंपरागत स्वरूप की आलोचना की। उसने कहा कि नागरिक स्वाधीनता मनुष्य के सामाजिक अवस्था में आने के बाद प्राकृतिक स्वाधीनता का अवशिष्ट अंश नहीं है। उसने यह भी कहा कि नागरिक स्वाधीनता की यह व्याख्या तभी लागू हो सकती है, जब प्राकृतिक

१. Albert Taylor Bledsoe: Essay on Liberty and Slavery.

स्वाधीनता को मनुष्य का मनमाना कार्य करने का अधिकार मान लिया जाय। ब्लेड्सो ने कहा कि स्थिति इससे ठीक उल्टी है। नागरिक स्वाधीनता से आशय यह है कि मनुष्य ईश्वर की इच्छा के अनुरूप कार्य करे। उसके मतानुसार मनुष्य के समाज में प्रवेश करने का असर उसकी स्वाधीनता पर नहीं पड़ता। मनुष्य द्वारा कोई संगठन बना लेने पर वह अपने किसी अधिकार को छोड़ता नहीं है। यह संगठन मनुष्य को उसके अधिकारों का उपभोग करने की स्वाधीनता उपलब्ध करता है। सार्वजनिक व्यवस्था सुरक्षा का आधार है। दासता का औचित्य इसलिए माना गया; क्योंकि सार्वजनिक व्यवस्था के लिए वह आवश्यक है।

ब्लेड्सो के इस मनोरंजक तर्क के विस्तार में जाना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। हमें तो केवल इतना ही जान लेना है कि दक्षिण में जैफर्सन की परम्परा ने स्वतंत्रता के सिद्धान्तों की घोषणा पर आक्रमण का रूप उसी तरह धारण कर लिया, जिस तरह उत्तर के फेडरलिस्टों तथा ह्विगों के आन्दोलन ने धारण किया था। क्रांतिकारी युग के आदर्शों की प्रतिक्रिया किसी वर्ग तक सीमित न होकर राष्ट्रव्यापी थी।

यदि एक तरफ लोकतंत्रीय आदर्शों के प्रति विमुखता की लहर उठी, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, उसी तरह धार्मिक कट्टरता ने अपना सिर इस काल में उठाया। क्रांति के काल में धर्म के संगठित रूप की उपेक्षा ने व्यापक रूप धारण कर लिया था और विश्वास की अभिनव परम्पराएँ फैल गई थीं; किन्तु शताब्दी के समाप्त होते-होते यह दौर विपरीत दिशा की ओर उलट गया। १९वीं शताब्दी के प्रथम दशक में राष्ट्रीय तथा क्षेत्रिक आधार पर धार्मिक संस्थाएँ कायम हुईं। विशेषकर सीमा के निकट धार्मिक पुनरुत्थान की शक्तिशाली प्रवृत्तियाँ दिखलाई देने लगीं और धर्म-परिवर्तन का कार्य भी हुआ। पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय जैसी धर्म-निरपेक्ष शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक पुट आ गया। जिन संस्थाओं को जातीय आधार पर कायम किया गया था, उनके विद्यार्थियों में धार्मिक जीवन को प्रधानता मिलने लगी। धर्म और राजनीति की पृथकता को भंग करने के भी अधूरे प्रयत्न किए गए। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अमरीका के जीवन में धर्म की स्थिति में सुधार हुआ।

इस काल में धर्म और विज्ञान के बीच कुछ विरोध के लक्षण भी प्रकट हुए, जिन्होंने बाद में विकासवादी सिद्धांत के प्रसंग में गम्भीर संघर्ष का रूप धारण कर लिया। इस युग की कट्टरवादी प्रक्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश यह

था कि धार्मिक सिद्धांत वैज्ञानिक खोजों की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य हैं। विज्ञान और धर्म में जहाँ कहीं विरोधाभास जान पड़े, वहाँ धर्म के मौलिक सत्य के साथ विज्ञान का सामंजस्य होना चाहिए। इस विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादक विलियम्स कॉलेज के मार्क हापकिन्स, एमहर्स्ट के एडवर्ड हिचकोक तथा हार्वार्ड के एंड्र्यू प्रेस्टन थे। इन लोगों का तरीका विविध वैज्ञानिक सामग्री से उन तथ्यों को छाँट निकालना था, जिनका धर्म से सामंजस्य स्थापित किया जा सकता था। इस तरह हिचकोक ने दावा किया कि प्रकृति के कार्य-कलाप में ईश्वर स्वेच्छा से हस्तक्षेप करता है। और अपने कथन की पुष्टि में कतिपय वैज्ञानिक तथ्यों का हवाला दिया। १८५२ में मेसेचुसेट्स होम मिशनरी सोसाइटी में प्रवचन करते हुए उसने एक रासायनिक सिद्धांत को धार्मिक क्षेत्र में लागू किया। उसने अपने ग्रन्थों में धर्म की सेवा के लिए विज्ञान से सहायता ली।

१८३८ में न्यूयार्क विश्वविद्यालय का टेलर लीविस इस दिशा में और भी आगे बढ़ गया। उसने कहा कि धर्म से अलग हो कर विज्ञान अपनी आत्महत्या कर लेता है। लीविस का विचार था कि १९वीं शताब्दी में विज्ञान धर्मविरोधी तो नहीं था; किन्तु उसकी भावना विजातीय थी। इसके लिए उसने तीन कारण बताए। उसका पहला कारण यह था कि विज्ञान के अध्ययन का वास्तविक उद्देश्य व्यावहारिक उपयोगिता बताया जाता रहा है, मन का परिष्कार नहीं। दूसरा कारण उसने यह बताया कि नैतिक विज्ञान की अपेक्षा भौतिक विज्ञान को श्रेष्ठ माना गया है। तीसरा कारण उसने यह बताया कि निरीक्षण, प्रयोग, तर्क की अनुमान-प्रणाली आदि तरीकों से विज्ञान धर्म से दूर चला जाता है। विज्ञान इन्द्रियजनित ज्ञान को महत्त्व देता है। लीविस के विचार में इन्द्रियजनित ज्ञान तथा धार्मिक आस्था में प्रतिद्वन्द्विता तब तक चलती रहनी चाहिए, जब तक धार्मिक आस्था अपने प्रतिद्वन्द्वी को पूर्णतः पराजित न कर ले और उसे दर्शन, विज्ञान और राजनीति की एक-मात्र अधिष्ठातृ न मान ली जाय।

इस तरह, राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिक्रिया स्वतंत्रता की घोषणा में उल्लिखित सत्यों से दूर हटाने और अधिकारवादिता की आवश्यकता प्रकट करने के रूप में उपस्थित हुई। धार्मिक क्षेत्र में प्रतिक्रिया ने प्राकृतिक धर्म तथा वैज्ञानिक भावना के विरोध को प्रोत्साहन दिया। दार्शनिक क्षेत्र में प्रतिक्रिया ने विचार की स्वाधीनता पर आघात किया। इस प्रकार, १९वीं शताब्दी के अमरीका में दार्शनिक पठन-पाठन ने शास्त्रीय परिपाटी की ओर प्रगति की और बौद्धिक स्वातंत्र्य की भावना को शिथिल बना दिया। यह परिवर्तन अमरीकी विद्यालयों

में दार्शनिक प्रशिक्षण को एक विशेष दिशा प्रदान करने से सम्भव हो सका। उस समय दार्शनिक रूढ़िवादिता को दो कारणों से प्रोत्साहन मिला—एक विशिष्ट दार्शनिक प्रणाली को मान्यता दिया जाना और दूसरे शिक्षा के तरीके में भी तदनुरूप परिवर्तन होना। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में दर्शन के पठन-पाठन में ये दोनों परिवर्तन किए जा चुके थे।

इन दिनों दार्शनिक शिक्षा में स्काटिश-प्रणाली को विशेष महत्त्व प्राप्त था। १९वीं शताब्दी के आगे बढ़ने पर जर्मन-दर्शन के तत्त्वों का समावेश किया गया, किन्तु यह ध्यान रखा गया कि किसी ऐसी बात को न ग्रहण किया जाय, जो मूल अमरीकी विचारधारा के विरुद्ध पड़ती हो। स्काटिश-प्रणाली के साधारण विवेक तथा वास्तविकता की उपयोगिता यह थी कि उसमें प्रोटेस्टेंट मान्यताओं और विशेषकर काल्विनिष्ट सम्प्रदाय की विचारधारा के विरुद्ध कुछ न था। क्रान्ति के बाद अमरीका के अधिकांश विद्यालयों को किसी-न-किसी धार्मिक सम्प्रदाय का समर्थन प्राप्त था। इन विद्यालयों में यद्यपि सभी सम्प्रदायों तथा वर्गों के विद्यार्थी पढ़ते थे और उन्हें आर्थिक सहायता भी सभी से मिलती थी, फिर भी उनका प्रबंध विशेष धार्मिक सम्प्रदाय के लोग ही करते थे। यद्यपि स्काटिश दर्शन-प्रणाली पर धर्म का विशेष प्रभाव न था; किन्तु फिर भी वह अमरीका के प्रोटेस्टेन्ट विद्यालयों को इसलिए स्वीकार्य थी, क्योंकि उसमें काल्विनिस्ट विचारधारा के विरुद्ध कुछ नहीं था।

क्रमिक शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा की आवश्यकताओं के प्रति ध्यान दिया जाय, शिक्षा की सामग्री की व्यवस्था होनी चाहिए और पाठ्य पुस्तकें तैयार होनी चाहिए। १९वीं शताब्दी में दार्शनिक पाठ्य पुस्तकें बड़ी संख्या में तैयार की गईं। ये पुस्तकें विद्यालयों के पादरी-अध्यक्षों द्वारा तैयार की गई थीं, जिन्हें एक लेखक ने उचित ही "प्राचीन परम्परा की ध्वज-वाहक" कहा था। इन पाठ्य पुस्तकों का प्रभाव दार्शनिक अध्ययन के क्षेत्र पर भी पड़ा। नई स्थिति में दार्शनिक अध्ययन ने उपलब्ध सामग्री को कंठ कर लेने तथा शिक्षक के सम्मुख उसे दुहराने का रूप धारण किया। इस प्रसंग में फ्रांसिस वेलैंड के निम्न शब्द शिक्षाप्रद हैं, जो उसने अपनीपु स्तक[१] की भूमिका में लिखे थे—"बौद्धिक दर्शन के उल्लेखनीय सत्यों को मैंने उपस्थित करने तथा समझाने की

१. Francis Wayland : Elements of Intellectual Philosophy.

चेष्टा की है, उनके आधार पर किसी परिणाम पर पहुँचने की नहीं।" वेलैंड अपने समय के अध्यापकों में सबसे अधिक रूढ़िवादी नहीं था; किन्तु वह भी रूढ़िवादी दर्शन के अध्यापन से मुक्त नहीं था। उपर्युक्त उद्धरण में वेलैंड ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि उसका उद्देश्य 'सत्यों' को उपस्थित करना तथा समझाना ही है, विवेक को प्रेरणा प्रदान करना अथवा अनुसंधान की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना नहीं है। यदि वेलैंड ऐसा करता, तो उसे उपलब्ध सामग्री से परिणाम निकालने की आवश्यकता पड़ सकती थी।

प्रतिक्रिया के काल से पूर्व दर्शन के अध्ययन का उद्देश्य बौद्धिक अन्वेषण होता था और दर्शन-शास्त्र स्वयं कोई पाठ्य विषय नहीं रहता था। उस समय दर्शन से समस्याओं के प्रति ग्रहण किए गए दृष्टिकोण का बोध होता था, निकाले हुए परिणामों का नहीं। सैमुएल स्टेनहोप स्मिथ ने, जब वह प्रिस्टन विद्यालय का अध्यक्ष था, कहा था कि दर्शन-शास्त्र भौतिक तथा नैतिक जगत् में प्रकृति के नियमों तथा उसकी रचना का परीक्षण है। इस परीक्षण में दैवी प्रकाश की सहायता अनपेक्षित है और जहाँ तक मानव-मन की शक्ति पहुँचती है, वहीं तक यह परीक्षण होना चाहिए। एलिफलेट नोट ने भी, जो सुदीर्घकाल तक यूनियन विद्यालय का अध्यक्ष रहा था और जो दर्शन का अध्यापक होने का दावा नहीं करता था, लार्ड केम्स की पुस्तक[1] के आधार पर दर्शन का एक आडम्बरहीन पाठ्यक्रम तैयार किया। फ्रेडरिक डबल्यू० सी० वार्ड ने, जो अब्राहम लिंकन के समय एक सरकारी अधिकारी था, इस पाठ्यक्रम की चर्चा की है। उसने कहा है कि उपर्युक्त पाठ्यक्रम में मानवीय प्रकृति के व्यापक अध्ययन की व्यवस्था थी, जिसमें भौतिक, नैतिक तथा बौद्धिक दर्शन को सम्मिलित रूप में उपस्थित किया गया था और फिर उसे कारबार, राजनीति तथा धर्म के क्षेत्रों में व्यावहारिक रूप से लागू करने का प्रयास किया गया था। वेलैंड द्वारा अपने प्रारम्भिक जीवन में तैयार की गई एक लोकप्रिय पुस्तक[2] की भूमिका के स्वर से, जो आडम्बर तथा उपदेश से भरा था, यह बिल्कुल भिन्न था। वेलैंड ने अपनी भूमिका में लिखा था—"मैंने कहीं भी विस्तार में जाकर विवाद नहीं उठाया है और केवल नैतिक नियमों को बताने तथा उनके कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयास कम-से-कम शब्दों में किया है।" यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि

---

१. Lord Kames : Elements of Criticism.

२. Francis Wayland : Elements of Moral Science.

उपर्युक्त शब्दों का लेखक वेलैंड एलिफलेट नोट के संरक्षण में रह कर दर्शन पढ़ चुका था। अस्तु, दर्शन के अध्ययन में आडम्बर की वृद्धि सांस्कृतिक परिस्थिति की आवश्यकता के कारण हुई।

स्काटिश दर्शन के रूढ़िवादी स्वरूप ग्रहण कर लेने पर दर्शन-शास्त्र कई विषयों में बँट गया। शुरू में इसके दो भाग ही किए गए—एक नैतिक दर्शन, जिसे नैतिक विज्ञान भी कहा जाता था, और दूसरा, मानसिक दर्शन अथवा मानसिक विज्ञान। मानसिक दर्शन अथवा मानसिक विज्ञान में मुख्य विषय था कि मनुष्य को ज्ञान किस प्रकार होता है। इसका सम्बंध मन की अवस्था अथवा मनोविज्ञान से भी था। आंशिक रूप से इसका ताल्लुक बाह्य जगत् से मन के सम्बंध से भी था, जिसे ज्ञान का सिद्धांत अथवा ज्ञान मीमांसा ( Epistemology ) भी कहा जाता है। इसमें मन के विचार के तरीके, तर्क-शास्त्र तथा उन मौलिक सत्यों का अध्ययन भी सम्मिलित है, जिन्हें मनुष्य सहज अनुभूति द्वारा प्राप्त करता है और जिसके आधार पर वह अपनी विचारधारा को आगे बढ़ाता है। इस पिछले अंश को तत्त्वमीमांसा कहा जाता है। क्रमशः मानसिक दर्शन की इन विभिन्न शाखाओं के अंतर्गत विस्तृत ज्ञान संकलित हो गया और प्रत्येक शाखा का विषय अलग से पढ़ाया जाने लगा और उसके लिए पृथक् पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता पड़ने लगी। इस काल में येल के नोआपोर्टर जैसे अध्यापकों ने विशेष पुस्तकें लिखीं। पोर्टर की पुस्तक का महत्त्व अमरीका में मनोविज्ञान के विकास के क्षेत्र में बहुत अधिक है। प्रिन्स्टन के जेम्स मेकॉश तथा यूनियन विद्यालय के लॉरेन्स पर्स्यूस हिकौक जैसे विद्वानों ने अपने पाठ्य ग्रंथों में समस्त दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र पर लिखा। मेकॉश ने स्काटिश-परम्परा का अनुसरण किया। दूसरी तरफ हिकौक की विचारधारा जर्मन प्रणाली से प्रभावित हुई।

इस रूढ़िवादी तथा कट्टरपंथी युग में दर्शन पर असंख्य ग्रंथ लिखे गए। निर्दिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पृथक् ग्रंथ तैयार किए गए। केन्द्रीय विद्यालय के लीकेस्टर ए० सायर ने एक धार्मिक सम्प्रदाय को एक दार्शनिक आधार प्रदान करने के लिए अपनी पुस्तक की रचना की। वेस्टपाइन्ट-स्थित अमरीकी सैन्य-विद्यालय में पढ़ाने के लिए नैतिक दर्शन पर एक अलग ग्रन्थ की रचना की गई। इन सभी ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत अंतर रहता था; किन्तु उनकी मौलिक पृष्ठभूमि एक-जैसी ही होती थी। इस विस्तृत साहित्य के बीच हम फ्रांसिस वेलैण्ड की आचार-संबंधी विचारधारा व उसके विज्ञान के दर्शन, लारेन्स पर्स्यूस हिकौक

की बुद्धिवादी पद्धति तथा नोआपोर्टर के ज्ञान के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत पर विस्तार से विचार करेंगे। इनमें से प्रत्येक ग्रंथकार की विचारधारा स्काटिश दर्शन की सीमाओं को पार कर गई थी, यद्यपि उनमें से प्रत्येक में उसकी वास्तविकता का पुट था। इन लोगों ने स्काटिश-प्रणाली की वास्तविकता को उसके परिवर्तित तथा संशोधित रूप में ग्रहण किया था। हमारी मुख्य दिलचस्पी इन परिवर्तनों तथा संशोधनों में है।

# फ्रांसिस वेलैंड : दर्शन का अध्यापक

१८२७ में फ्रांसिस वेलैण्ड एक बैप्टिस्ट संस्था ब्राउन-विश्वविद्यालय का अध्यक्ष निर्वाचित हुआ। जिस समय ऐसा हुआ, वह मुश्किल से ३१ वर्ष का था और अध्यापन का भी कोई उल्लेखनीय अनुभव उसे नहीं प्राप्त था। ब्राउन विश्वविद्यालय की अध्यक्षता प्राप्त होने का कारण तीन वर्ष पहले का उसका एक प्रवचन[१] था। जिस समय यह प्रवचन किया गया, उस समय न तो कोई सनसनी फैली और न उसके कारण वेलैंड को कोई विशेष ख्याति ही प्राप्त हुई। वेलैंड ने दूसरे दिन अपने एक मित्र से कहा था कि प्रवचन पूर्णतः असफल रहा और उसका कुछ भी असर नहीं हुआ; परन्तु एक श्रोता जो प्रकाशक भी था, यह ताड़ गया कि युवा पादरी ने एक श्रेष्ठ निबन्ध को प्रवचन का रूप दे डाला है। उसने वेलैंड से उसे छपाने की अनुमति प्राप्त कर ली। प्रवचन के रूप में जो कृति असफल रही थी, उसने निबन्ध के रूप में महान् सफलता प्राप्त की। अमरीका में उसके कितने ही संस्करण धड़ाधड़ बिक गए और इंगलैंड से भी संस्करण प्रकाशित करने की मांग आई। वेलैंड के इस व्याख्यान का प्रभाव उसके सम्प्रदाय के बाहर व्यापक रूप से हुआ। विद्वानों की मंडली में इस कृति को आदर प्राप्त हुआ।

युवा पादरी वेलैंड यूनियन कालेज का स्नातक था और स्काटिश दर्शन के मूल तत्वों का अध्ययन कर चुका था। यूनियन विद्यालय का अध्यक्ष एलिफलेट वेलैंड का बहुत आदर करता था। स्नातक होने के बाद वेलैंड ने डाक्टरी पढ़ना शुरू किया था, किन्तु धार्मिक अध्ययन के प्रति अभिरुचि होने के कारण उसने उसे छोड़ दिया और एक धार्मिक विद्यालय में भर्ती हो गया। वेलैंड का यह एक असाधारण कदम था, क्योंकि बैप्टिस्ट चर्च में पादरियों के बाकायदा

---

१. Francis Wayland : The Moral Dignity of the Missionary Enterprise.

शिक्षा प्राप्त करन की प्रथा नहीं थी। अमरीका के अपने समय के एक सबसे प्रसिद्ध धर्मशास्त्री प्रोफेसर मोसेस स्टुअर्ट का ध्यान वेलैण्ड ने आकृष्ट किया। स्टुअर्ट की सलाह पर उसने बोस्टन के बैप्टिस्ट गिरजे का पादरी बनना स्वीकार कर लिया। ऐसा करने में उसका उद्देश्य इस सम्प्रदाय में पठन-पाठन को प्रोत्साहन देना था। प्रचारक के रूप में वेलैण्ड को जो इतनी सफलता मिली, उसका मुख्य कारण यह था कि वह अपने प्रवचनों में भावना तथा तर्क दोनों का समन्वय करता था; परन्तु वेलैण्ड को श्रोताओं की अपेक्षा अपने पाठकों से कहीं अधिक आदर प्राप्त होता था।

१८२६ में वेलैण्ड यूनियन विद्यालय में गणित तथा प्राकृतिक दर्शन का अध्यापक नियुक्त हुआ। वहां वह अपना कार्य ठीक तरह आरम्भ भी न कर पाया था कि ब्राउन-विश्वविद्यालय का अध्यक्ष निर्वाचित हो गया। इस पद पर उसने अपने जीवन के २८ वर्ष व्यतीत किए। जब उसने इस पद का भार सँभाला, ब्राउन-विश्वविद्यालय की अवस्था ठीक नहीं थी। आपसी झगड़े तथा विद्यार्थियों की अनुशासन-हीनता का बोलवाला था। वेलैंड ने वहां के वातावरण में सुधार किया और ब्राउन को न्यू इंगलैंड की एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-संस्था बना दिया। विद्यालयों के अध्यक्षों के बीच उसका विशेष स्थान इसलिए था, क्योंकि वह उच्च शिक्षा के सुधार में दिलचस्पी लेता था। वेलैण्ड के समय से पूर्व विद्यालयों की शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य ईसाई-धर्म-प्रचारक तैयार करना था। यद्यपि अब अधिकाधिक विद्यार्थी लौकिक क्षेत्रों में पदार्पण करने के लिए विद्याध्ययन करते थे, फिर भी विद्यालयों का ढाँचा बहुत कुछ पूर्ववत् ही बना हुआ था। विद्यालयों के अध्यक्षों में वेलैंड सब से पहला व्यक्ति था, जिसने लौकिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा-प्रणाली में सुधार करने की बात उठाई। उसकी योजना का सब से उल्लेखनीय प्रस्ताव यह था कि विद्यार्थियों को चुनाव के लिए वैकल्पिक विषयों का अधिक विस्तृत क्षेत्र मिलना चाहिए। वेलैंड के इस सुझाव पर बाद में दूसरे विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में अमल किया गया।

१८४० में वेलैण्ड यूरोप गया और उसने जर्मनी, फ्रांस तथा इंगलैंड की उच्च शिक्षा-प्रणालियों का अध्ययन किया। अपने अध्ययन के परिणामों तथा सिफारिशों को उसने १८४२ में पुस्तक[1] के रूप में प्रकाशित किया, बाद में उसने

---

१. Francis Wayland : Thoughts on the Present Collegiate System in the United States.

अनुभव किया कि उसकी सिफारिशों की उपेक्षा कर दी गई और कुछ वर्ष बाद उसने विश्वविद्यालय की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया ; परन्तु उसे अपने पद पर बने रहने को राजी कर लिया गया। १८५० में उसने ब्राउन-विश्व-विद्यालय के पुनर्गठन के लिए अपने विशिष्ट सुझाव उपस्थित किए। विश्व-विद्यालय के संरक्षकों ने उसके सुझावों पर यथाशक्ति अमल किया। वेलैण्ड ने विचार प्रकट किया कि विश्वविद्यालय एक सामाजिक संस्था है और इसलिए उसका लाभ केवल विद्यार्थियों तक सीमित न रहे ; बल्कि सम्पूर्ण समाज को उससे लाभान्वित होना चाहिए। वेलैण्ड ने जो बीजारोपण किया, उसी ने आज " विस्तार " सेवाओं का रूप धारण कर लिया है, जो संयुक्त राष्ट्र अमरीका के विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों की एक विशेषता है। वेलैण्ड की यह दृढ़ धारणा थी कि उच्च शिक्षा का प्रत्यक्ष लाभ समाज को मिलना चाहिए।

उच्च शिक्षा के प्रति दिलचस्पी के अलावा वेलैण्ड सार्वजनिक विषयों में भी गहरी अभिरुचि रखता था। उसकी दिलचस्पी प्रारम्भिक शिक्षा में भी कम नहीं थी। प्रोविडेन्स राज्य में पब्लिक स्कूल के प्रबन्धकों में वह था। उसने रोड आइलैंड राज्य में निःशुल्क शिक्षा की योजना भी बनाई थी। वह अमरीकी शिक्षा-संस्था का प्रथम अध्यक्ष भी निर्वाचित हुआ था। वेलैण्ड की दिलचस्पी जेलों के सुधार में थी और रोड आइलैंड राज्य जेल की सुधार-योजना को आगे बढ़ाने में उसका हाथ था। उसने वेलैण्ड नगर में एक निःशुल्क सार्वजनिक पुस्तकालय भी कायम किया था। वेलैण्ड ने १८३७ में ह्विग-दल की संरक्षण नीति के विरोध में अबाधित व्यापार का समर्थन करने के उद्देश्य से एक पाठ्य पुस्तक[1] लिखी। इसे देखने से प्रकट होता है कि वेलैण्ड अबाधित व्यापार को न केवल संरक्षण नीति की अपेक्षा उत्तम मानता था, बल्कि दार्शनिक दृष्टि से भी वह उसे अधिक उचित और न्यायपूर्ण समझता था। वेलैंड की आर्थिक विचारधारा उसके एडेम स्मिथ के अध्ययन का परिणाम थी।

दास-प्रथा के विवाद के सम्बन्ध में वेलैण्ड की स्थिति इतनी अस्पष्ट थी कि उसे दासता-विरोधी तथा इस प्रथा को तोड़ने का विरोधी दोनों ही कहा जा सकता है। १८३५ में उसने अपनी पुस्तक 'दि एलिमेन्ट्स आव मॉरल साइन्स' में मत प्रकट किया कि दासता मनुष्य की भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक

---

१. Francis Wayland : The Elements of Political Economy.

सत्ता का अतिक्रमण करती है। दासता का प्रभाव स्वामी तथा दास दोनों के लिए हानिकर है। बाइबिल की शिक्षा दासता के विरुद्ध है। धार्मिक ग्रंथ मनुष्य का जो कर्तव्य निर्धारित करते हैं, उनका परिपालन दास-प्रथा के रहते असम्भव है। इस प्रकार दास-व्यवस्था जिस राष्ट्र में हो, उसमें स्वामी का कर्तव्य अपने दासों को तुरंत मुक्त कर देना है। इस मान्यता के बावजूद वेलैण्ड ने कहा कि दास-प्रथा को तोड़ने से स्वयं दासों का ही सब से बड़ा अपकार होगा। वे स्वशासन के अयोग्य हैं। उसने कहा है कि यह एक ऐसी समस्या है, जिसका निर्णय नैतिक दर्शन द्वारा किया जाना असम्भव है। वेलैंड ने दास-प्रथा के सम्बन्ध में अपने कुछ सुझाव दिए। उसने कहा कि चूँकि दास अपने स्वामी के कार्य के परिणामस्वरूप दास बना है; इसलिए स्वामी के लिए उसकी मुक्ति की कठिनाइयों का निवारण करना चाहिए। जब तक कठिनाइयों का निवारण नहीं होता, तब तक दास स्वामी की अधीनता में रहेगा, किन्तु इस कारण नहीं कि स्वामी का दास पर अधिकार है; बल्कि इस कारण कि दास के प्रति उसकी जिम्मेदारी है और वह एक भला काम करने का इच्छुक है। इस प्रकार, दास को दासता के बन्धन में रखते हुए भी स्वामी दास के पाप से मुक्त है। दूसरी तरफ वेलैण्ड का यह भी विचार था कि जहाँ तक दास का सम्बन्ध है, उसे स्वामी के प्रति अपने अनुशासन, अपनी वफादारी तथा अपने आदर में कोई कमी नहीं आने देनी चाहिए। वेलैण्ड ने कहा कि दासों का यह कर्तव्य मनुष्य के प्रति नहीं, बल्कि परमेश्वर के प्रति है। उसके इस तर्क से आघात की तीक्ष्णता कुछ कम अवश्य हुई; किन्तु इन युक्तियों से संतोष किसी को नहीं हुआ।

दक्षिणी राज्यों के दासों के मालिक वेलैण्ड की इस उक्ति से क्रुद्ध हुए कि दास-प्रथा धार्मिक ग्रंथों के निर्देश के विरुद्ध है। इस समस्या को लेकर उसका अपने दक्षिणी प्रतिस्पर्द्धी रिचार्ड फुलर से विवाद छिड़ गया। दूसरी तरफ वेलैण्ड के इस कथन से कि दास की मुक्ति उसके स्वामी की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर है और वह एक राजनीतिक समस्या नहीं है—उत्तरी राज्यों को असंतोष हुआ। १८३७ में वेलैण्ड ने एक निबन्ध लिख कर अपनी सफाई पेश की। उसने कहा कि मनुष्य का नैतिक उत्तरदायित्व उसके निजी कार्यों तक सीमित है और जिस समाज का वह अंग है, उसके कार्यों के लिए उसे जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। दासता की प्रथा को समाप्त करने वालों का कहना था कि प्रत्येक अमरीकी नागरिक दास-प्रथा के पाप का भागी है और वेलैण्ड ने उपर्युक्त उक्ति उसके जवाब में दी थी। यद्यपि वेलैण्ड की पुस्तक 'एलिमेंट्स आव मॉरल साइन्स'

ने दासता की समस्या को कुरेद कर अमरीका के उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों ही भागों को असंतुष्ट कर दिया था, फिर भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इसके बावजूद उपर्युक्त पुस्तक अपने काल की एक सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक थी और प्रकाशित होने के ६० वर्ष के भीतर उसकी २ लाख प्रतियां बिक गई थीं।

वेलैंड की कृति को यह अभूतपूर्व सफलता इसलिए मिली कि स्वतंत्रता तथा समानता की अमरीकी मान्यताओं से हटे बिना वह उस प्रगतिशील आधार का परित्याग कर सका, जिसके ऊपर उपरोक्त मान्यताओं को खड़ा किया गया था और फिर उनके स्थान पर एक वह नया आधार तैयार कर सका था। यद्यपि वेलैंड घोर रूढ़िवादी नहीं था; फिर भी क्रान्ति का अधिकार बनाए रखने के पक्ष में वह नहीं था। साथ ही वह मजिस्ट्रेटों की आज्ञा मानने तथा दासों द्वारा अपने स्वामियों के अनुशासन में रहने के धार्मिक कर्तव्य पर भी बल देता था। वह दूसरे व्यक्तियों को स्वतंत्रता और समानता की सुविधा देने के कर्तव्य पर ( इनके अधिकार पर नहीं ) भी जोर देता था। उसने अपनी नैतिक व्यवस्था का निर्माण धर्मशास्त्रों की ईसाइयों द्वारा की गई व्याख्या तथा ईश्वर के प्रति निजी आस्था के आधार पर किया था। जब वेलैंड ब्राउन-विश्वविद्यालय पहुंचा, उस समय वहां विलियम पेले द्वारा प्रचारित १८वीं शताब्दी की नैतिक प्रणाली प्रचलित थी। वेलैंड ने पेले की प्रणाली को इसलिए अस्वीकृत कर दिया, क्योंकि वह उपयोगितावाद तथा प्राकृतिक धर्म पर आधारित थी। पिछले समय में मनुष्य के अधिकारों पर सर्वाधिक जोर दिया जाता था और उन्हीं के आधार पर तात्कालिक विचारधारा की प्रगति हुई थी। वेलैंड ने अधिकारों के स्थान पर कर्तव्यों पर अधिक बल दिया—ईश्वर के प्रति कर्तव्य, दूसरे मनुष्यों के प्रति कर्तव्य और समाज के प्रति कर्तव्य।

वेलैंड का नैतिक विज्ञान अपने काल के अनुरूप इसलिए भी प्रमाणित हुआ; क्योंकि उसमें उपयोगितावादी दृष्टिकोण को महत्त्व नहीं दिया गया था। वेलैंड जीवन में कभी-कभी गिरजे-घर से शिक्षा के क्षेत्र में चले आने पर खेद प्रकट किया करता था; किन्तु उसकी मृत्यु के दो वर्ष बाद 'एटलांटिक मंथली' नामक पत्रिका में एक लेखक ने लिखा कि इससे वेलैंड के कतिपय धार्मिक उपदेशों से तो जनता अवश्य वंचित रह गई; किन्तु लाभ यह हुआ कि उपयोगितावादी सिद्धान्तों पर उसके द्वारा १०० वर्षों के भीतर सब से करारा

आघात किया जा सका। वेलैंड कहता था कि किसी कृत्य की नैतिकता का मूल्यांकन उसके परिणाम को देख कर नहीं, बल्कि कर्त्ता के इरादे को देख कर करना चाहिए। किसी कार्य का परिणाम चाहे जैसा हो, मनुष्य का दोष उसके इरादे को जानने के बाद ही माना जाना चाहिए और ऐसा करते समय यह विचार नहीं होना चाहिए कि उसके कार्य का परिणाम सुखकर अथवा दुःखकर हुआ है। यदि किसी व्यक्ति का इरादा बुरा है, तो योजना असफल हो जाने पर बुराई मिट नहीं जाती और यदि किसी व्यक्ति का इरादा अच्छा रहा हो और अच्छाई नहीं हुई हो, तो उसे दोषी नहीं माना जा सकता। हमारे कार्य के परिणामस्वरूप दूसरे को कष्ट पहुँच सकता है; किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इसके लिए हमें दोषी माना जाय। यदि न्याय के हित में हम किसी को कष्ट पहुँचाते हैं, तो कहा जा सकता है कि वह कष्ट पहुँचाने के योग्य था और उसे कष्ट मिलना उचित ही हुआ। इस मामले में कष्ट तो पहुँचाया गया; किन्तु इरादा किसी को हानि पहुँचाने का नहीं था। यदि कष्ट पहुँचाते समय हमारा इरादा किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाने का रहता है, तो हम सचमुच अपराधी होते हैं। उदाहरण के लिए निर्ममता, द्वेष, बदला तथा जानबूझ कर बदनाम करने की प्रवृत्तियाँ अपराध के मूल में रहती हैं। इरादा उस समय भी अनुचित होता है, जब उसका लक्ष्य कोई दूसरा व्यक्ति नहीं, हम स्वयं होते हैं, जैसे कि अपने पड़ोसी के हिताहित का विचार किए बिना अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए हम कोई कार्य करें, दार्शनिक कांट का, जिसकी कृतियों के अध्ययन का अवसर वेलैंड को नहीं मिला था, विचार था कि मनुष्य अपने ही लिए जीवित रहता है और इसलिए कोई दूसरा व्यक्ति उसे अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति का साधन नहीं बना सकता। वेलैंड ने इसी बात को रूढ़िवादी ढंग से कहा कि स्रष्टा ने मनुष्य को निजी स्वार्थ की सिद्धि के लिए उसे किसी दूसरे व्यक्ति के सुख को नष्ट करने का अधिकार नहीं प्रदान किया।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि वेलैंड ने नैतिकता पर दैवी स्वीकृति की मुहर अप्रत्यक्ष रूप से लगाने का प्रयास किया। यद्यपि वेलैंड नैतिक विज्ञान अथवा आचार-शास्त्र की बातें करता था फिर भी उसका मतलब यह कदापि नहीं था कि आचार-विज्ञान भौतिकी अथवा रासायनिकी की तरह प्राकृतिक विज्ञान है। इसके विपरीत, वह प्राकृतिक विज्ञान को ही धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत लाना चाहता था। यह प्रयास उसने १८३१ के अपने एक व्याख्यान में किया भी था। व्याख्यान की मुख्य बात यह थी कि एक ईसाई वैज्ञानिक किसी विधर्मी

वैज्ञानिक की अपेक्षा खोजों की भविष्यवाणी अधिक सफलतापूर्वक कर सकता है। वेलैंड ने कहा कि जबकि विधर्मी वैज्ञानिक नवीन खोजों के व्यावहारिक उपयोग की चेष्टा करेगा, वहाँ ईसाई वैज्ञानिक विशुद्ध वैज्ञानिक बुद्धि से विज्ञान की उन्नति में लगा रहेगा। वेलैंड का यह दृष्टिकोण विशेष महत्त्वपूर्ण इसलिए है; क्योंकि इससे वैज्ञानिक विचारधारा के अलावा ज्ञान के सम्बन्ध में उसके सिद्धान्त पर भी प्रकाश पड़ता है।

वेलैंड की उपर्युक्त विचारधारा से लॉक के पुराने विचार का ही समर्थन होता था कि मनुष्य जन्मजात प्रत्ययों को लेकर उत्पन्न नहीं होते; बल्कि उनका मन एक ऐसी कोरी पट्टी के समान है, जिस पर ज्ञान की कोई रेखा अंकित नहीं रहती। वेलैंड ने इस विचार को अपने ढंग से आगे बढ़ाया। उसने स्काटिश दार्शनिकों के इस कथन की पुष्टि की कि यद्यपि मनुष्य के मन पर शुरू में ज्ञान की कोई रेखा अंकित नहीं रहती; फिर भी उसके मन में ज्ञान की ज्योति अनिवार्य रूप से जग उठती है, उसने कहा कि मन की प्रकृति जानना है और दृश्य-जगत् की प्रकृति यह है कि कोई उसे जाने। मनुष्य में ज्ञान की जिज्ञासा होती है और जितना ही इस जिज्ञासा को तुष्ट करने का प्रयास किया जाता है, उतनी ही वह बढ़ती है; परन्तु मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति इसलिए नहीं होती कि उसमें जिज्ञासा है अथवा दृश्य-जगत् जानने के लिए है, बल्कि ज्ञान की प्राप्ति मनुष्य को इसलिए होती है कि उसमें कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनका उपयोग करने से सत्य का ज्ञान अनायास रूप से हो जाता है।

स्काटिश दार्शनिकों की तरह वेलैंड ने भी ज्ञान की प्राप्ति के साधन के रूप में अनुमान के आधार पर विचार करने को महत्त्व दिया। उसने कहा कि ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में पहला कदम तथ्यों का निरीक्षण करना है और इन्द्रियों की सहायता से यह जानना है कि कतिपय वस्तुओं का अस्तित्व है और उनमें निरन्तर कुछ परिवर्तन हो रहे हैं। जैसे-जैसे निरीक्षण के द्वारा वस्तुओं के अस्तित्व तथा उनमें होने वाले परिवर्तन के सम्बन्ध में मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसे यह भी स्पष्ट होता जाता है कि प्रकृति का यह व्यापार अनायास नहीं होता, बल्कि वह एक व्यवस्था और क्रम के अनुसार चलता है। शुरू में मनुष्य को इस क्रम का आभास-मात्र होता है; किन्तु आभास से मनुष्य को और सावधानी से निरीक्षण की प्रेरणा होती है और इस तरह प्रकृति की व्यवस्था उसके आगे अधिक स्पष्टता से प्रकट हो जाती

है। जब एक बार मनुष्य इस क्रम को जान जाता है, तो प्रकृति के नियम का ज्ञान उसे पहली बार होता है। इसके बाद अधिक निरीक्षण तथा ठीक प्रयोगों के द्वारा इस नियम के ठीक स्वरूप का ज्ञान उसे हो जाता है और तब प्रकृति का नियम एक अपरिवर्तनीय तथा विशुद्ध सत्य का रूप धारण कर लेता है। इस ज्ञान का व्यावहारिक परिणाम भी होता है। जब पदार्थों के एक समूह से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का ज्ञान हो जाता है, तो उस समूह के अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती और इस तरह हम कह सकते हैं कि मान्य परिस्थितियों में पदार्थों पर अमुक क्रियाओं के क्या परिणाम होंगे।

इस प्रकार पता चलता है कि कतिपय परिस्थितियों में प्रकृति के नियमों में एकरूपता रहती है। ये नियम विशेष प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में एकरूपता प्रकट करते हुए भी, अन्य प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में विशेषता प्रकट कर सकते हैं। इसलिए हम इस भावना को प्रश्रय नहीं दे सकते कि हमने सभी वस्तुओं तथा सभी वस्तुओं पर लागू होने वाले नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार मानवीय ज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता ही जाता है। वेलेंड की मान्यता थी कि मनुष्य के ज्ञान का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता ही नहीं जाता, वरन् ईश्वर की इच्छा से ही ऐसा होता है। मनुष्य की बुद्धि का प्रयास सदा स्रष्टा की ओर अग्रसर होने का रहता है।

ज्ञान की प्राप्ति सतत् प्रयास के बिना संभव नहीं है। केवल इच्छा करने और प्रयास नहीं करने से, सत्य का ज्ञान असम्भव है। ज्ञान की प्राप्ति की दो विधियाँ हैं। इनमें से पहली विधि को निगमनात्मक (Deductive) विधि कहा जा सकता है। यह हमें स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों से इन सिद्धान्तों के आवश्यक परिणामों की ओर ले जाती है। दूसरी विधि आगमनात्मक (Inductive) कही जाती है। यह विशेष उदाहरणों से शुरू होती है और सामान्य नियमों को निकालने में सहायक होती है। इसके द्वारा जाने हुए परिणामों से उनके पूर्वगामी परिणामों का पता लगाया जाता है। इन दोनों विधियों के द्वारा हम ज्ञान का विस्तार करते हैं। यही दो तरीके हैं, जिनसे प्रकृति के सम्बन्ध में हमारे प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं।

प्रकृति के उत्तरों की व्याख्या करने के लिए कौशल आवश्यक है; किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व इसका है कि क्या और कैसे प्रश्न पूछे जाते हैं? यदि उचित प्रश्न पूछे जाते हैं, तो प्रकृति के प्रश्नों की ठीक व्याख्या की जा सकती

है। इसलिए जिज्ञासा की ठीक पृष्ठभूमि रहना आवश्यक है। इस दिशा में आगे बढ़ते हुए वेलैंड तुल्यता-विज्ञान ( Science of Analogy) पर पहुँचा। वेलैंड ने कहा कि "यह विज्ञान ज्ञान की सीमा पर अवस्थित है और अज्ञान के क्षेत्र में छिपे सत्य की दिशा में निर्देश करता है।" यह विज्ञान वस्तुतः अन्य सभी विज्ञानों का पथ-निर्देशक है। वेलैंड ने कहा कि वस्तुतः ऐसा कोई विज्ञान है नहीं; किन्तु उसके नियमों पर जब प्रकाश पड़ेगा, तो वे कम-से-कम दो स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों पर आधारित रहेंगे। इनमें प्रथम सिद्धान्त यह होगा कि किसी प्रणाली का कोई अंग, जहाँ तक सम्बन्धित सिद्धान्तों का ताल्लुक है, मूल तत्त्व के सम्बन्ध में उस प्रणाली के तुल्य है। दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि एक विवेकशील तथा नैतिक प्राणी अपने स्रष्टा की विशेषताओं से अनुप्राणित होता है।

वेलैंड तर्क करते हुए इस परिणाम पर पहुँचा कि यदि तुल्यता-विज्ञान के उपर्युक्त सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाय, तो यह परिणाम निकलता है कि किसी क्षेत्र का सब से कुशल वैज्ञानिक वही हो सकता है, जो उस प्रणाली की अन्तर्निहित भावना से परिचित होगा और जो "सभी वस्तुओं के आदि कारण" की विशेषताओं का ज्ञान रखता होगा। इस तरह ईसाई वैज्ञानिक एक विधर्मी वैज्ञानिक की तुलना में लाभजनक स्थिति में रहता है। सम्भवतः इसी कारण ईसाइयों ने विज्ञान की उन्नति में प्रमुख रूप से भाग लिया। वेलैंड इस परिणाम पर भी पहुँचा कि नए विज्ञान के लागू होने से विश्व-प्रणाली की जानकारी बढ़ेगी और इस प्रकार ईश्वर के प्रति भी हमारे ज्ञान में वृद्धि होगी और फिर ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान से तुल्यता-विज्ञान की प्रगति होगी।

वेलैंड ने प्राकृतिक विज्ञान तथा धर्म के बीच उस कड़ी को फिर से जोड़ने का प्रयत्न किया, जो ज्ञान और प्रकाश के युग में शिथिल हो गई थी। वेलैंड का जीवन-चरित लिखने वालों ने बताया है कि किस प्रकार उसकी वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचारधारा के बीच कभी-कभी उसका ईसाई-धर्म-प्रचारक का रूप प्रमुखता प्राप्त कर लेता था। तुल्यता-विज्ञान की चर्चा करने के बाद वेलैंड ने एक स्थल पर बताया था कि अपने तथा अमरीकी विद्यालयों के अन्य पादरी अध्यक्षों द्वारा दार्शनिक विवेचन का उद्देश्य क्या रहा है। उसने कहा कि विज्ञान के क्षेत्र में जो अन्वेषण हुए हैं, उनसे धर्मग्रन्थों में बताए हुए तथ्यों का औचित्य प्रकट हुआ है और उसने इस बात पर भी बल दिया कि धार्मिक सत्यों की वैज्ञानिक दृष्टि से साक्षी मिलने का अभी श्रीगणेश ही

हुआ है। वेलैंड ने उस समय की कल्पना की, जब विज्ञान की सहायता से धार्मिक क्षेत्र पूरी तरह आलोकित हो उठेगा। इस तरह स्पष्ट हुआ है कि रूढ़िवादी मान्यताओं का लक्ष्य धार्मिक विचारधारा की पुष्टि करना था।

# लारेन्स पी० हिकौक : तर्क की रूढ़िवादिता

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इमेनुअल कांट ( १७२४-१८०४ ) के दर्शन का अमरीका के दार्शनिक पठन-पाठन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। कांट की विचारधारा के कतिपय अंगों का प्रभाव न्यू इंग्लैंड के सर्वातिशायी सिद्धान्त को मानने वालों पर पड़ा था ; किन्तु यह प्रभाव उन पर अप्रत्यक्ष रूप से तथा सैमुएल टेलर कॉलरिज ( १७७२-१८३४ ) के दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन से ही पड़ा था। सच तो यह है कि कहीं मध्य शताब्दी में दर्शन के अध्यापक येल के नोआ पोर्टर तथा हार्वार्ड के फ्रांसिस बोवेन जर्मनी में विकसित होने वाली नई दार्शनिक विचारधारा में दिलचस्पी लेने लगे। बोवेन ने अपने जीवन का प्रारम्भिक काल स्काटिश दर्शन के प्रमुख ग्रंथों के संक्षिप्त संस्करण सम्पादन करने तथा अपने ग्रंथों में उनकी मुख्य बातों का समावेश करने में व्यतीत किया। बाद में बोवेन ने एक ऐसी पुस्तक भी लिखी, जिसमें मुख्यतः जर्मन विचारधारा का विवेचन किया, जिसकी उस समय तक वह उपेक्षा करता रहा था।

१८५० के बाद प्रायः सभी शास्त्रीय दार्शनिकों ने स्काटिश-परम्परा का परित्याग कर दिया। उन्होंने विशेष कर अपनी आचार-शास्त्र-सम्बन्धी विचारधारा में जर्मन तत्वों का मिश्रण शुरू किया। स्काटिश-प्रणाली इस क्षेत्र में अधिक-से-अधिक 'नैतिक भावना' की मान्यता को ही जन्म दे सकी, जिसकी सहायता से स्काटिश दार्शनिकों के कथनानुसार मनुष्य नैतिक नियमों को जानते हैं। उन्होंने स्वार्थ तथा उदारता के दो निर्देशों को भी स्वीकार किया, जिनके आधार पर उन्होंने अपनी आचार-प्रणालियों का सूत्रपात किया। कांट व्यावहारिक बुद्धि को नैतिक विचारों की प्रेरणा-स्रोत मानता था। उसका कहना था कि नैतिकता का आधार एक सामान्य सिद्धान्त को बनाना चाहिए। अमरीकी दार्शनिकों को अपने आचार-शास्त्र का आधार तैयार करने के

लिए कांट की विचारधारा बहुत ही आकर्षक लगी ; परन्तु अमरीकी दार्शनिकों को यह अनुभव हुआ कि जब वे कांट की विचारधारा को प्रश्रय देंगे, तो उसकी सभी मान्यताओं पर उन्हें विचार करना होगा। कांट का आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त उसके ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त पर आधारित था। अस्तु, अमरीकी विचारकों के लिए कांट के 'विशुद्ध बुद्धि' पर विचार किए बिना उसकी व्यावहारिक बुद्धि को ग्रहण करना असम्भव हो गया।

जिन अमरीकी विचारकों ने जर्मन दर्शन का श्रमपूर्वक अनुशीलन कर नियमबद्ध रूप में उससे परिणाम निकालने की चेष्टा की, उनमें लारेन्स पर्स्यूस हिकौक अग्रगण्य था। आज हिकौक विस्मृति के गर्भ में समा चुका है; किन्तु उसके शिष्य हिकौक के विचारों में ही अमरीकी दर्शन का भविष्य देखते थे और हिकौक के प्रतिस्पर्द्धी जर्मन विचारधारा से अनुप्राणित इस अमरीकी विचारक को एक खतरनाक व्यक्ति समझते थे। हिकौक ९० वर्ष तक जीवित रहा। पादरी के रूप में कुछ समय व्यतीत करने के बाद ४० वर्ष की उम्र में उसे दर्शन का अध्यापक नियुक्त किया गया। बाद में न्यूयार्क के यूनियन विद्यालय के उपाध्यक्ष के रूप में उसने एलिफलेट नाट की अधीनता में काम किया और दो वर्ष तक वह उसका अध्यक्ष भी रहा। शिक्षा के क्षेत्र में पदार्पण करने पर हिकौक ने लेख तथा पुस्तकें तेजी से लिखना शुरू कर दिया। उसने मनोविज्ञान, शरीर-रचना, विज्ञान की दार्शनिक पृष्ठभूमि, आचार-शास्त्र, विश्व-विज्ञान, धर्मशास्त्र तथा तर्कशास्त्र पर ग्रंथ लिखे। हिकौक अमरीकी दर्शन-प्रणाली का एक निर्माता था। हिकौक की विचारधारा के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध के अध्ययन से पता चलता है कि किसी दर्शन-प्रणाली का संघटन किस प्रकार किया जाता है।

हिकौक ने सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान को दो वर्गों में विभाजित कर दिया—एक अनुभववादी (Empirical) और दूसरा बुद्धिवादी (Rational) अनुभववादी क्षेत्र में अपने विचारों का परीक्षण हम अपने अनुभव में उनके परिणामों को देख कर करते हैं। बुद्धिवादी क्षेत्र में किसी विचार का परीक्षण बिल्कुल भिन्न तरीके से होता है। यह परीक्षण इस मान्यता के आधार पर कया जाता है कि प्रत्येक सुनिश्चित विचार का सम्बन्ध अन्य सुनिश्चित विचारों से होता है और किसी विचार को जानने के लिए यह आवश्यक है कि जिस प्रणाली का वह अंग है, उसमें उसकी स्थिति को जाना

मोटे तौर पर माना जा सकता है कि अनुभववादी क्षेत्र में सत्य तथ्य

सम्बन्धी हमारे विचार के अनुरूप होता है और बुद्धिवादी क्षेत्र में सत्य का निर्णय हमारे विचार का सामंजस्य दूसरे विचारों से करने पर निर्भर रहता है।

अनुभववादी क्षेत्र विचारों के प्रमाणीकरण द्वारा सीमित होता है। यह वास्तव में भौतिक विज्ञान का क्षेत्र है। भौतिक विज्ञान में हम जड़ वस्तुओं के यांत्रिक सम्बन्धों, जीवित वस्तुओं के शारीरिक सम्बन्धों तथा चेतन वस्तुओं के रागात्मक सम्बन्धों का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस क्षेत्र में ज्ञान के परीक्षण के लिए किसी विशेष व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है। यदि भावी अनुभव हमारे पिछले अनुभव से मेल खाता है, तो हम मान लेते हैं कि हमारे ज्ञान का परीक्षण हो गया। अनुभववादी क्षेत्र के अन्तर्गत ज्ञान का एक विशेष क्षेत्र भी है, जिसका सम्बन्ध मन से है। इस क्षेत्र में ज्ञान से आशय यह है कि हम अपने पुराने अनुभवों को स्मृति-पटल पर लाते हैं और अपने पिछले अनुभवों से तर्कसंगत परिणाम निकालते हैं। हिकौक जिसे भौतिक विज्ञान कहता है, वह उस सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जिसे हम बिना किसी विशेष प्रयास के केवल दुनिया में रहने-मात्र से प्राप्त करते हैं। उसने जिसे मानसिक विज्ञान कहा, वह प्राकृतिक विज्ञान का वह अंग था, जिसमें हम अपने पिछले अनुभवों का चुनाव कर उनसे परिणाम निकालते हैं। इस तरह हिकौक ने स्वीकार किया कि प्राकृतिक विज्ञान प्रकृति में होने वाले व्यापार का अनुसंधान-मात्र ही नहीं है; बल्कि मन में होने वाली प्रक्रियाएँ भी प्राकृतिक विज्ञान के अन्तर्गत आती हैं। मानसिक विज्ञान में पुरानी बातों को क्रमबद्ध रूप से सजाना पहली आवश्यकता है, जिससे उनके आधार पर तर्कसंगत परिणाम निकाले जा सकें।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि मानसिक विज्ञान में चेतना तथा स्वाभाविकता का विशेष महत्त्व है। मानसिक क्रिया चेतनापूर्ण इसलिए है, क्योंकि वह सुनिश्चित नियमों के आधार पर संचालित होती है और वह सहज और स्वाभाविक इसलिए है, क्योंकि उसमें सहज तथा स्वाभाविक गतियों का विशेष महत्त्व है।

यद्यपि हिकौक ने अपने दर्शन में अनुभववादी क्षेत्र की विशेषता पर प्रकाश डाला है; किन्तु उसका यह भी मत था कि दर्शन का इस क्षेत्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। बुद्धिवादी क्षेत्र ही दर्शन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है।

बुद्धिवादी अथवा अन्तर्ज्ञानवादी क्षेत्र के अन्तर्गत दो विज्ञान हैं—बुद्धिवादी विज्ञान और आस्तिकता विज्ञान ।

बुद्धिवादी विज्ञान के क्षेत्र में दर्शन का कार्य बुद्धि के उस आवश्यक सिद्धान्त की तरफ ध्यान आकृष्ट करना है, जिसकी सहायता से अनुभव-संबंधी तथ्य समझ में आते हैं । बुद्धिवादी-विज्ञान की तीन शाखाएँ हैं—सौन्दर्य-विज्ञान (ललित कला) (Esthetics), विश्व-विज्ञान (Cosmology) और आचार-शास्त्र ( Ethics ) । मनुष्य आंख और कान से जो अनुभव प्राप्त करता है और इसी प्रकार शरीर की अन्य इन्द्रियों से वह जो अनुभव प्राप्त करता है, उनका एक मापदंड निर्धारित हो सकता है । केवल बुद्धि के द्वारा इस मापदंड की आवश्यकता अनुभव की जा सकती है । इसी प्रकार, विश्व-विज्ञान में "सत्य के दार्शनिक सिद्धान्तों" का निर्माण किया जाता है । इस विज्ञान के अन्तर्गत इंद्रियजनित अनुभवों का बुद्धिवादी तरीकों से परीक्षण किया जाता है और तब कहीं नियमों को अन्तिम रूप दिया जाता है ! आचार-शास्त्र में उचित तथा अनुचित में भेद करने के लिए अनुभवों को बुद्धि की कसौटी पर कस कर परिणाम निकाले जाते हैं । जहाँ तक सौन्दर्य-विज्ञान ( ललित कला ) का सम्बन्ध है, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सुन्दर और सत्य वही हो सकता है जो शिव अथवा औचित्यपूर्ण है । वैसे सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं तीन पृथक् मान्यताएं हैं; किन्तु वास्तव में वे एक तथा अभिन्न हैं ।

आस्तिकवाद अथवा ईश्वरवाद भी बुद्धिवादी क्षेत्र के अन्तर्गत आता है; क्योंकि मानव-समाज के अनुभवों की बुद्धि द्वारा प्रमाणीकरण की आवश्यकता पड़ती है । परन्तु, किसी एक व्यक्ति को हुए अनुभव के आधार पर सामान्य अनुभव का प्रमाणीकरण नहीं हो सकता । आस्तिकवाद में ईश्वर की सत्ता को दैवी आदेश अथवा पिछले निर्देशों के आधार पर नहीं स्वीकार किया जाता ; बल्कि बुद्धि की कसौटी पर कसने के बाद ही किसी मान्यता पर स्वीकृति की मुहर लगाई जाती है । मानव के पिछले इतिहास की रचना के लिए भी बुद्धि ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है । इसके अलावा, हिकौक ने ईश्वर के त्रिगुणात्मक स्वरूप को भी बुद्धि की कसौटी पर कसकर ही मान्यता प्रदान की है । हिकौक का विचार था कि ईश्वर की प्रत्येक क्रिया, इन तीन स्वरूपों में से किसी-न-किसी के द्वारा होती है ।

हिकौक की दार्शनिक विचारधारा का संक्षेप में यही सार है ; परन्तु उसके दो प्रमुख ग्रंथों की विचारधारा उसकी बुद्धिवादी प्रणाली के बाहर है । कारण

यह है कि ग्रंथों का सम्बन्ध बुद्धिवादी प्रणाली से न हो कर मानवीय मन की प्रकृति से है। मन अपनी शक्ति के द्वारा विश्व का ज्ञान प्राप्त करता है। इनमें से प्रत्येक ग्रंथ को मनोविज्ञान कहा गया है; किन्तु वस्तुतः उनमें हिकोक के ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। 'अनुभववादी मनोविज्ञान'[१] ग्रंथ एक प्रकार से अनुभववादी तथा बुद्धिवादी दोनों ही विज्ञानों की भूमिका उपस्थित करता है। दूसरा ग्रंथ 'बुद्धिवादी मनोविज्ञान' इन दोनों विज्ञानों के बीच की कड़ी का काम करता है।

हिकोक ने अनुभववादी मनोविज्ञान अथवा मन के अध्ययन को अपनी दार्शनिक प्रणाली का जो आधार बनाया, उसका कारण वास्तव में बहुत ही मनोरंजक है। हिकोक का कहना है कि सभी विज्ञान मानसिक उत्पादन हैं। उनकी रूप-रेखा का निर्माण तथा विकास मनुष्य के मन के द्वारा होता है। अस्तु, जब तक हम मन की क्रियाओं तथा मन के व्यापारों का ठीक तरह ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेते, तब तक हम किसी भी विज्ञान पर पूर्णतः निर्भर नहीं रह सकते। यही कारण है कि हिकोक अनुभववादी मनोविज्ञान को सभी दार्शनिक प्रणालियों तथा विज्ञानों की आधार-शिला बनाने के पक्ष में था। उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें मनुष्य के मन का सावधानी से अध्ययन करना चाहिए और उनकी मानसिक शक्तियों का बार-बार परीक्षण करना चाहिए। ऐसा करके ही हम मन की शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उनमें अपनी आस्था जमा सकते हैं।

प्रश्न उठता है कि यह कैसे पता चले कि मन जैसी कोई वस्तु है? हिकोक कहता है, मन की सत्ता इस बात से प्रमाणित होती है कि मनुष्य की तरफ से उसका कोई प्रतिनिधि प्रयोग करता है और फिर प्रयोगों के परिणामों का अंकन करता है। एक प्रयोग दूसरे से भिन्न होता है। उसमें योजनापूर्वक परीक्षण किए जाते हैं और इन परीक्षणों के परिणामों का सावधानी पूर्वक अंकन किया जाता है। जिस सावधानी तथा बारीकी से प्रयोग किए जाते हैं, उनसे मनुष्य के प्रतिनिधि मन की सत्ता प्रमाणित होती है। यदि मन की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है, तो मन की प्रकृति की आलोचना-प्रत्यालोचना आवश्यक है। यह आलोचना-प्रत्यालोचना ही हमें अनुभववादी मनोविज्ञान की गहराई में ढकेल देती है।

---

१. Laurens P. Hickok: Empirical Psychology.

पहली बात तो यह कि मन वैज्ञानिक प्रयोगों की तरफ अपनी जिज्ञासा से प्रेरित होता है, किसी अन्य अभिप्राय से नहीं। चूँकि मन की क्रिया अन्तःप्रेरित है; इसलिए कहा जा सकता है, कि मन अपनी प्रेरणा से कार्य करने वाला प्रतिनिधि है। वह जो भी कुछ करता है, अपनी इच्छा से करता है। इस तरह उसके सभी कार्य उसके अपने कार्य होते हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मन प्रयोग के विषयों से भिन्न है। तीसरी बात है कि मन अपने कार्यों को भी अपने परीक्षणों का विषय बनाता है। इस तरह आत्म-निरीक्षण के द्वारा वह विचारक तथा विचार का विषय दोनों ही होता है। हिकौक ने यह भी कहा कि जब मन अपनी क्रियाओं पर परीक्षण करता है, तो बाह्य विषयों पर होने वाले परीक्षणों की तुलना में परिणाम अधिक संतोषप्रद निकलते हैं, क्योंकि मानसिक परीक्षण में परीक्षण का विषय निकटतम होता है। चौथी बात यह है कि मानसिक क्रियाएँ रिक्तता में नहीं होती हैं, क्योंकि जब भी हम विचार करते हैं, तो उसका विचारणीय विषय होना आवश्यक होता है। जिस मानसिक प्रक्रिया को हम विचार कहते हैं, वह एक लगातार होने वाले मानसिक व्यापार का परिणाम है। लॉक की तरह हिकौक का भी विश्वास था कि मन में कोई विषय इंद्रियजनित संवेदन के बाद ही आता है। इसके बाद ज्ञान, भावना तथा संकल्प का क्रमशः आविर्भाव होता है।

लॉक की ही तरह हिकौक के कथनानुसार मन संवेद प्राप्त करने में निष्क्रिय रहता है। संवेद स्वयं अचेतन होते हुए भी मन में चेतना जगने का कारण है। मन द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के साधन को बुद्धि (Intellect) कहते हैं। बुद्धि में मन की तीन शक्तियाँ निहित हैं। ये मन के तीन खंड न होकर उस एक मन की तीन शक्तियाँ हैं। इन तीन शक्तियों के नाम हैं—चेतना-शक्ति, प्रज्ञा और विवेक। चेतना-शक्ति तथा संवेदन के अन्तर को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। जब कि संवेदन मन पर एक बाहरी प्रभाव है, वहाँ चेतना-शक्ति मन की वह आन्तरिक शक्ति है, जो बाहरी विषयों का चित्र मन के सचेतन क्षेत्र में उतारती है। हिकौक का कहना है कि बाह्य जगत् के सम्बन्ध में मन में जो विचार उठते हैं, वे अनुभव के ठोस विषय हैं। ये ठोस विषय वस्तु नहीं; बल्कि विचार अथवा मानसिक अवस्थाएँ हैं। समझ अथवा प्रज्ञा में दो मानसिक शक्तियाँ सम्मिलित हैं—स्मरण-शक्ति तथा विचार-शक्ति। स्मरण-शक्ति से चेतना-शक्ति के विषय मन में पुनः प्रवेश करते हैं। किन्तु उनका प्रवेश उलटे हुए रूप में होता है, जिस प्रकार किसी आइने में दृश्य-

वस्तुएँ उलटी दिखाई देती हैं। चेतना-शक्ति द्वारा प्रेरित तथा स्मरण-शक्ति द्वारा मन में पुनः लाए गए विषयों का विचार-शक्ति परीक्षण, तुलना तथा वर्गीकरण द्वारा परिष्कार करती है। ऐसा तभी सम्भव है, जब चेतना के बीच अपरिष्कृत तत्वों के परिष्कार की क्षमता विचार-शक्ति में हो। बुद्धि अथवा मेधा-शक्ति की विशेषताओं पर हम कुछ आगे जा कर विचार करेंगे।

यदि मन की प्रज्ञा तथा विचार-शक्तियों का उचित और सावधानीपूर्ण उपयोग होता है और इन प्रक्रियाओं के परिणामों का अनेक बार परीक्षण हो लेता है, तो फिर प्राकृतिक विज्ञानों का क्षेत्र समृद्ध होता है। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में समझ अथवा प्रज्ञा के आगे की मानसिक शक्तियों का उपयोग नहीं होता। अनुभववादी मनोविज्ञान विषयक इस चर्चा के शुरू में ही हिकौक ने जो एक प्रश्न उठाया था, उसका उत्तर अब हमें मिल सकता है। विभिन्न विज्ञान उसी सीमा तक विश्वसनीय हैं, जिस सीमा तक उनके विकास में मानसिक शक्तियों का प्रयोग हुआ है। विज्ञान का विकास करने में मन की एक जिस शक्ति का प्रयोग होता है, उसे समझ अथवा प्रज्ञा कहते हैं; परन्तु प्रज्ञा के द्वारा प्रज्ञा-सम्बन्धी विषयों की जानकारी होना सम्भव नहीं है। इससे हमें बाह्य प्रभावों की प्रक्रिया तो ज्ञात होती है; किन्तु आन्तरिक प्रतिक्रिया का पता नहीं चलता। कांट के शब्दों में, इससे हमें दृश्य-जगत् का ज्ञान तो होता है; किन्तु तत्व-जगत् का नहीं।

इस तरह स्पष्ट है कि हमारी मानसिक अवस्थाएँ वस्तुनिष्ठ नहीं, आत्मनिष्ठ हैं। वे हमारे भीतर हैं, बाहर की दुनिया में नहीं। विज्ञान के विषय हमारे मानस में प्रतिबिम्बित होते हैं। यह सम्भव है कि मानस-पटल पर अंकित होने वाले ये प्रतिबिम्ब बाह्य जगत् में वर्तमान वस्तुओं की ठीक प्रतिलिपियाँ हों; किन्तु इसका प्रमाण देना हमारे लिए तब तक सम्भव नहीं है, जब तक हम प्रज्ञा में प्रयुक्त निर्दिष्ट सामग्री से आगे बढ़ने को तैयार नहीं हों। हम विज्ञानों का प्रमाणीकरण तब तक नहीं कर सकते जब तक विज्ञान से आगे बढ़ जाने को तैयार नहीं हों। यदि यह सिद्ध किया जा सके कि मानस के नियम बाह्य संसार के नियमों के अनुरूप हैं, तो मानस के प्रतिबिम्बों और बाह्य विषयों को समान कहा जा सकता है।

यहाँ तक हमने हिकौक के अनुभववादी मनोविज्ञान पर एक सरसरी दृष्टि डाली है, जिसके तत्व अनुभव से प्राप्त होने वाले मानसिक तथ्य हैं। यद्यपि हिकौक के मत में बाह्य प्रयोग की अपेक्षा आन्तरिक विचार से सही

परीक्षण की अधिक सम्भावना है; किन्तु उसका यह भी विचार था कि यह परीक्षण भी आत्मनिष्ठ ही होगा। जिस प्रकार, बुद्धिवादी विज्ञान का कार्य सत्यं, शिवं, सुन्दरं के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को पुष्ट आधार प्रदान करना है, उसी प्रकार, बुद्धिवादी मनोविज्ञान का कार्य मनुष्य के मन की शक्तियों का, केवल इंद्रियजनित अनुभवों के आधार पर ही नहीं; बल्कि आन्तरिक चेतना के अधिक व्यापक आधार पर दिग्दर्शन करना है। यह विज्ञानों का विज्ञान है, क्योंकि इसमें बुद्धि की प्रखरता का प्रस्फुटन होता है। यह विशुद्ध गणित तथा विशुद्ध भौतिक विज्ञान के समान एक प्रयोगवादी विज्ञान है। अनुभववादी प्रणाली किसी भी आन्तरिक चुनौती का सामना कर सकती है; किन्तु यदि उसकी अपनी नींव को ही चुनौती दी जाय, तो उसके पक्ष में कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि इस प्रकार की चुनौती दी जाय, तो यही कहा जा सकता है कि यह ऐसा ही है और ऐसा ही हो सकता है।

हिकौक ने इसी आधार पर अपनी दार्शनिक प्रणाली का निर्माण किया। इसकी मान्यताएँ रूढ़िवादी थीं और इसकी दार्शनिक नींव स्काटिश तथा जर्मन-विचारधाराओं पर रखी गई। अपने काल में हिकौक ने महान् सफलता प्राप्त की। आज भी ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो 'प्राचीन धर्म' को बुद्धिवादी दार्शनिक प्रणाली में परिवर्तित होते देख कर संतोष लाभ करते हैं। आज हिकौक की विचारधारा का जो प्रभाव नहीं दिखाई देता, इसका कारण आंशिक रूप से उसकी क्लिष्ट शैली है और आंशिक रूप से यह भी कि उसने जिन समस्याओं पर विचार किया, उन पर दिलचस्पी लगातार घटती गई।

# दर्शन का मनोवैज्ञानीकरण : नोआ पोर्टर

नोआ पोर्टर येल विश्वविद्यालय के अध्यापक नैथेनियल, डब्ल्यू० टेलर का जामाता और शिष्य था। वह कालविनवादी सम्प्रदाय की एक उदार प्रणाली का प्रवर्तक था। अपने विद्यार्थी-जीवन के बाद कुछ समय तक पोर्टर का झुकाव सेमुएल टेलर कोलरिज की दार्शनिक विचारधारा की ओर १८४६ में हुआ। जब उसकी उम्र ३५ वर्ष की थी, पोर्टर येल विश्वविद्यालय में नैतिक दर्शन तथा तत्त्वमीमांसा का अध्यापक नियुक्त किया गया और इस पद पर वह लगभग २५ वर्ष तक कार्य करता रहा। १८५३ और १८५४ में वह यूरोप गया और बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन के अध्यापक एडोल्फ ट्रेंडेलेन बर्ग (१८०२-१८७२) से शिक्षा प्राप्त करता रहा। ट्रेंडेलेन बर्ग के साथ रह कर दार्शनिक अध्ययन के क्षेत्र में पोर्टर ने अपनी दिशा निर्धारित कर ली। जब वह येल लौटा, तो अपनी दार्शनिक विचारधारा तथा दर्शन के इतिहास-संबंधी अपने ज्ञान के विषय में उसका आत्मविश्वास पर्याप्त था। इसके बाद पोर्टर तात्कालिक दार्शनिक विचारधारा में अपना स्थान बनाने में जुट गया।

पोर्टर ने कहा कि कांट के जर्मन अनुयायी ज्ञान की समस्या को पर्याप्त महत्त्व न देकर अपनी मुख्य परम्परा से हट गए। उन्होंने प्रकृति के सिद्धांत का निरूपण तो किया; किन्तु कांट की परम्परा के अनुसार उसे ज्ञान के सिद्धांत पर आधारित नहीं किया। पोर्टर ने इसमें सुधार का प्रयास किया। उसने कहा कि ज्ञान की समस्या का अध्ययन मनुष्य की समस्या के समाधान की पहली सीढ़ी के रूप में आवश्यक है। पोर्टर ने तर्क उपस्थित किया कि ज्ञान की समस्या के समाधान के लिए सर्वोत्तम मार्ग मनोवैज्ञानिक है। यदि कोई ज्ञान की गुत्थी को सुलझाना चाहता है, तो सब से पहले ज्ञान के साधन को समझने का प्रयास करना चाहिए।

पोर्टर की मान्यता थी कि मनुष्य की उत्पत्ति व उसके भविष्य, प्रकृति के तत्त्वों के निरूपण, ईश्वर की सत्ता के अस्तित्व व उसके स्वरूप आदि समस्याओं

में प्रवेश करने के लिए मानव-मन का वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है। तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी इन समस्याओं के समाधान के लिए हम चाहे जितना प्रयास करें, हम फिर इस समस्या पर वापस चले आते हैं कि ज्ञाता कौन है और ज्ञान की प्रकृति तथा सीमाएँ क्या हैं। जबतक कि ज्ञातव्य विषय, ज्ञान प्राप्त करने की विधि तथा उसे प्राप्त करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनिश्चितता है, तब तक ज्ञान के लक्ष्य के सम्बन्ध में अनिश्चितता बनी रहेगी। पोर्टर ने अपने महान् ग्रंथ[1] में कहा है—"यदि कोई व्यक्ति दर्शन के मंदिर में मनोविज्ञान के अलावा किसी दूसरे मार्ग से प्रवेश करता है, तो वह कभी भी उसके अंतरतम खंड में नहीं पहुँच पाएगा।"

यह ग्रंथ तीन विभिन्न आकार के टाइपों में प्रकाशित हुआ है। बड़े टाइप में उन ब्रिटिश तथा जर्मन मनोवैज्ञानिकों के विचार दिए गए हैं, जिन्हें पोर्टर के समय में महत्त्व दिया जाता था। मझोले टाइप में इन सिद्धांतों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। सबसे छोटे टाइप में पोर्टर के अपने विचार हैं, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र में पोर्टर की अपनी देन है। यह व्यवस्था केवल पोर्टर द्वारा विनम्रता के प्रदर्शन के लिए नहीं की गई थी ; बल्कि इसका मुख्य उद्देश्य पाठ्य ग्रंथ के रूप में उसकी उपयोगिता को बढ़ाना ही था। ग्रंथ का उपयोग करते समय विद्यार्थी बड़े टाइप में छपी पाठ्य सामग्री को पढ़ कर तत्कालीन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी बार में विद्यार्थी मझोले टाइप को पढ़ कर उपर्युक्त सिद्धान्तों की कमजोरियों से अवगत हो सकते हैं। सबसे छोटे टाइप में छपी सामग्री को पढ़ कर विद्यार्थी सत्य का दर्शन कर सकते हैं।

स्काटिश दर्शन तथा विशेषकर टामस रीड का प्रभाव मनोविज्ञान के प्रति ग्रहण किए गए पोर्टर के दृष्टिकोण में मिलता है। पोर्टर ने मनोविज्ञान को आगमनात्मक विज्ञान ( Inductive Sciences ) माना है। पोर्टर मनोविज्ञान को निगमनात्मक ( Deductive ) अथवा बुद्धिवादी विज्ञान नहीं मान सकता था ; क्योंकि ऐसे विज्ञानों में सिद्धान्तों को मान कर उनसे परिणाम निकाले जाते हैं। प्राथमिक सिद्धान्त तत्त्व-मीमांसा के विषय हैं और यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि पोर्टर तत्त्व-मीमांसा से पूर्व मनोविज्ञान का अध्ययन आवश्यक समझता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पोर्टर के मतानुसार मनोविज्ञान तत्त्व-मीमांसा पर निर्भर नहीं रह सकता ; बल्कि उसका अध्ययन पहले ही करना होगा। मनोविज्ञान को एक आगमनात्मक विज्ञान ही माना जा सकता है, क्योंकि

१. Noah Porter : The Human Intellect.

इसमें निरीक्षणों के आधार पर सामान्य परिणाम निकाले जाते हैं। ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का विश्लेषण करने से पूर्व हम जान लेते हैं कि क्या जानना है और उसके बाद हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति के लक्ष्य क्या हैं तथा ऐसा करने में हमारा सम्पर्क अन्य किन विषयों से होता है।

पोर्टर ने मनोविज्ञान के सम्बन्ध में जो यह दृष्टिकोण ग्रहण किया, उससे मनोविज्ञान भौतिक विज्ञानों की श्रेणी के निकट पहुँच जाता है; किन्तु फिर भी उसमें भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा एक अंतर रह जाता है। भौतिक विज्ञानों में जिन निरीक्षणों से परिणाम निकाले जाते हैं, वे वाह्य जगत् के निरीक्षण होते हैं—ऐसी वस्तुओं के निरीक्षण होते हैं, जो हम से अलग और बाहर हैं; परन्तु मनोविज्ञान ऐसे निरीक्षणों पर आधारित है, जो मनुष्य के अंतर में किए जाते हैं। मनोविज्ञान में हमें विचार की सामग्री दूसरों का निरीक्षण करने पर भी नहीं मिलती; बल्कि अपना ध्यान अपनी आंतरिक चेतना पर केन्द्रित करने पर मिलती है। पोर्टर मनोविज्ञान के अध्ययन का केवल यही तरीका उचित समझता था कि हम अपने मन की गति-विधि का निरीक्षण करें। उसका मत था कि मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए किसी दूसरे तरीके का प्रयोग हानिकर होगा और विद्यार्थियों को भौतिक क्षेत्र की सामग्री का उपयोग मनोविज्ञान के अध्ययन में नहीं करना चाहिए।

ब्रिटिश मनोविज्ञान की सबसे बड़ी हानि इस कारण हुई, क्योंकि जॉन लॉक अपने समय में हुई भौतिक विज्ञान ( Physics ) की उन्नति के प्रति एकांगी सहानुभूति रखता था। लॉक द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों की स्वीकृति से भी संतुलन में पूर्ण सुधार नहीं हो सका और उसने कहा कि मन जानकारी ग्रहण करते समय निष्क्रिय रहता है। बाद के ब्रिटिश विचारक लॉक से भी एक कदम आगे बढ़ गए और डेविड ह्यूम (१७११–१७७६), डेविड हार्टले ( १७०५-१७५७ ), जेम्स मिल (१७७३–१८३६) और जान स्टुअर्ट मिल (१८०६–१८७३) मानवीय आत्मा को अपनी समस्त प्रक्रियाओं में निष्क्रिय मानते रहे। लॉक मन को केवल वाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करते समय निष्क्रिय मानता था; किन्तु उपर्युक्त विचारक मन को पूर्णतः निष्क्रिय मानते थे। लॉक जिन बौद्धिक प्रक्रियाओं को मन की सक्रिय शक्तियाँ मानता था, उन्हें हार्टले और मिल विचारों से सम्पर्क का परिणाम मानते थे। इस प्रकार पोर्टर के कथनानुसार इन दार्शनिकों ने विवेचना का स्थान "यांत्रिक सम्पर्क" को देकर भौतिक क्षेत्र के नियमों का मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में स्थानान्तरण कर दिया।

उस समय उपर्युक्त मान्यता व्यापक रूप से प्रचलित थी; किन्तु पोर्टर ने कहा

कि मनुष्य का मन ज्ञान प्राप्त करने तथा विचार करने की अवस्था में पूर्णतः सक्रिय रहता है। यहां तक कि बाह्य जगत् का प्रतिबिम्ब ग्रहण करते समय भी मन पूर्णतः आत्मसमर्पण नहीं करता ; बल्कि वह सक्रिय रूप से अपनी शक्तियों का उपयोग करता है।

लॉक तथा उसके अनुयायियों की मान्यता यह थी कि इंद्रियों के द्वारा मन में 'सरल विचार' आते हैं, जो बाद में विभिन्न वस्तुओं, घटनाओं अथवा परिस्थितियों की प्रतिक्रिया होने पर 'संयुक्त अथवा जटिल विचार' के रूप में बदल जाते हैं। पोर्टर ने कहा कि ज्ञान 'सरल विचारों' से आरम्भ नहीं होता ; बल्कि उसकी शुरुआत सम्पूर्ण चित्रों अथवा खाकों के रूप में होती है, जिन्हें मन खंडित कर उचित भाषा में प्रकट करता है। पोर्टर अपनी इस मान्यता के कारण लॉक की परम्परा में उठने वाली कठिनाई से बच गया। पोर्टर को विभिन्न वस्तुओं तथा उनके मध्य उठने वाले सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक नहीं रह गया ; क्योंकि पोर्टर के मतानुसार वस्तु और उनके सम्बन्ध अनुभवों के मध्य एक ही साथ आते हैं। पोर्टर ने कहा—"वस्तुओं के अस्तित्व रहने का ज्ञान होता है और केवल उनके अस्तित्व का ही ज्ञान नहीं होता ; बल्कि यह भी पता चलता है कि उनका एक दूसरे से सम्बन्ध भी है। वस्तु और उनके सम्बन्ध एक ही साथ हमें ज्ञात होते हैं।" कार्य और कारण का सम्बन्ध, ह्यूम के मत में, कार्य की जानकारी में सहायक होता है। कांट के मत में भी बाह्य-जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों के द्वारा विचारों की रचना होती है और इस प्रकार जानकारी प्राप्त करने में सहायता मिलती है। परन्तु, पोर्टर ने कार्य-कारण सम्बन्धों तथा वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों को वस्तुओं के जितना ही जानकारी का विषय माना।

वस्तु का सम्बन्ध वस्तु से हो—इसी रूप में मन बाह्य-जगत् की जानकारी को संकलित करता है। जिस प्रकार व्याकरण में शब्दों का परस्पर संबंध होता है, उसी प्रकार मन में अनुभूतियां परस्पर सम्बन्धित होती हैं। वाक्यों के विश्लेषण की तरह अनुभूति का भी विश्लेषण होता है और सम्पूर्ण अनुभूति को खंड-खंड कर हम उसके विभिन्न अंगों की जानकारी प्राप्त करते हैं।

अपनी दार्शनिक आवश्यकताओं के कारण पोर्टर की दिलचस्पी भाषा की समस्या में भी बहुत अधिक थी। जर्मनी में पोर्टर के भाषा-संबंधी विचार और भी परिष्कृत हुए। पोर्टर की भाषा-संबंधी दिलचस्पी इतनी बढ़ी कि उसे वेब्स्टर डिक्शनरी का सम्पादन करने को कहा गया।

पोर्टर ने कहा कि मनुष्य का मन, जो वस्तुओं तथा उनके परस्पर संबंधों

की सक्रिय रूप से जानकारी प्राप्त करता है, अपने कार्यों की स्वयं चेतना रखता है। स्मृति, तर्क, कल्पना तथा व्याख्या ये सभी मन के कार्य हैं। मनुष्य का मन अपने से बाहर जिन वस्तुओं का अन्वेषण करता है, उनके प्रति वह निष्क्रिय या निर्भर नहीं रहता। पोर्टर का विचार था कि मन को स्वयं अपनी की जानकारी भी रहती है। वह अपनी मानसिक अवस्थाओं से केवल परिचित ही नहीं रहता ; बल्कि इस जानकारी के होने का अनुभव भी उसे रहता है। वह यह भी जानता है कि मानसिक अवस्थाएँ परिवर्तनशील हैं और उससे ( मन से) पृथक् उनका अस्तित्व नहीं। हम जब यह अनुभव करते हैं कि हमारी मानसिक अवस्थाएँ परिवर्तनशील हैं, तो हम अपने को अपरिवर्तनशील तथा नित्य मानते हैं। पोर्टर की ये मान्यताएँ लॉक की मान्यताओं के विरुद्ध थीं ; किन्तु वह टामस रीड की मान्यताओं से सहमत था।

पोर्टर के विचार में कांट का यह दावा गलत था कि वस्तुओं को जैसा हम जानते हैं, उससे पृथक् उनकी वास्तविकता की जानकारी हमें नहीं हो सकती। कम-से-कम एक वस्तु की वास्तविकता की जानकारी हमें तत्काल हो सकती है और यह वस्तु है हमारा मन, जो परिवर्तनशील नहीं है। यह कहा जा सकता है कि हमारा यह ज्ञान सीमित होता है, किन्तु इसका कारण स्वयं मनुष्यों का ससीम होना है। हम अपने से भिन्न वस्तुओं को उनकी पृथक् यथार्थता के रूप में जानते हैं और हमारा यह ज्ञान संदेह से परे होता है।

पोर्टर ने प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में जो चर्चा उठाई है, उसमें वह स्काटिश दार्शनिकों और विशेषकर रीड और सर विलियम हैमिल्टन के निकट है। मन तत्काल अपने से सम्बन्धित शरीर का प्रत्यक्ष ज्ञान करता है। यह चेतन जड़ का ज्ञान प्राप्त करता है। पोर्टर का मत है कि इस प्रकार के ज्ञान के अलावा बाह्य वस्तुओं-सम्बन्धी शेष सभी ज्ञान निरीक्षण तथा उससे निकाले गए परिणामों का प्रतिफल है।

मनुष्य अपने शरीर के संबंध में जो ज्ञान प्राप्त करता है, उसके अलावा कुछ और भी ज्ञान अपनी अनुभूति के द्वारा वह प्राप्त कर सकता है। कतिपय आधार-भूत नियम तथा शाश्वत सत्य, जिन्हें अनुमान के द्वारा पहले ही मान लिया गया था, उन्हें मनुष्य अनुभूति के द्वारा भी जान सकता है। इस वर्ग के अंतर्गत कार्य-कारण सम्बन्ध, दिक्, काल, पदार्थ का स्वरूप आदि नियम रखे जा सकते हैं। पोर्टर ने कहा कि गणित के स्वयंसिद्ध सिद्धान्त तथा मनोविज्ञान के कतिपय नियम अनुभव किये जाने से कहीं पूर्व मानव की अंतः अनुभूति द्वारा पहले से ज्ञात थे। पोर्टर का

यह भी विश्वास था कि अनुभूति-जन्य ज्ञान मनुष्य का वह आधार है, जिस पर वह अन्तःप्रेक्षण के द्वारा विश्व के रहस्यों तथा उसकी व्यवस्था का पता लगा सकता है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि पोर्टर ने मनोविज्ञान के मार्ग से दर्शन की तरफ प्रगति की। उसने भाषा पर विशेष ध्यान दिया, क्योंकि उसके विचार में भाषा से मन के क्रिया-कलाप पर प्रकाश पड़ सकता है। पोर्टर ने यह भी कहा कि मन ज्ञान प्राप्त करते समय सक्रिय रहता है। पोर्टर इस परिणाम पर भी पहुँचा कि जिन विचारों पर मनुष्य निरीक्षण तथा अनुमान द्वारा पहुँचा, उनका पूर्व-परिचय उसे अपनी अन्तः अनुभूति द्वारा हो चुका था। अब हमें यह देखना है कि पोर्टर की विचारधारा में ईश्वर का क्या स्थान था, जिससे उसके रूढ़िवादी दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ सके। इस सम्बन्ध में हमें पोर्टर की इस मान्यता का ध्यान रखना है कि मनुष्य का ज्ञान सीमित है और यह आवश्यक नहीं कि वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सके। ससीम मनुष्य ईश्वर की असीम, निरपेक्ष तथा पूर्ण सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। फिर भी पोर्टर का विश्वास था कि मनुष्य ईश्वर का ज्ञान सीमित मात्रा में प्राप्त कर सकता है।

पोर्टर का यह मतलब नहीं था कि मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान भावना के द्वारा प्राप्त हो सकता है। ईश्वर का ज्ञान भी उसी तरीके से हो सकता है, जिस तरीके से मनुष्य को अन्य ज्ञान होता है। भावना अथवा विश्वास ज्ञान से बिल्कुल पृथक् नहीं है; क्योंकि विश्वास के प्रत्येक कार्य में कुछ ज्ञान की मात्रा भी रहती है। दूसरी तरफ, तर्क की आगमनात्मक अथवा निगमनात्मक प्रणालियों के द्वारा भी ईश्वर का ज्ञान सम्भव नहीं है। ईश्वर की सत्ता स्वयंसिद्ध है। ससीम विश्व के उद्भव और विकास को समझने के लिए ससीम तथा निरपेक्ष की कल्पना अनिवार्य है। ससीम विश्व ईश्वर की असीम सत्ता पर निर्भर है। ईश्वर की असीम सत्ता से हमारा जो संबंध है, उसके कारण हमें ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी प्रेरणा मिलती है।

आखिर असीम क्या है? क्या वह एक चेतन सत्ता है? विश्व एक कल्पना भी है और एक यथार्थता भी। विश्व की रचना में हमें विचार और शक्ति दोनों ही मिलते हैं। विश्व की रचना के रहस्य में प्रवेश करने पर हमें शक्तियों के मूल स्रोत, उनके संचालन के नियम तथा उनके उपयोग की झलक मिलती है। प्रकट होता है कि विश्व की व्यवस्था का निर्माण किसी एक ही मन की योजना के द्वारा हुआ है। यदि विश्व का कार्य गुरुत्वाकर्षण के द्वारा चलता है, तो इसका विचार

और इसकी शक्ति का स्रोत एक ही हो सकता है। यदि विश्व किसी कल्पना का परिणाम है, तो उस कल्पना को करने वाला कोई अवश्य होगा। इस प्रकार की किसी सत्ता को मान लेने पर अपने विचार को आगे बढ़ाने का आधार मिलता है। पोर्टर के शब्द इस प्रकार हैं—"हम ईश्वर के अस्तित्व का प्रदर्शन नहीं कर सकते ; किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को मान लेना ही चाहिए कि वह ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रियाओं के पीछे जो धारणाएँ रहती हैं, उनमें सबसे बड़ी धारणा एक स्वयंभू चेतन-शक्ति की है। यदि आदमी किसी भी वस्तु का ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तो उस चेतना शक्ति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।"

पोर्टर की रूढ़िवादिता यह थी कि उसने ईश्वर के अस्तित्व को एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता माना। उसने मनुष्य के भावनात्मक पक्ष की चरम अभिव्यक्ति के ही लिए नहीं ; बल्कि मनुष्य के अस्तित्व को ठोस आधार प्रदान करने के लिए ईश्वर की सत्ता को आवश्यक समझा है।

# ४

# न्यू इंगलैण्ड की रोमांटिक विचारधारा

# सर्वातिशायी सिद्धान्त ( Transcendentalism )

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की विशेषता यह थी कि उसमें क्रान्तिकारी युग के प्रगतिशील आदर्शों के विरुद्ध विद्रोह की लहर थी। इस विद्रोह ने कितने ही क्षेत्रों में पुरातनवादी तथा रूढ़िवादी विचारों की ओर वापसी की प्रेरणा प्रदान की। जिन क्षेत्रों में रूढ़िवादी विचारधारा को प्रोत्साहन मिला, उनमें दर्शन मुख्य था, जहाँ शास्त्रीय प्रणाली के पठन-पाठन की ओर विचारकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस अध्याय में हमें ज्ञान और प्रकाश के युग के विरुद्ध एक और प्रतिक्रिया पर दृष्टि डालनी है। यह प्रतिक्रिया उसी काल में हुई, जिसमें पुरातनवादिता तथा रूढ़िवादिता की ओर विचारक लौटे थे ; किन्तु यह बहुत कुछ न्यू इंगलैंड तक सीमित थी और मुख्यतः जर्मनी तथा इंगलैंड की रोमांटिक विचारधारा से अनुप्राणित थी। अमरीकी रोमांटिक विचारधारा के स्रोत विभिन्न थे। सर्वातिशायी दार्शनिकों ने अपनी कल्पना को समृद्ध बनाने के लिए पूर्वीय और मुख्यतः हिन्दू विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त की थी। परन्तु, उन्हें मुख्यतः कांट के बाद के जर्मन दार्शनिकों से और मुख्यतः फ्रेडरिक डब्ल्यू० जे० शेलिंग से, जिस रूप में इस विचारधारा को अंग्रेज कवि तथा दार्शनिक सेमुअल टेलर कालरिज ने उपस्थित किया, प्रेरणा प्राप्त हुई।

एक तरह से सर्वातिशायी आन्दोलन को आन्दोलन नहीं माना जाना चाहिए। विभिन्न सर्वातिशायियों में एक दूसरे से असमानताओं की कमी नहीं थी। उनमें मतभेद इतना अधिक था कि कहा जा सकता है कि वे अपने विचार अलग-अलग रखने के अलावा और किसी विषय में सहमत नहीं हो सके थे। अस्तु, यदि यह कहा जाय कि किसी विचारधारा की स्वीकृति के लिए उसके सभी विचारकों की समान आस्था होनी आवश्यक है, तो सर्वातिशायी सिद्धान्त को विचारधारा नहीं माना जा सकता। परन्तु, साथ ही सर्वातिशायीयों में एक बहुत बड़ी समानता भी थी। कुछ बातों के वे सभी विरोधी थे। यह निर्विवाद है कि एक ही शत्रु के

विरोध से बड़ा एकता का दूसरा बंधन कोई नहीं है। इसके अलावा उनका दार्शनिक दृष्टिकोण तथा तरीका भी एक दूसरे से बहुत-कुछ मिलता था। इस अंतिम विशेषता के कारण ही हम सर्वातिशायी सिद्धान्त को एक विचारधारा अथवा आन्दोलन कहते हैं।

सबसे पहले सर्वातिशायी सिद्धान्त एक धार्मिक दर्शन था। स्वच्छन्द धार्मिक विचारों तथा जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ये विचार आधारित थे, उन सबके प्रति एक गहरे असंतोष की भावना ने इसे जन्म दिया था। लॉक के समय से इंद्रिय-प्रधान तथा अनुभववादी दर्शन पर धर्म की जो निर्भरता चली आ रही थी, उस स्थिति से सर्वातिशायी असंतुष्ट थे। सर्वातिशायी दार्शनिक अपनी अनुभूतियों के उचित नियंत्रण द्वारा आत्मा और परमात्मा के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। इस प्रकार ईश्वर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर वे उससे सम्पर्क कायम करन के सभी पुराने तरीकों तथा साधनों से आगे बढ़ ( Transcend ) गए। ऐसा कर उन्होंने केवल ज्ञानेन्द्रियों को ही नहीं ; बल्कि गिरजे, धर्मगुरु तथा धर्मशास्त्र को भी उठा कर ताक पर रख दिया। सर्वातिशायी सिद्धान्त एक दावा था कि मनुष्य में चरम सत्य को प्राप्त करने की आंतरिक क्षमता है। इस विचार-धारा के अन्तर्गत इस मान्यता को बल मिला कि मनुष्य इंद्रियातीत दैवी व्यवस्था का सुनिश्चित ज्ञान अपने प्रयास द्वारा प्राप्त कर सकता है।

ज्ञान के सर्वातिशायी सिद्धान्त में लॉक की यह मान्यता नहीं है कि मनुष्य केवल ज्ञानेन्द्रियों के अनुभवों के द्वारा ही कोई ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सर्वातिशायियों की अनुभूति जोनेथन एडवर्ड्स की दैवी प्रेरणा के स्थान पर थी, जिससे मनुष्य चरम सत्य की जानकारी कर सकते थे। परन्तु, जहाँ एक तरफ एडवर्ड्स की मान्यता यह थी कि दैवी प्रेरणा के अधिकारी केवल कुछ चुने हुए व्यक्ति हैं और वह ईश्वर की दया का परिणाम है, वहाँ सर्वातिशायी सिद्धान्त को मानने वालों का दृष्टिकोण अधिक व्यापक एवं लोकतंत्रात्मक था। उनका कहना था कि अनुभूति के द्वारा दैवी यथार्थता को जानना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मजात एवं अखंडनीय अधिकार है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने का समान रूप से अधिकारी है ; इसलिए प्रत्येक व्यक्ति क्षमता की दृष्टि से समान है। चूँकि ईश्वर से सभी समान रूप से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं, इसलिए अध्यात्म तथा मर्यादा की दृष्टि से सभी बराबर हैं। इस प्रकार, सर्वातिशायी सिद्धान्त से अमरीका में लोकतंत्री विचारों के विकास में सहायता प्राप्त हुई।

थियोडोर पार्कर सर्वातिशायी सिद्धान्त को एक बौद्धिक चुनौती मानता था।

वह जर्मन विचारधारा के रोमान्टिक पहलू की अपेक्षा उसके विवेचनात्मक दार्शनिक दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित हुआ था। उसके विचार में सर्वातिशायी सिद्धान्त का उद्देश्य मानवजाति के अनुभव पर नये दृष्टिकोण से प्रकाश डालना तथा मानव प्रकृति के अनुरूप उसकी शिक्षाओं से लाभ उठाना है। इस सिद्धान्त का उद्देश्य नैतिकता का अंतःकरण की आवाज के द्वारा, विज्ञान का बुद्धि के द्वारा तथा विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं तथा राज्यों के विधानों का विश्व के विधान द्वारा परीक्षण है। सर्वातिशायी सिद्धान्त की मान्यताओं पर प्रकाश डालने की दृष्टि से थियोडोर पार्कर की उपर्युक्त उक्ति का विशेष महत्त्व है। पार्कर शुरू में कुछ बातें मान लेता है। जब वह मनुष्य के अनुभवों पर नये दृष्टिकोण से प्रकाश डालने तथा मानव-प्रकृति के अनुरूप सर्वातिशायी सिद्धान्त की शिक्षा से लाभ उठाने की बात करता है, तो वह यह मान लेता है कि मानव प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ज्ञान है, जो मन की पहुँच के भीतर है और जो मनुष्य को प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा नहीं प्राप्त होता। इस दावे की पृष्ठभूमि में यथार्थता तथा आभास के मध्य गहरा अंतर है। अनुभव केवल दृश्य जगत् तथा आभास को स्पर्श करता है। वस्तुओं की वास्तविकता का—जो अनुभव के पीछे छिपी रहती है—ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई श्रेष्ठ दार्शनिक उपाय अपेक्षित है। सर्वातिशायी सिद्धान्त को मानने वालों के मत के अनुसार यह श्रेष्ठ उपाय अंतःअनुभूति है। नैतिकता का परीक्षण अंतःकरण की सहायता से करने का मतलब यह हुआ कि व्यक्तियों की नैतिक अनुभूति ही अंतःकरण का दूसरा रूप है। आचार-शास्त्र अथवा नैतिक व्यवस्था का निर्माण मनुष्य द्वारा हुआ है और यह व्यवस्था अनेक प्रकार के विधि-विधानों से घिरी हुई है। अंतःकरण नैतिक व्यवस्था का अनुभूतीय पक्ष है, जो सर्वातिशायी क्षेत्र की एक विशेषता है। यह आचार-शास्त्र की तुलना में श्रेष्ठ है। विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं तथा राज्यों के विधानों को विश्व के विधान की कसौटी पर कसने का यह मतलब हुआ कि विश्व का विधान मानवीय व्यापार से परे होते हुए भी मनुष्य की अंतःअनुभूति द्वारा बोधगम्य है और इसलिए उसका उपयोग धार्मिक सम्प्रदाय तथा राज्यों जैसी मानवीय संस्थाओं के परीक्षण के लिए किया जा सकता है।

पार्कर की उक्ति में उसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंश यह है कि बुद्धि द्वारा विज्ञान का परीक्षण संभव है। १७वीं और १८वीं शताब्दियों के विज्ञान का निर्माण, जिसमें न्यूटन की विचारधारा भी सम्मिलित थी, निरीक्षण और प्रयोग के आधार पर हुआ और गणित के नियमों तथा निगमनात्मक तर्क की सहायता से उसका विकास

हुआ। इस विधि का उपयोग करने से ज्ञान और प्रकाश के युग में यह विश्वास जमा कि विज्ञान मनुष्य को असीम उन्नति तथा पूर्णता की ओर ले जायगा ; परन्तु इमैन्युअल कांट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ[1] में वैज्ञानिक विधि की सीमाओं पर प्रकाश डाला। वैज्ञानिक विधि से निकाले हुए परिणाम सुनिश्चित नहीं हो सकते ; क्योंकि मनुष्य की बुद्धि दृश्य जगत् के आगे नहीं जा सकती। मनुष्य किसी वस्तु को वैसा ही जान सकता है, जैसा उसके संबंध में उसका विचार है और इस तरह वह उसकी यथार्थता या असलियत तक नहीं पहुँच सकता। ईश्वर, स्वाधीनता तथा अमरता के महान् धार्मिक तथा नैतिक विचार, जिनका सम्बंध दृश्य जगत् से नहीं है, मनुष्य वैज्ञानिक सोच-विचार से नहीं जान सकता। परन्तु, कांट ने यह भी स्वीकार किया कि इन विचारों का आधार अवश्य होना चाहिए। उसने कहा कि मनुष्य में नैतिक चेतना का गुण है, जिसके द्वारा वह ईश्वर, स्वतंत्रता तथा अमरता के विचारों का अनुभव कर सकता है। कांट ने मनुष्य की इस क्षमता को " शुद्ध व्यवहार बुद्धि " कहा। कांट के कुछ अनुयायियों ने इस अनुभूतिपूर्ण " व्यवहार बुद्धि " को अत्यधिक महत्त्व दिया और कहीं-कहीं बुद्धि का उपयोग इसी अर्थ में किया। इन लोगों ने विज्ञान को एक गौण पद दिया, जैसा कांट का इरादा नहीं था। इन लोगों ने समझ अथवा प्रज्ञा को अनुभववादी विचारधारा पर निर्भर कर दिया, जिस पर कि प्राकृतिक विज्ञान आधारित था। बुद्धि ( Reason ) और प्रज्ञा ( Understanding ) के बीच इन लोगों ने जैसा भेद किया था, प्रायः वैसा ही भेद हिकोक ने भी किया था। थियोडोर पार्कर ने भी बुद्धि शब्द का ऐसा ही रोमान्टिक प्रयोग किया। उसने भी यह माना कि प्राकृतिक विज्ञान मनुष्य की निम्नकोटि की क्षमता—प्रज्ञा—का परिणाम है। इसीलिए उसने कहा कि प्रज्ञा के परिणाम स्वरूप जो विज्ञान उत्पन्न हुआ, उसका परीक्षण बुद्धि की कसौटी पर होना चाहिए।

ज्ञान और प्रकाश के युग की एक और विशेषता यह थी कि उसमें बुद्धिवाद तथा विज्ञान पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया था। सर्वातिशायी सिद्धांत अनेक प्रकार से उसके विरुद्ध एक प्रक्रिया थी। शुरू के काल में अन्य सर्वातिशायी प्रवृत्तियाँ भी दिखाई दी थीं। इनमें एक थी प्रगति में अगाध आस्था। ज्ञान और प्रकाश के युग में प्रगति में आस्था का मुख्य आधार यह विश्वास था कि विज्ञान के विकास के परिणामस्वरूप उन्नति अनिवार्य है। सर्वातिशायी विचारकों के

---

१. Immanuel Kant : Critique of Pure Reason.

मतानुसार प्रगति में आस्था का आधार आत्मनिर्भरता का सिद्धांत था। इस सिद्धांत के अनुसार यदि कोई मनुष्य अपना अन्तःप्रेक्षण करे, तो उसे अपने अंतर में ही सार्वभौमिक महत्त्व के सत्यों का दर्शन हो सकता है। सत्यों की इस खोज में ही मनुष्य की असीम उन्नति का बीज छुपा हुआ था। सर्वातिशायी दार्शनिकों को न्यूटन के जितना प्रकृति के रहस्यों का अन्वेषण करने में विश्वास नहीं था; किन्तु वे अन्तःअनुभूति द्वारा प्राप्त एक दैवी व्यवस्था में विश्वास रखते थे। इस तरह प्रकट है कि सर्वातिशायी सिद्धांत ज्ञान और प्रकाश की विचारधारा की वैसी ही पुनरावृत्ति तो नहीं करता था, फिर भी इन दोनों विचारधाराओं की ध्वनि एक दूसरी से मिलती-जुलती थी।

चूँकि सर्वातिशायी विचारधारा के अंतर्गत अन्तःअनुभूति के द्वारा सत्य तक पहुँचने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था; इसलिए इसके अनुयायी उन सभी संस्थाओं से परहेज रखते थे, जिनमें मनुष्य की सहज अनुभूति को सीमित किया जाता था। उनके विचार से वैज्ञानिक अन्वेषण भी मन पर इसी प्रकार की एक सीमा लादता था। विज्ञान में निरीक्षण तथा प्रयोग द्वारा एक क्रमबद्ध प्रणाली के अनुसार काम किया जाता था और उसमें प्रकृति के अन्वेषण पर विशेषरूप से बल दिया जाता था। इसी प्रकार, सर्वातिशायी सिद्धांत के अनुयायी परम्परा और इतिहास द्वारा मन पर लादी गई सीमाओं तथा छोटे लोगों की नैतिकता-सम्बन्धी परम्पराओं को मानने के लिए तैयार नहीं थे। इन सभी के प्रति सर्वातिशायी दार्शनिकों ने घृणा प्रकट की है। इस विचारधारा के अधिक उग्र लोगों में अनुशासनपूर्ण कार्य करने के प्रति भी अरुचि थी। इनका कहना था कि गिरजाघरों में मनुष्य की आत्मा को कैद करने का प्रयास किया जाता है और इसलिए वे गिरजों के भी विरुद्ध थे।

कितने ही सर्वातिशायी दार्शनिकों ने अपने धार्मिक सम्प्रदायों से अपना सम्बंध-विच्छेद कर दिया; क्योंकि उनके विचार से ऐसा करके ही वे अपनी आत्माओं को मुक्त कर सकते हैं। थोरो ने कहा कि ईसा के जीवन के सौन्दर्य तथा महत्त्व का मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि ईसाई न रहा जाय। इस विचारधारा के अन्य अनुयायी विलियम एलरी केनिंग के समान अपने सम्प्रदाय में तो बने रहे; किन्तु उन्होंने इस उदार तथा क्रांतिकारी विचार पर बल दिया कि मनुष्य की आत्मा परमात्मा के बहुत ही निकट है। चूँकि मनुष्य ईश्वर के समान है; इसलिए वे उसकी रचना, संसार को अच्छी तरह समझ सकते हैं और उसमें आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। केनिंग ने कहा कि हम ईश्वर को उसकी कृति द्वारा

नहीं समझ सकते ; बल्कि हम उसे इसलिए समझते हैं, क्योंकि दैवी तत्त्व हमारे अंदर है। और ईश्वर से हमारा बहुत कुछ सादृश्य है। हमारे अंदर दैवी प्रकृति का जैसे-जैसे प्रस्फुटन होता है, वैसे-वैसे ईश्वर एक यथार्थता के रूप में हमारे आगे आ जाता है। जब किसी मनुष्य में दैवी गुणों का विकास होता है, तो उसमें एक द्रष्टा की शक्ति का विकास हो जाता है और "एक साधारण पुष्प से चिरकाल तक रहने वाले नक्षत्रों तक" प्रत्येक वस्तु में उसे दैवी सत्ता का दर्शन होने लगता है। यद्यपि कैनिंग स्वयं सर्वातिशायी दार्शनिक न था ; किन्तु वह उनके बहुत ही निकट था और उसका उन पर प्रभाव भी बहुत अधिक था।

यह कहना असंगत न होगा कि अमरीकी धार्मिक नेताओं के बीच उदार विचार रखनेवाले कुछ लोग कैनिंग की तरह यह सोचने लगे थे कि बुद्धिवादी आस्तिकवाद उनकी धार्मिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, किन्तु बुद्धिवादी धार्मिकता के मार्ग पर इतना आगे बढ़ चुकने के बाद धार्मिक अंध-विश्वासी अथवा रूढ़िवादी धार्मिक भावना की ओर लौटना उनके लिए असम्भव था। इस दुविधा की अवस्था में उन्हें एक तीसरा मार्ग दिखाई पड़ा, जिस पर चल कर इंगलैंड में कॉलरिज ने एक "आध्यात्मिक धर्म" अथवा अनुभूतिशील दार्शनिक ईसाई-धर्म का विकास किया था। इसमें न तो बुद्धिवाद को चरम सीमा पर पहुंचाने की चेष्टा की गई और न अन्धविश्वास के आधार पर हवाई महल खड़ा करने का प्रयास किया गया था। कॉलरिज ने दैवी अनुकम्पा का स्थान अंतः-अनुभूति को दिया और दैवी रहस्योद्घाटन का अन्तःप्रेक्षण को। कॉलरिज के अध्यात्मवाद से सबसे प्रथम सम्पर्क जिस अमरीकी विचारक का हुआ, उसका नाम था रेवरेंड जेम्स मार्श, जो वर्माउन्ट विश्वविद्यालय का अध्यक्ष था। मार्श ने १८२९ में कॉलरिज की पुस्तिका[1] का अमरीकी संस्करण प्रकाशित किया।

मार्श ने कॉलरिज की पुस्तिका के अमरीकी संस्करण की लम्बी भूमिका भी लिखी। इसमें इतनी सुंदर विवेचना की गई थी कि कॉलरिज के ग्रन्थ-संग्रह के मुख्य संस्करणों में उसे शामिल किया जाने लगा। मार्श ने कॉलरिज के तरीके को खुलासा रूप में पाठकों के सामने रखा और अमरीका की धार्मिक आवश्यकताओं के अनुरूप उसे बनाया। मार्श ने यह हठ नहीं किया कि कॉलरिज जिन परिणामों पर पहुंचा उन्हें स्वीकार ही कर लिया जाय। उसने केवल सर्वातिशायी अंतःप्रेक्षण ( Transcendental Reflection ) के महत्त्व पर बल दिया

१. Samuel Taylor Coleridge : Aids to Reflection.

और कहा कि इसका उपयोग कर कोई भी अपने में सुधार कर सकता है। मार्श ने कहा कि कॉलरिज ने जो परिणाम निकाले, उनमें से कोई गलत भी हो सकते हैं; किन्तु अधिक महत्त्व इस बात का है कि पुस्तिका हमें इतने अन्तःप्रेक्षण की प्रेरणा प्रदान करती है कि हम लेखक की गलतियां निकालने लगते हैं और उचित दृष्टिकोण पर पहुँचने की चेष्टा करते हैं। उसने कहा कि पुस्तिका में हमें कॉलरिज की विचारधारा के दर्शन तो होते ही हैं, साथ ही उसमें पाठकों का ध्यान कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों की ओर भी आकृष्ट होता है। इन विषयों में एक है मानव प्रकृति के मूल तत्त्व। दूसरा, बुद्धि के द्वारा किस प्रकार सत्य के शाश्वत सिद्धांतों का उद्घाटन होता है। तीसरा, अन्तःकरण की आवाज से किस प्रकार मनुष्य के कर्त्तव्य का बोध होता है।

चूँकि कॉलरिज की पुस्तिका में धार्मिक विवादों की चर्चा की गई थी, मार्श को उसकी धार्मिक मान्यताओं का भी स्पष्टीकरण करना पड़ा। उसकी मुख्य सफाई यह थी कि जब कि ज्ञान और प्रकाश के युग में धर्म का दर्शन तथा बुद्धिवादी विचारधारा से संघर्ष चला था, वहाँ कॉलरिज ने वर्षों के उस संघर्ष के बाद दर्शन और धर्म को एक ही मंच पर लाकर खड़ा कर दिया। अपनी पुस्तिका में कॉलरिज ने जो दार्शनिक स्थिति ग्रहण की, उससे धर्म का विरोध नहीं; बल्कि समर्थन ही होता था। मार्श ने कहा कि केवल इसी विशेषता के कारण उसका अमरीकी संस्करण आवश्यक था। लॉक की अनुभववादी परम्परा को दूर हटाकर कॉलरिज ने प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों के भेद को पुनः स्पष्ट कर दिया। इस प्रकार कॉलरिज ने नैतिकता की स्थापना के लिए बौद्धिक आधार प्रदान किया और प्राकृतिक नियम से भी "कहीं ऊँचे एक नियम" की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।

मार्श ने इसकी चिन्ता नहीं की कि कॉलरिज की विचारधारा के आधार पर उसने जो स्थिति ग्रहण की, वह उसे आत्मनिष्ठवादी बना सकती है। उसने इस बात पर बल दिया कि 'आत्मा' के नियम सुनिश्चित तथ्य हैं, जिनके विषय में न तो शिक्षा दी जा सकती है और न किसी दूसरे व्यक्ति के कहने पर उन्हें स्वीकार ही किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्तियों को अपने मन के अंतरतम कोने में प्रेक्षण कर इन नियमों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इन नियमों को जानने का यही एकमात्र उपाय है। सर्वातिशायी सिद्धान्त के मानने वालों की यह सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि अपनी आंतरिक चेतनाएँ प्रेक्षण करके आत्मज्ञान प्राप्त करने में वे विश्वास रखते हैं। उनका यह भी विश्वास रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति आत्मप्रेक्षण कर एक ही परिणाम पर पहुँच सकता है, क्योंकि उनके मार्ग समान हैं। सर्वातिशायी

विधि के पक्ष में यह तर्क किया जाता है कि सार्वभौमिक सत्य प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में है और इसीलिए सभी उसे स्वतंत्रतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वातिशायी आन्दोलन में भाग लेने वाला एक दूसरा व्यक्ति था फ्रेडरिक हैनरी हैज, जो मार्श के समान ईसाई बना रहा था। हैज हार्वार्ड में दर्शन के अध्यापक लेवी हैज का पुत्र था। फ्रेडरिक हैनरी हैज ने कई वर्ष तक जर्मनी में अध्ययन किया और यूनिटेरियन पादरी हो गया, किन्तु बाद में वह अध्यापन के पैतृक पेशे में आ गया। वह हार्वार्ड में जर्मन साहित्य पढ़ाने लगा। थियोडोर पार्कर के अलावा, सर्वातिशायी आन्दोलन में भाग लेने वालों के बीच फ्रेडरिक हेनरी हैज को सब से सुपठित व्यक्ति कहा जा सकता है। जर्मनी में दर्शन तथा साहित्य की रोमान्टिक विचारधारा से उसका परिचय अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक था। उसने कांट, फिट्शे तथा शैलिंग की कृतियों का अवलोकन किया था ; किन्तु इनके दर्शन के सम्बन्ध में उसका ज्ञान साहित्य के विद्यार्थी के अनुरूप था, दर्शन के विद्यार्थी के अनुरूप नहीं। उपर्युक्त जर्मन दार्शनिकों की विचारधारा में कभी-कभी अन्तःप्रवेश तो वह कर जाता था, फिर भी यह कहना असंगत नहीं होगा कि उसका जर्मन दर्शन का अध्ययन क्रमबद्ध अथवा ठोस नहीं था।

सर्वातिशायी सिद्धान्त को मानने वालों के क्लब की स्थापना १८३६ में संयोगवश हैज, राल्फ, वाल्डो, इमर्सन तथा जार्ज रिपले के बीच एक दिन बातचीत के परिणामस्वरूप हुई। इस बातचीत के समय जार्ज पुतनाम भी उपस्थित था ; किन्तु अन्य तीन दार्शनिकों की अपेक्षा उसकी अभिरुचि धर्म और दर्शन के प्रति कम थी। इन लोगों ने एक सप्ताह बाद फिर मिलने तथा बैठक में अन्य युवा पादरियों को आमंत्रित करने का निश्चय किया। इस तरह इस बैठक में लगभग एक दर्जन व्यक्ति सम्मिलित हुए। इसके बाद सात या आठ वर्ष तक जब भी हैज बोस्टन आता, तो उसके सर्वातिशायी मित्रों की बैठक होती थी। चूँकि उनकी बैठक हैज के आने पर होती थी ; इसलिए अनेक लोग इन्हें हैज क्लब भी कहते थे।

फ्रेडरिक हैनरी हैज ने जर्मन दार्शनिकों में कांट, फिट्शे और शिलिंग के तथा अंग्रेज दार्शनिकों में कॉलरिज तथा कार्लाइल के मतों पर अपने मित्रों के बीच विचारों का आदान-प्रदान कर सर्वातिशायी विचारधारा को आगे बढ़ाया। इसके अलावा उसने इस तथ्य पर भी बल दिया कि मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की एक सब से महत्वपूर्ण अवस्था वह है, जब वह प्रेम

के धर्म में आस्था रखने लगता है। हैज ने कहा कि मनुष्य का विकास क्रमशः तीन अवस्थाओं से होता है। इनमें से पहली उसकी प्राकृतिक अवस्था है, जब वह अपनी भौतिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर कार्य करता है। मनुष्य की दूसरी अवस्था नैतिक क्षेत्रों की होती है, जब वह कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है। तीसरी अवस्था आत्मिक क्षेत्र की होती है, जब मनुष्य केवल प्रेम की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है।

हैज ने ईसाई-धर्म के कितने ही परम्परागत विचारों को सर्वातिशायी दृष्टि-कोण से व्याख्या की। इस प्रकार, हैज की धार्मिक कृतियाँ केवल भावना की दृष्टि में ही कैनिंग की कृतियों से नहीं मिलती थीं; बल्कि हैज पुराने धार्मिक सिद्धान्तों को नया जामा पहनाने में भी कैनिंग के ही समान सफल सिद्ध हुआ। हैज ने एक व्यक्ति में दैवी सत्ता आरोप करने की ईसाई-परम्परा को आगे बढ़ा कर यह मान्यता दी कि सभी व्यक्तियों में दैवी सत्ता का विकास सम्भव है। हैज ने कहा कि ईश्वर मानव-समाज में अपनी चेतना का निरन्तर प्रस्फुटन करता रहता है। इसी प्रकार, उसने एक दूसरी ईसाई-मान्यता का हवाला दे कर यह मत प्रतिपादित किया कि यह समस्त विश्व दैवी क्षेत्र के निकट पहुँच सकता है। इस प्रकार, ईसाई धर्म की पुरानी शब्दावली का नया अर्थ लगाने का परिणाम यह हुआ कि उस शब्दावली का प्रयोग रूढ़िवादिता से मुक्ति तथा नये विचारों के प्रसार के लिए हैज कर सका। इसका, एक दूसरा लाभ यह हुआ कि हैज दावा कर सका कि वह ईसाई-धर्म के सिद्धान्तों पर अचल आस्था रखता है।

यहाँ कैलेब स्प्राग हेनरी की भूमिका का संक्षिप्त परिचय दे देना अनुचित नहीं होगा। वह न्यूयार्क विश्वविद्यालय में दर्शन का अध्यापक होने के अतिरिक्त ईसाई-धर्म के एक विशेष सम्प्रदाय का सदस्य भी था। वह स्वयं सर्वातिशायी आन्दोलन का सदस्य नहीं था; किन्तु उसने एक फ्रांसीसी दार्शनिक विक्टर कजिन के ग्रंथ का अनुवाद प्रकाशित कर इस आन्दोलन को प्रत्यक्ष सहायता पहुँचाई। कजिन ने कांट के बाद की जर्मन रोमान्टिक विचारधारा को स्काटिश दृष्टिकोण से यह कह कर मिलाने का प्रयास किया कि मौलिक सत्य अनुभूति द्वारा प्रकाश में आ सकते हैं। बुद्धि ( Reason ) और समझ ( Understanding ) के मध्य, स्पष्ट भेद किये बिना ही उसने बुद्धि के नैतिक तथा आध्यात्मिक अन्तःप्रेक्षण में प्रयोग की विज्ञान में होनेवाले प्रयोग से तुलना की।

कैलेब हैनरी प्रचारक तथा लेखक के रूप में नैतिक विषयों का एक बहुत ही लोकप्रिय व्याख्याता था। उसने अपने नीति विषयक निबन्धों में उपयोगितावादी नैतिकता का—जिसमें मानव-जीवन का उद्देश्य केवल सुख प्राप्त करना माना गया है—घोर विरोध किया। उसने आचार-शास्त्र की इस प्रणाली की निन्दा की, क्योंकि इसमें स्वार्थ को एक मूलभूत सिद्धान्त के रूप में मान्यता प्रदान की गई थी। कैलेब हैनरी ने अपने दृष्टिकोण को समझाने के लिए एक मनोरंजक उदाहरण दिया। यह उदाहरण, उसके निबन्ध 'शैतान : एक नैतिक दार्शनिक' में मिलता है। कैलेब हैनरी ने लिखा कि एक दिन ईश्वर ने शैतान को बुला कर उससे नौकर जॉब की आस्था की सराहना की। इस पर शैतान ने प्रश्न किया—"क्या जॉब ने ईश्वर की सेवा निष्काम भाव से की?" साथ ही शैतान ने यह भी कहा कि ईश्वर ने जॉब को जो लाभ प्रदान किए हैं, उन्हें यदि ले लिया जाय, तो जॉब की आस्था नष्ट हो जायगी। शैतान ने आरोप किया कि जॉब उपयोगितावादी था और उसने ईश्वर की सेवा केवल लाभ के लिए ही की थी। हैनरी ने सुझाव पेश किया कि शैतान का तर्क एक ऐसे सिद्धान्त पर आधारित है, जिसका औचित्य ईश्वर और शैतान दोनों ही स्वीकार करते हैं। सिद्धान्त यही है कि लाभ के लिए की गई भलाई वस्तुतः भलाई नहीं होती। हैनरी ने कहा कि एपीक्यूरस और होरेस से लेकर हाब्स, लॉक, हैल्विटियस, पेले तथा उन अन्य नैतिक दार्शनिकों से, जो स्वार्थ को मानव-आचरण का निर्णायक हेतु मानते हैं, शैतान कहीं श्रेष्ठ दार्शनिक है, क्योंकि उपयोगितावादी दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार भले आदमी लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से भला कार्य करते हैं। उसने यह भी कहा कि यदि इस मान्यता को स्वीकार किया जाय, तो स्वार्थ मनुष्य का उच्चतम उद्देश्य है और उससे ऊँचा उद्देश्य होना सम्भव भी नहीं है।

यद्यपि थियोडोर पार्कर स्वयं सर्वातिशायी आन्दोलन के नेताओं में नहीं था, फिर भी उसे मार्श, हैज तथा कैलेब हैनरी के साथ ऐसा एक पादरी माना जा सकता है, जिसकी सर्वातिशायी सिद्धान्त के प्रति सहानुभूति थी। पार्कर ने भी कभी अपने सम्प्रदाय का परित्याग नहीं किया। उसके विचार में उसके जीवन का कार्य ईसाई-धर्म की शुद्धि तथा उसके मूल सिद्धान्तों पर पुनर्विचार था। पार्कर मानवीय संस्थाओं के विकासवादी दृष्टिकोण में आस्था रखता था। उसका कहना था कि इनका केवल विकास ही नहीं होता;

बल्कि इतिहास के द्वारा उनमें सुधार भी होता है। उसके मत में ईसाई-धर्म अन्तिम धर्म नहीं है; बल्कि यह प्रत्येक व्यक्ति द्वारा यथार्थता के प्रत्यक्षीकरण के आध्यात्मिक आदर्श का अपने समय में चरम विकास है। उसका विचार था कि ईसाई-धर्म में एक ऐसी व्यवस्था आवश्यक है कि उसका आधार मनुष्य और प्रकृति के ईश्वर के प्रति सान्निध्य को माना जा सके।

पार्कर धर्म के "अस्थायी" तथा "स्थायी" तत्वों में भेद करता था। ईसाई-धर्म के प्रति उसकी विचारधारा संक्षेप में यह थी कि इसके शाश्वत सत्य अपने आन्तरिक महत्त्व के कारण मूल्यवान हैं, न कि ईसा से अपने अस्थायी सम्बन्ध के कारण। उसका विश्वास था कि एक सच्चे धर्मशास्त्र का दृष्टिकोण वैसा ही होना चाहिए, जैसा कि किसी भी विज्ञान का। जिस प्रकार किसी वैज्ञानिक सत्य की सर्वप्रथम घोषणा करने वाले का महत्त्व तात्कालिक होता है, उसी प्रकार नैतिक अथवा धार्मिक सत्यों के उद्घाटन करने वाले का महत्त्व भी तात्कालिक तथा अस्थायी ही होना चाहिए। धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों को मानवीय अनुभव तथा बुद्धि की कसौटी पर कसा जाना आवश्यक है और उन्हें केवल इसीलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे परम्परा के रूप में हमें प्राप्त हैं, अथवा इसलिए कि किसी व्यक्ति-विशेष का नाम उनसे सम्बन्धित है। ईसाई-धर्म का निर्माण भी अन्य धार्मिक प्रणालियों के समान मनुष्यों के द्वारा ही हुआ है और इसलिए उसे अपूर्व अथवा दैवी निर्देश से प्राप्त नहीं माना जा सकता। मनुष्य द्वारा स्थापित अन्य संस्थाओं का परीक्षण जिस मापदंड के द्वारा किया जाता है, उसी मापदंड से ईसाई-धर्म का भी परीक्षण होना चाहिए। यह मापदंड है ईसाई-धर्म का सार्वभौमिक सत्यों तथा बुद्धि से सामंजस्यीकरण। पार्कर ने अपने जीवन के अन्तिम काल में कहा था कि संसार में केवल एक ही धर्म है और यदि एक तरफ इस धर्म की ओर प्रगति करने के लिए कुछ सुविधाएँ हैं, तो दूसरी तरफ असुविधाएँ भी हैं।

पार्कर ने अपने पादरी-जीवन के शुरू में ही कहा था कि वह केवल एक ऐसे धर्म का प्रचार करेगा, जो अन्तःअनुभूति तथा बुद्धिवाद दोनों से अनुप्राणित हो। इमर्सन की सलाह मान कर उसने यह निश्चय कर लिया कि वह केवल ऐसे धर्म का प्रचार करेगा, जिसकी सच्चाई का अनुभव वह पहले अपने हृदय में कर चुका हो। पार्कर ने अपने धार्मिक जीवन के बीच विभिन्न सम्प्रदायों की रूढ़िवादिता की कटु आलोचना भी की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि

वह अन्य पादरियों के बीच लोकप्रिय नहीं रह गया; किन्तु श्रोताओं ने पार्कर की विचारधारा का हृदय से स्वागत किया।

पार्कर अपने समय का एक प्रमुख समाज-सुधारक भी था। विलियम एलरी चैनिंग की तरह वह दास-प्रथा को खत्म कर देने के पक्ष में था और उसने १८४० के अनेक समाज-सुधार-आन्दोलनों में भाग लिया था। सर्वातिशायी सिद्धान्त को मानने वालों में अधिकांश राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील विचारों के थे। उनकी आध्यात्मिकता अप्रिय तथ्यों से भागने की नहीं थी; बल्कि वह उन तथ्यों को बदलने की प्रेरणा प्रदान करती थी। सर्वातिशायी सिद्धान्त को मानने वालों में अधिकांश का विचार था कि समाज में प्रत्येक का सुधार होना संभव नहीं है। उनमें से अनेक का विश्वास था कि समाज-सुधार का कार्य आदर्श बस्तियाँ आबाद करने के अप्रत्यक्ष तरीके से होना अधिक सम्भव है। जब इन बस्तियों से प्रकट हो जायगा कि उन्हें कायम करने वालों के आदर्शों की कैसी सफल परिणति हुई, तो इस प्रकार नए आदर्श देश-भर में फैल जाएँगे। ब्रुकफार्म तथा फ्रूटलैंड्स नामक इस प्रकार के दो प्रयोग किए भी गए; किन्तु सर्वातिशायी दार्शनिकों में व्यावहारिक अनुभव कम रहने के कारण वे सफल नहीं हो सके। इससे दार्शनिकों का सुधार के प्रति जोश कुछ ठंडा भी पड़ गया।

इस प्रकार हमने देखा कि सर्वातिशायी दार्शनिक अनेक बातों में भिन्न मत रखते हुए भी अपने दृष्टिकोण की समानता के कारण एक ही विचारधारा के अंग माने जा सके। सर्वातिशायी विचारधारा की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि उसके विश्वास के अनुसार प्रत्येक विचारक अन्तःप्रेक्षण द्वारा सत्य तक पहुँच सकता है। इस विश्वास के प्रकाश में जब कि सर्वातिशायी सिद्धान्त को मानने वाले कुछ लोग ईसाई बने रहे, तब कुछ ने गिरजे छोड़ दिए। वहाँ उसका प्रभाव अमरीका की धार्मिक विचारधारा में आध्यात्मिकता का पुट लाने के रूप में भी पड़ा। इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप जहाँ कट्टर-पंथी परम्पराओं के प्रति विद्रोह की भावना को प्रोत्साहन मिला, वहाँ दूसरी तरफ जन-हितकारी कार्यों के प्रति अभिरुचि बढ़ी। यही नहीं, विचारधारा की इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप नई बातों को स्वीकार करने की भावना का भी विस्तार हुआ। दार्शनिक दृष्टि से सर्वातिशायी सिद्धान्त का महत्त्व यह था कि उसे एक आदर्शवादी सिद्धान्त कहा जा सकता था, जिसकी सब से बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें मनुष्य के प्राकृतिक रूप में एक ऐसे गुण की

स्थापना की गई थी, जिसमें अलौकिकता का अंश पर्याप्त मात्रा में था। इस अध्याय के शेष अंश में हम इस आदर्शवाद अथवा चेतनवाद के विभिन्न रूपों के प्रस्फुटन को देखेंगे। इसे हमें राल्फ वाल्डो इमर्सन के सर्वातिशायी व्यक्तिवाद, हैनरी डेविड थोरो की अराजकतावादी विचारधारा तथा हैनरी-जेम्स की धार्मिक-राजनीतिक सामाजिक लोकतंत्रवादिता के रूप में देखना है।

# राल्फ वाल्डो इमर्सन : व्यक्तिवादी सिद्धान्त

जब राल्फ वाल्डो इमर्सन ने हैज और रिपले के साथ युवा पादरियों को धर्म तथा दर्शन की समस्याओं पर विचार-विनिमय करने के लिए आमंत्रित किया, तो उसका यह निश्चय पिछले कुछ वर्षों में हुई कतिपय घटनाओं का परिणाम था। १८२९ में उसने हार्वार्ड डिविनिटी स्कूल से स्नातक होने के बाद यूनिटेरियन ( अद्वैतवादी ) पादरी होना स्वीकार किया। ऐसा उसने इस आशा में किया था कि ऐसा कर, वह परिवार के अन्य पूर्ववर्ती पुरुषों की तरह पादरी का कार्य सुदीर्घ काल तक कर सकेगा। तीन वर्ष बाद १८३२ में उसे अनुभव हुआ कि इस सम्प्रदाय की विचारधारा से उसका निजी दृष्टिकोण मेल नहीं खाता और उसने अपने पादरी के कार्य से त्यागपत्र दे दिया। इन दिनों वह कॉलरिज की कृतियों का अध्ययन कर चुका था और इस अध्ययन ने उसके दृष्टिकोण को और भी प्रभावित किया। उसके पास विचारों की कमी नहीं थी और प्रयत्नशील भी था, किन्तु यूनिटेरियन सम्प्रदाय से सम्बन्ध-विच्छेद होने के बाद प्रकट हुआ कि उसके उद्देश्य में कुछ अनिश्चितता आ गई है। इस घटना से पूर्व उसे लगता था कि वह ठीक रास्ते पर चला जा रहा है। बाद में उसने अनुभव किया था कि चर्च का पद और आत्मसम्मान दोनों की रक्षा वह एक साथ नहीं कर सकता। परन्तु, गिरजे से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर जीवन उसे निरुद्देश्य जान पड़ने लगा और उसे दिशाभ्रम-सा भी हुआ।

इमर्सन इसी दुविधापूर्ण स्थिति में था कि उसके मन में यूरोप की यात्रा के लिए चल पड़ने का विचार उठा। उसने सोचा कि यूरोप की यात्रा से खोया हुआ आत्मविश्वास उसे पुनः प्राप्त हो जायगा और जीवन की दिशा का ज्ञान भी उसे होने लगेगा। उसे आशा थी कि इस यात्रा में वह अपने गुरु कॉलरिज और कार्लाइल से मिलेगा तथा कितने ही नए व्यक्तियों और स्थानों की जानकारी वह प्राप्त कर सकेगा। उसे विश्वास था कि अपने

इस अनुभव के परिणामस्वरूप वह एक नया व्यक्ति होकर वापस आएगा। परन्तु, वस्तु-स्थिति इससे भिन्न निकली। यूरोप पहुँचने से पूर्व ही नए इमर्सन का जन्म हो चुका था। जहाज पर ही इमर्सन को नया व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। महासागर के पार यात्रा में उन दिनों काफी समय लगता था और इमर्सन को यूरोप पहुँचने से पूर्व एकाकी आत्मचिन्तन के लिए पर्याप्त समय मिल गया

१८३३ में ही इमर्सन ने अपना संकल्प कर लिया था। इसे इसने अपनी कविता 'आत्म-निर्भरता' ( Self Reliance ) में प्रकट भी किया था :—

> **"ईश्वर, अब से मैं मनुष्यों के मतामतों का जुआ अपने कंधे से उतारता हूँ। अब मैं पक्षी की तरह प्रसन्न होता हूँ और ईश्वर के निकट पहुँचता हूँ।"**

इससे भी अधिक यह हुआ कि उसे बोध हो गया कि वह ईश्वर को अपने हृदय में पा सकता है। यदि सचेत होकर सुने, तो उसे अपने हृदय में ही ईश्वर की वाणी सुनाई दे सकती है। इस तरह इमर्सन सर्वातिशायी सिद्धान्त में विश्वास करने लगा। यदि इमर्सन यूरोप पहुँचने से पूर्व मार्ग से ही लौट आता, तो भी उसके शेष जीवन की विचारधारा में कोई अन्तर नहीं आता। उसे अपने शेष जीवन के लिए मुक्ति के दर्शन हो चुके थे। यह महान् आस्था जीवन-भर उसमें बनी रही और उसने दूसरों को भी अपनी ही तरह मुक्ति का यह मार्ग दिखाया।

१८३५ में अमरीका लौटने पर इमर्सन का संकल्प परिपक्व होकर गहरी आस्था का रूप धारण कर चुका था। उसके मन में यह विश्वास जम चुका था कि ईश्वर ने अन्तर में प्रकाश जगाकर जो रास्ता दिखाया है, उस पर उसे निश्शंक होकर आगे बढ़ना चाहिए। १८३६ में अपनी पुस्तिका—'नेचर' में उसने अपनी इस खोज पर पहली बार प्रकाश डाला। अगले दो वर्षों में उसने अपने दो व्याख्यानों में दूसरों से भी अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने के लिए इसी तरह का निश्चय करने का अनुरोध किया। पहले व्याख्यान का शीर्षक था—'अमरीकी विद्वान्' ( The American Scholar ) और वह फी बेटा कप्पा में दिया गया था। दूसरा व्याख्यान केम्ब्रिज डिविनिटी स्कूल से स्नातक होकर निकलने वाली कक्षा के विद्यार्थियों के समक्ष दिया गया था। इमर्सन ने अपने शेष जीवन में जो भी कहा और लिखा, वह मुख्यतः उपर्युक्त तीन कृतियों में प्रकट की गई विचारधारा की पुनरावृत्ति-

मात्र थी। पहली तीन कृतियों में उसने सर्वातिशायी जीवन की मूल योजना पर प्रकाश डाला और बाद की कृतियों में उसने मूल योजना में परिवर्तन किए विना उसकी शिथिल कड़ियों को पुष्ट किया। इस प्रकार, प्रकट है कि जब इमर्सन ने अन्य लोगों के साथ मिल कर सर्वातिशायी क्लब की स्थापना की थी, तब वह एक ऐसी विचारधारा को आगे बढ़ा रहा था, जिसमें उसकी आस्था पहले ही जम चुकी थी।

इमर्सन ने जिस सर्वातिशायी विधि की कल्पना की, और उपयोग किया, वह पूर्णतः अन्तःअनुभूति पर निर्भर था। उसमें तर्क अथवा प्रज्ञा के लिए स्थान नहीं था। प्रत्येक सर्वातिशायी अन्तःप्रेक्षण, व्यक्ति द्वारा शाश्वत सत्य को प्राप्त करने का एक प्रयास था। अतीत में जो कुछ हो चुका है तथा भविष्य में जो कुछ होने वाला है, उससे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। इस तरह वह अपने में पूर्ण था। सर्वातिशायी विधि में असंगति के लिए भी स्थान था। आन्तरिक चेतना का झोंका सदा एक ही दिशा की ओर अथवा तीव्रता से नहीं आता। इमर्सन को इस बात की चिन्ता नहीं थी कि चेतना की तरंग अथवा विभ्रम उसे परस्पर विरोधी विचारों की तरफ ढकेलता है। इमर्सन का मत था कि मूर्खतापूर्ण संगति केवल लघु व्यक्तियों को संतोष प्रदान कर सकती है। कट्टर अद्वैतवादी ( Unitarian ) पादरी हेनरी वेयर ने इमर्सन से उसकी एक उक्ति की पुष्टि में तर्क देने को कहा था। इमर्सन ने एक सर्वातिशायी दार्शनिक के दृष्टिकोण से ठीक ही कहा था कि अपनी उक्ति के समर्थन में उसके पास कोई तर्क नहीं है और न वह यही जानता है कि किसी विचार की पुष्टि में तर्क का क्या कुछ महत्त्व हो सकता है ? इमर्सन ने यह उत्तर अपनी सहज निष्कपटता से दिया था।

इमर्सन का यह विचार नहीं था कि सर्वातिशायी विधि से जो अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है, वह केवल एक ही विचार के लिए उपयोगी होती है। इमर्सन तथा सर्वातिशायी सिद्धान्त के प्रति आस्था रखने वाले दार्शनिकों का विचार था कि आत्म-प्रक्षण से ऐसे आत्मनिष्ठ परिणाम नहीं निकलते, जिनसे केवल एक ही व्यक्ति का लाभ होता हो ; बल्कि उससे सार्वभौमिक महत्त्व के परिणाम निकलते हैं। इस तथ्य में इमर्सन की अचल आस्था थी कि यदि कोई व्यक्ति अपनी चेतना की गहराई में उतर कर सचाई से अन्वेषण करे, तो उसे ऐसे अनिर्वचनीय ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो ससीम मानव की क्षमता के परे है। उसका यह भी दृढ़ विश्वास था कि सर्वातिशायी विधि का उपयोग कर उसे

जो असाधारण अनुभव हुआ है, उसे अन्य व्यक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त कर दूसरे व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में बहुत कुछ जान सकता है।

यही वह आधार था, जिस पर इमर्सन ने अपना यह विश्वास कायम किया कि सर्वातिशायी अन्तःप्रेक्षण की विधि का उपयोग करने वाला व्यक्ति इस विषय में सम्पूर्ण मानव-समाज का आध्यात्मिक प्रतिनिधि होता है। इस प्रतिनिधि का चुनाव जनता के मतदान द्वारा नहीं होता; बल्कि वह अपने हृदय की अन्तर्तम वाणी द्वारा स्वयमेव चुना जाता है। इमर्सन की यह उक्ति आत्मश्लाघा से पूर्ण जान पड़ती है। विशेषकर उस व्यक्ति को और भी, जो व्यक्तित्व को अहंभाव का परिचायक मानता है; किन्तु इमर्सन के विचार से यह सिद्धान्त विनम्रता का ही परिचायक है। यद्यपि वह वाणी किसी व्यक्ति-विशेष के अन्तर से निकली; किन्तु वास्तव में वह केवल उस व्यक्ति की वाणी ही नहीं हुई। वह ईश्वर की वाणी है। सर्वातिशायी आत्मप्रेक्षण उसके अन्तर में होता हुआ आत्मा के उस अन्तरतम स्थल पर पहुँच जाता है, जहाँ परमात्मा का निवास है। यही वह पृष्ठभूमि थी, जिसमें इमर्सन के लिए यह कहना सम्भव हो सका—"हमारा कुछ नहीं। जो कुछ है परमात्मा का है। व्यक्ति की सत्ता सदा भ्रामक होती है।" एक असीम मन होता है, जिसे परमात्मा भी कह सकते हैं। इस पर मानव-मात्र का समान अधिकार है। इमर्सन के शब्दों में—"प्रत्येक व्यक्ति असीम मन की एक अवतारणा है।" मानव-जाति का आध्यात्मिक प्रतिनिधित्व जो व्यक्ति करता है, वह असीम मन की अभिव्यक्ति है, व्यक्ति-विशेष के मन की नहीं।

इमर्सन ने इस विषय को कई तरह से लोगों के सामने रखा। कभी उसकी भाषा रहस्यवादी रंग में रँग जाती थी, जैसा कि उसकी पुस्तिका, 'नेचर' में लिखे गए निम्न शब्दों से प्रकट है—"नंगी जमीन पर खड़े हुए मेरा सिर आनन्दमय वायु में नहाया हुआ है और वह अनन्त आकाश में उठा हुआ है—निम्न कोटि का अहंभाव तिरोहित हो गया है। मैं आंख की पुतली की तरह पारदर्शी हो गया हूँ। मैं कुछ नहीं हूँ। मैं सब को देख रहा हूँ। विश्वव्यापी सत्ता का मुझ में संचार हो रहा है।" कभी-कभी इमर्सन स्वीडिश रहस्यवादी इमेनुएल स्वेडनबर्ग की तरह मनुष्य के व्यक्तित्व के विस्तार को ही मानव-जाति कहता था। उदाहरण के लिए उसने 'दि अमेरिकन स्कॉलर'

स्वेडनबर्ग के इसी विचार के आधार पर लोगों को आंशिक व्यक्ति और

पूर्ण व्यक्ति कहा है। आंशिक व्यक्ति किसान, वकील अथवा दंभी विद्वान् हैं— ऐसे व्यक्ति जो अपनी विद्या का उपयोग जीविका-निर्वाह के लिए करते हैं। पूर्ण व्यक्ति मानव-जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं और इनके कार्यों का उद्देश्य मानव-समाज की सेवा करना होता है। इमर्सन के विचार से किसान को ईश्वर ने खेतों से केवल अपने लिए नहीं; बल्कि मानव-मात्र के लिए खाद्यान्न संग्रह के लिए भेजा है। किसान अपनी जाति की तरफ से खाद्य संग्रह-कर्त्ता है और उसके कृषि-सम्बन्धी कार्य गौरव के विषय हैं। किसान का महत्त्व अपनी सेवा के कारण है। उसके विचार में विद्वान् को दंभी न होकर मानव-समाज का बौद्धिक प्रतिनिधित्व करना चाहिए। इमर्सन के विचार में किसी विद्वान् की विचारधारा अपने समाज की बौद्धिक चेतना का प्रतिनिधित्व इसलिए नहीं करती; क्योंकि वह एक औसत अथवा साधारण व्यक्ति के विचारों की प्रतिच्छाया है; बल्कि इसलिए कि वह मानव-समाज के सर्वोत्तम हितों को अग्रसर करने वाली है।

कभी-कभी इमर्सन अपने विचार इतनी सरल भाषा में व्यक्त करता था कि उसे सभी समझ सकते थे; किन्तु इसका एक दुष्परिणाम यह होता है कि विचारधारा के सम्बन्ध में भ्रम भी व्यापक रूप से फैल जाता था। ऐसा उसके निबन्ध 'सेल्फ रिलाइन्स' से हुआ। प्रत्येक व्यक्ति के पीछे सर्वातिशायी तथा सार्वभौमिक व्यक्तित्व छिपा हुआ है, जिससे आत्मनिर्भरता की प्रेरणा मिल सकती है। इमर्सन के आत्म-निर्भरता के आदर्श को लेकर यह भ्रम भी फैल गया था कि उससे स्वच्छन्दता का द्वार खुल जाता है। इमर्सन ने कहा कि जिन लोगों में मौलिक प्रतिभा तथा मौलिक क्षमता हो, उन्हें अपनी दृष्टि किसी एक राष्ट्र तक सीमित न कर उसे व्यापक बनाना चाहिए। उसने कहा कि यदि ऐसे लोग अपनी दृष्टि किसी एक राष्ट्र की परिधि को लाँघ कर व्यापक बना सकते हैं, तो निश्चय ही वे उसे किसी एक व्यक्ति के व्यक्तित्व से भी व्यापक बनाने में समर्थ हो सकते हैं। आत्मनिर्भर व्यक्ति से इमर्सन आशा करता है कि वह अपने दृष्टिकोण में मानव-मात्र के हित का समावेश करे। इमर्सन यह तथ्य स्वीकार करता था कि व्यक्तिवाद का स्वाभाविक परिणाम अहंभाव हो सकता है; परन्तु उसने साथ ही इस बात पर भी बल दिया कि अहंभाव रखने वाले लोग समाज पर एक बोझ हैं। इमर्सन के विचार में व्यक्तिवाद से उसका स्वाभाविक परिणाम निकलना आवश्यक नहीं। संस्कृति का कार्य व्यक्ति को इस स्वाभाविक परिणाम से परे ले जाने, उसकी अहंभावना में सुधार करने

और व्यक्ति को स्वार्थमूलक सफलता के विचार से दूर हटाना है । संस्कृति मनुष्य को व्यक्तिवाद के आदर्शमूलक परिणाम की ओर ले जा सकती है ।

इमर्सन ने अपने को अमरीकी राष्ट्र के विचारक के स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया । ऐसे समय में जब कि यातायात व्यवस्था का आधुनिक अर्थ में विकास नहीं हुआ था, इमर्सन ने अपने आध्यात्मिक आदर्शवादी पंथ पर आस्था रखने वालों का एक जनसमुदाय उत्पन्न कर लिया । इस पंथ का मसीहा इमर्सन स्वयं था । उसने विश्व के प्रति ऐसा मौलिक सम्बन्ध कायम करने का अनुरोध लोगों से किया, जिसमें इतिहास और परम्परा का ध्यान रखना आवश्यक नहीं । इमर्सन ऐसे समय में हुआ था, जब न्यू इंगलैंड में अनेक इतिहासकार हुए थे ; परन्तु, इमर्सन ने कहा कि विश्व के सम्बन्ध में जो भी प्रश्न उठाए जायँ, उनका उत्तर देने के लिए हमें अतीत के इतिहास में जाना आवश्यक नहीं है । इमर्सन का मत था कि प्रकृति हमारे सभी प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ है । सृष्टि की व्यवस्था को देखकर जो भी प्रश्न हमारे मन में उठते हैं, उनका उत्तर सृष्टि से हमें मिल सकता है । इमर्सन ने कहा कि काव्य तथा दर्शन का आधार इतिहास के स्थान पर नई अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए । उसके विचार में धर्म का आधार ज्ञान के पिछले निर्देशों के स्थान पर ईश्वर द्वारा मनुष्य के हृदय में प्रतिक्षण जगाई जाने वाली ज्योति होना उचित है ।

इमर्सन जिस प्रकृति पर इतनी आस्था रखता था, वह वैज्ञानिक की प्रकृति से भिन्न थी । इमर्सन प्रकृति को रहस्यवादी दृष्टिकोण से देखता था । उसका कहना था कि प्रकृति पर मनुष्य की प्रभुता वैज्ञानिक के समान दृश्यजगत् के निरीक्षण करने की नहीं । मनुष्य कवि अथवा कलाकार के रूप में प्रकृति का स्वामी है, क्योंकि वह उसके विभिन्न रूपों, जैसे उसके वृक्षों, पुष्पों अथवा बादलों, को उतार कर एक कला-कृति का रूप प्रदान कर सकता है । यही नहीं, मनुष्य प्रकृति का उपयोग एक रहस्यवादी के रूप में अपनी चेतना को केन्द्रीभूत करने के लिए करता है । वह प्रकृति में अपने को इतनी पूर्णता से लगा देने की क्षमता का विकास कर लेता है कि उसे अपनी पृथकता का ज्ञान नहीं रह जाता और सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के प्रति वह अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है । प्रकृति अपने रहस्यों का उद्‌घाटन उन्हीं को करती है, जो प्रेम की भावना का विकास कर उसकी तरफ आकृष्ट होते हैं । प्रकृति के जिस वस्तुवादी रूप का सम्बन्ध विज्ञान से है, उसमें इमर्सन की दिलचस्पी नहीं थी । उसे प्रकृति के उन विभिन्न तथा चिर परिवर्तनशील रूपों में, जिनमें

मनुष्य की क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाली चित्तवृत्तियाँ प्रतिविम्बित होती हैं और जिनमें मनुष्य की चेतना से तादात्म्य स्थापित होता है, आनन्द की प्राप्ति होती थी। सच तो यह है कि इमर्सन को प्रकृति के अपने स्वरूप की अपेक्षा उसके इस पहलू में ही अधिक रुचि थी कि उसका मनुष्य से कैसा सम्बन्ध है और वह आध्यात्मिक क्षेत्र में मानव की किन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

प्रकृति मनुष्य की जो चहुमुखी सेवाएँ करती है, उसमें भी इमर्सन को आध्यात्मिक व्यवस्था के दर्शन हुए। प्रकृति मनुष्य को जीवन-यापन करने की सामग्री उपलब्ध करती है। प्रकृति के इस वस्तुवादी रूप से अधिक महत्व उसके सौन्दर्य, उसकी भाषा तथा उसकी व्यवस्था का है। वस्तु के रूप में प्रकृति की उपयोगिता से प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। यह प्रकृति की मनुष्य के प्रति प्रत्यक्ष सेवा है, जिसमें मनुष्य का पोषण होता है। प्रकृति अपने इस व्यापार के द्वारा मनुष्य के प्रति परमप्रभु के प्रेम की धारा का दर्शन कराती है; परन्तु यह उल्लेखनीय है कि यदि मनुष्य को लाभान्वित होना है, तो प्रकृति के सभी अंगों को एक साथ कार्य करना चाहिए। सूर्य, वायु, बर्फ, वर्षा, पौधे अथवा पशु कोई भी अलग से मनुष्य को लाभ नहीं पहुँचा सकते; किन्तु ये सभी मिल कर एक दैवी व्यवस्था का निर्माण करते हैं। "वायु बीजों को जमाती है, सूर्य समुद्र में भाप बनाता है, वायु भाप को उड़ा कर खेतों तक लाती है, वर्षा पौधों का पोषण करती है और पौधों से पशुओं का पालन होता है।" इस प्रकार, मनुष्य के पोषण के लिए ये प्राकृतिक तत्त्व मिलकर कार्य करते हैं।

वस्तु और सौन्दर्य के मध्य प्रकृति के विभिन्न रूपों की पूर्णता का ज्ञान है; परन्तु यदि मनुष्य को प्रकृति के अनिर्वचनीय सौन्दर्य का ठीक तरह रसास्वादन करना है, तो उसके प्रयासों में, आध्यात्मिकता का पुट मिलना आवश्यक है। प्रकृति के सौन्दर्य का पूर्ण रसास्वादन करने के लिए यह अनुभूति आवश्यक है कि प्रकृति में शिवं और सुन्दरं का सुयोजित योग है। प्रकृति में जो भी कुछ अच्छाई है, उस पर ईश्वर सौन्दर्य की मुहर लगा देता है। इसी तरह, प्रकृति के सौन्दर्य का मनुष्य की बुद्धि से भी सम्बन्ध है। सौन्दर्य का सम्बन्ध गुण तथा विचार दोनों से है। कला की दृष्टि से इस सम्बन्ध का विशेष महत्त्व है। इमर्सन ने एक स्थान पर कहा है कि प्रकृति का सौन्दर्य केवल निरुद्देश्य विचार का विषय नहीं है, वरन् इससे सृजनात्मक कार्य में भी सहायता मिलती है।

प्रकृति की मनुष्य के प्रति सेवाओं पर विचार करते हुए हम इमर्सन की

एक अन्य उल्लेखनीय मान्यता पर आते हैं। इमर्सन का कहना है कि प्रकृति का मनुष्य की भाषा से भी सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में पहली बात यह है कि शब्दों का निर्माण प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर हुआ है। यह उक्ति केवल उन्हीं शब्दों के सम्बन्ध में लागू नहीं है, जिनके द्वारा हम प्रकृति के तथ्यों का वर्णन करते हैं; बल्कि उन सूक्ष्म अर्थवाची शब्दों पर भी लागू है, जिनके द्वारा हम नैतिक तथा बौद्धिक तथ्यों का वर्णन करते हैं। हमारे सूक्ष्म अर्थवाची शब्द उन सरल शब्दों पर आधारित हैं, जिनसे हम प्राकृतिक व्यापारों का वर्णन करते हैं। इसके अलावा, इमर्सन ने यह भी माना है कि विचार, शब्द तथा प्राकृतिक तथ्यों में केवल अस्पष्ट-सा सम्बन्ध नहीं है। विशेष प्राकृतिक तथ्यों का विशेष आध्यात्मिक तथ्यों से सुनिश्चित सम्बन्ध होता है। प्रत्येक आध्यात्मिक तथ्य का प्रतिनिधित्व प्रकृति का कोई-न-कोई तथ्य करता है। प्रकृति के विभिन्न व्यापारों का मन की विभिन्न अवस्थाओं से सादृश्य रहता है। प्रकृति तथा मनुष्य के इस सम्बन्ध का ज्ञान जिन लोगों को है, वे शहरों से दूर प्रकृति की गोद में रहना पसन्द करते हैं, जिससे उन्हें क्षण-क्षण पर नई प्रेरणाएँ मिलती हैं। प्रकृति का मन के विभिन्न अंगों के इस सम्बन्ध के अलावा प्रकृति मनुष्य की सम्पूर्ण चेतना का भी प्रतिनिधित्व करती है। प्रकृति के नियमों तथा मानस के नियमों में पूर्ण सादृश्य है। भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों में हमें आचार-शास्त्र के नियमों की झलक मिलती है। कारण यह है कि मनुष्य का मन विश्व मन का प्रतिनिधि है और मनुष्य की आत्मा परमात्मा का प्रतिनिधित्व करती है। यह परमात्मा ही प्राणवायु का भांडार है और इसलिए वह अन्य व्यक्तियों में प्राणवायु का संचार करने में समर्थ है।

प्रकृति तथा मानव-मन के बीच का सम्बन्ध किसी कवि की कल्पना नहीं है। यह मन की सृजनात्मक क्षमता तथा ईश्वर की इच्छा का प्रतीक है। सभी मनुष्य प्रयास कर इस सम्बन्ध को जान सकते हैं। आत्मा की प्रकृति भौतिक रूप ग्रहण करना है। प्रत्येक भौतिक घटना तथा प्रत्येक भौतिक वस्तु ईश्वर के मन में प्रत्यय के रूप में वर्तमान है। प्रत्येक पार्थिव वस्तु विचारों के रूप में अपनी उत्पत्ति से पूर्व मौजूद रहती है। इस प्रकार प्रकृति परिणाम है और मन उस परिणाम का कारण है। अन्त में इमर्सन हमें इस परिणाम पर पहुँचा देता है कि मानस के नियम ही वस्तुओं के नियम हैं और जड़ पदार्थ की उत्पत्ति चेतन तत्त्व से हुई है।

प्रकृति की अन्तिम सेवा मनुष्य की प्रज्ञा को क्रमबद्धता प्रदान करना है।

प्रज्ञा अथवा समझ में क्रमबद्धता का विकास होने पर उसका प्रभाव बुद्धि पर भी पड़ता है। प्रकृति बौद्धिक तथा नैतिक सत्यों के सम्बन्ध में प्रज्ञा में क्रमबद्धता लाती है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य के बौद्धिक निर्णय उसकी चेतना से प्रभावित होने लगते है। इसके अलावा, मन में प्रकृति की विविधता के बीच उसकी एकता को जानने की क्षमता का विकास होने लगता है। विश्व की प्रत्येक वस्तु एक प्रकार से लघु रूप में विश्व की प्रतिच्छाया है। ईश्वर की समस्त सृष्टि समान नियमों से संचालित होती है। विश्व की वस्तुओं में अनेक विभिन्नता के बीच एक आधारभूत सादृश्य है। यह सादृश्य अथवा समानता वस्तुओं की विभिन्नता की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। प्रकृति की यह आधारभूत एकता, विश्व की चरम चेतना में निहित है। यह एकता विचारों तथा वस्तुओं दोनों में परिलक्षित होती है। यह वस्तुतः सत्य का क्रमबद्ध सादृश्य है। हम शब्दों के द्वारा जिस भी सत्य को व्यक्त करते हैं, उसका सम्बन्ध अन्य सभी सत्यों से किसी-न-किसी रूप में रहता है।

प्रकृति की क्रमबद्धता का ज्ञान हमें चेतनवाद की ओर ले जाता है। हम अनुभव करने लगते हैं कि हम चाहे अपने इन्द्रियजन्य ज्ञान का विश्वास नहीं करें; किन्तु सार्वभौमिक नियमों की नित्यता अविश्वसनीय नहीं है। हम यह दावे के साथ नहीं कह सकते कि प्रकृति का हमारे मन के बाहर कोई ठोस अस्तित्व है। हमारी ज्ञानेन्द्रिय हमें जो कुछ बताती है, उसके परीक्षण का कोई साधन हमारे पास नहीं है। केवल अज्ञानी लोग ही यह कह सकते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान के आधार पर ही प्रकृति के अस्तित्व को माना जा सकता है। यदि हम अपने मन के भीतर जरा गहराई में उतर कर विचार करें, तो इन्द्रियों का हमारे ऊपर प्रभुत्व समाप्त हो जाता है। हम लोग इंद्रियवाद से चेतनवाद की तरफ स्वयमेव खिसक जाते हैं और इंद्रियों के स्थान पर हम बुद्धि को अपने ज्ञान की कसौटी मानने लगते हैं। इस प्रकार, वस्तु, सौन्दर्य, भाषा तथा क्रमबद्धता के क्षेत्रों में प्रकृति की प्रेरणा से हमें संस्कृति के दर्शन होते हैं।

इस संस्कृति का सब से पहला प्रभाव यह होता है कि हमें ज्ञातव्य विषय और ज्ञाता, जीव और प्रकृति, मन तथा दृश्यजगत् की द्वैधता का बोध होने लगता है। इस द्वैधता तथा द्वैतवाद पर कवियों ने अपने प्रतीकवाद का भवन खड़ा किया है। साधारण विवेकवाले व्यक्ति के लिए विचार वस्तुओं के अनुरूप, मन जड़ पदार्थ के अनुरूप होना चाहिए। दृश्यजगत् के आगे देखने वाला गौण हो जाता है; परन्तु कवि वस्तुओं को अपने मन की भावना के अनुरूप रचना करना चाहता है। द्रष्टा

दृश्य वस्तुओं की रचना अपनी इच्छा के अनुरूप करता है। कल्पना की उठान कवि में इंद्रिय से अनुभव की जाने वाली वस्तुओं को विवेक से उत्पन्न शब्दों में परिणत करने की क्षमता का विकास कर देती है। इमर्सन के शब्दों में कल्पना "विवेक-बुद्धि द्वारा पार्थिव जगत् का उपयोग" है। कवि का लक्ष्य सौन्दर्य की खोज और दार्शनिक का लक्ष्य सत्य की खोज है; किन्तु वास्तव में सत्य और सुन्दर एक ही हैं। कवि तथा दार्शनिक दोनों ही वस्तुओं के दिखाई देने वाले क्रमों एवं सम्बन्धों का पूर्णगामी एवं निर्णायक रूप "विचारों की दुनिया" को मानते हैं। कवि और दार्शनिक दोनों ही आभासित होनेवाले ठोस जड़तत्त्व का, अपने विचारों द्वारा विलयन कर, प्रकृति को आध्यात्मिकता का पुट प्रदान करते हैं। वे अपनी अंतः अनुभूति द्वारा प्रकृति में व्याप्त आन्तरिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। दर्शन-शास्त्र विचारों में ध्यान को केन्द्रीभूत कर जड़तत्त्व के अस्तित्व के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न कर देता है। धर्म तथा आचार-शास्त्र चेतन तत्त्व की तुलना में जड़तत्त्व को निकृष्ट बता कर इस कार्य में दर्शन की सहायता करते हैं।

इन सभी तरीकों से संस्कृति मनुष्य को चेतनवाद की ओर ले जाती है, जो साधारण मान्यताओं के ठीक उलटा है। साधारण मान्यता की तुलना में प्रत्ययवाद अथवा चेतनवाद का लाभ यह है कि वह विश्व को एक ऐसे रूप में उपस्थित करता है, जो मन के लिए सबसे अधिक वांछनीय है। आदर्शवाद संसार को एक ऐसे महान् चित्र के रूप में उपस्थित करता है, जिसे परमात्मा ने आत्मा के चिन्तन के लिए अंकित किया है। संसार की सृष्टि एक बार हुई, क्रमिक रूप में नहीं। मन तीन प्रश्नों का उत्तर पाने की जिज्ञासा रखता है——जड़तत्त्व क्या है? इसकी मूल उत्पत्ति किस प्रकार हुई? और उसका क्या होना है? चेतनवाद इनमें से केवल प्रथम प्रश्न का उत्तर उपलब्ध करता है।

चेतनवाद की कमी को आत्मा का सिद्धान्त पूरा करता है। आत्मा अथवा आंतरिक चेतना हमें उन प्रश्नों का उत्तर उपलब्ध करती है, जो चेतनवाद से हमें प्राप्त नहीं होते। "हमें ज्ञात है कि मनुष्य की आत्मा में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व निहित है। विश्व का सार बुद्धिमत्ता अथवा प्रेम, सौन्दर्य अथवा शक्ति में नहीं है; बल्कि इन सभी के योग में है। इनमें प्रत्येक में वे तत्त्व निहित हैं, जिनके लिए सृष्टि का अस्तित्व है। आत्मा इनके प्रेरक तत्त्व का जनक है। प्रकृति के प्रत्येक अणु में आत्मा का निवास है। आत्मा हमें बाहर से प्रभावित नहीं करता अर्थात् वह दिक् तथा समय की सीमाओं के परे है; किन्तु वह आध्यात्मिक रूप से हमारे अंतर को प्रभावित करता है। यह आत्मा अथवा आंतरिक चेतनतत्त्व ही परमब्रह्म है। यह

चेतना हमें प्रकृति के द्वारा आच्छादित नहीं करती ; बल्कि हमारे भीतर प्रविष्ट होती है और सभी तरफ व्याप्त हो जाती है—उसी तरह, जिस तरह वृक्ष की चेतन सत्ता शाखाओं तथा पंक्तियों के पुराने छिद्रों में नई शाखाओं तथा नए पत्तों का प्रस्फुटन करती है।" यह आध्यात्मिक चेतनवाद ही वह दार्शनिक आधार था, जिसका निर्माण इमर्सन ने अपने सर्वातिशायी सिद्धान्त की सहायता से किया।

यदि इमर्सन की दार्शनिक विचारधारा के सम्पूर्ण प्रभाव का मूल्यांकन करने बैठें, तो हमें इमर्सन के समय से अब तक का अमरीकी संस्कृति का इतिहास ही उपस्थित करना होगा। इस स्थल पर यह सब करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि अमरीका की तात्कालिक समस्याओं के प्रति इमर्सन के दृष्टिकोण पर विचार करें। सबसे पहले हम उस विवाद को लेते हैं, जो इमर्सन ने डिविनिटी स्कूल वाले अपने भाषण में युवा पादरियों को एक 'विचित्र सलाह' देकर छेड़ दिया था। अपने इस भाषण में इमर्सन ने युवा पादरियों को ईसाई-धर्म की परंपराओं तथा ईसाई-धर्म ग्रंथों से धार्मिक सिद्धांतों का प्रचार नहीं करने की सलाह दी थी और कहा था कि उन्हें अपने हृदयों में संगृहीत ज्ञान का ही प्रचार करना चाहिए। उसने कहा था कि प्रत्येक पादरी को चाहिए कि वह अपने को ईसा के उपदेशों का जन्मजात प्रचारक मानें। यूनिटेरियन सम्प्रदाय के पादरियों ने इस भाषण के लिए इमर्सन की कटु आलोचना की और आगामी ३० वर्ष तक हार्वार्ड विश्वविद्यालय में उसके भाषण पर प्रतिबंध लगवा दिया। उस समय कुछ लोगों में इमर्सन के आत्मनिर्भरता के सिद्धान्त का भी प्रचार हुआ ; किन्तु इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस अमरीकी दार्शनिक के विचारों को पादरियों तथा विभिन्न गिरजे के सदस्यों की अपेक्षा गिरजों से सम्बन्ध नहीं रखने वालों में ही अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से इमर्सन ने अपने को अमरीका के तात्कालिक सामाजिक जीवन से अलग नहीं कर लिया था। उसमें उग्र समाज-सुधारकों का जोश था। अपनी इस विचारधारा के कारण कि सभी मनुष्यों के भीतर एक ही विश्वआत्मा का निवास है, इमर्सन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि लोकतंत्री मान्यता के अनुकूल थी ; किन्तु वास्तविक जीवन में जनसाधारण से उसका सम्पर्क कुछ कम ही रहा। वैसे, वह सम्पूर्ण मानवसमाज का मित्र था ; किन्तु उसकी मैत्री बहुत कम लोगों से थी। वह सामाजिक भावना से अनुप्राणित था ; किन्तु व्यवहार रूप में सामाजिक गुणों की उसमें प्रचुरता नहीं थी। इमर्सन का

विचार था कि यद्यपि जैक्सोनियन दल के सुधारवादियों के आदर्श अच्छे थे ; किन्तु उनके विरोधी ह्विग-दल में ईमानदार तथा सच्चे आदमियों की संख्या अधिक थी। परन्तु, दास-प्रथा के प्रश्न पर न्यू इंगलैंड का वातावरण क्षुब्ध होने तक वह अपना रुख स्थिर नहीं कर सका। कभी इमर्सन दास-प्रथा के विरुद्ध उग्र मत प्रकट करता था, तो कभी वह डेनियल वेबस्टर तथा एडवर्ड एवरेट जैसे अपने मित्रों के रुख से प्रभावित होकर अनुदार विचार प्रकट किया करता था ; परन्तु अंत में इमर्सन ने दासता के विरुद्ध दृढ़ स्थिति ग्रहण कर ली और इस प्रथा को समाप्त करने के पक्ष में आवाज उठाने लगा।

परन्तु, साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि इमर्सन सुधारवादिता की भावना से अभिभूत नहीं होता था। मैक्सिकन युद्ध के समय उसके मित्र हेनरी डेविड थोरो ने जो स्थिति ग्रहण की, उसका उसने समर्थन नहीं किया था। १८४१ में इमर्सन ने कहा था कि वह अपनी आलोचना को इतना आगे नहीं बढ़ाना चाहता कि उसे आत्महत्या करनी पड़े अथवा वह समस्त में बिल्कुल अकेला पड़ जाय। अन्य सर्वातिशायी दार्शनिकों की तुलना में इमर्सन के विचार कुछ नर्म थे। अपने अन्य साथियों के समान इमर्सन तात्कालिक परिस्थिति की विशेषताओं से अपरिचित नहीं था और उसने अपने मस्तिष्क का संतुलन भी कायम रखा था। इमर्सन के विचार की अपेक्षा उसका जीवन रूढ़ियों से अधिक प्रभावित था ; परन्तु यह भूलने की बात नहीं है कि इमर्सन ने अमरीका के जीवन में एक संस्था का रूप धारण कर लिया था और अनेक अमरीकी उसके आदर्शों से अनुप्राणित हो चले थे। सर्वातिशायी सिद्धान्त के अधिक उत्साही प्रचारक अपने अत्यधिक उत्साह के बावजूद यह सफलता नहीं प्राप्त कर सके।

# हेनरी डेविड थोरो : अराजकतावादी

सर्वातिशायी सिद्धांत के माननेवालों ने एक तरफ इतिहास और विज्ञान का तथा दूसरी तरफ परम्परा तथा अधिकार का जो विरोध किया, उसके परिणाम-स्वरूप उनकी विचारधारा में सर्वातिशायी तरीके का महत्त्व बढ़ गया। उन्होंने ज्ञान प्राप्त करने के पुराने तरीकों के स्थान पर सर्वातिशायी तरीके को प्रतिष्ठित किया। पुराने तरीकों में संदेह करने का कारण यह था कि वे आत्मशिक्षण में विश्वास रखते थे। वे आत्मशिक्षण को बहुत अधिक महत्व देते थे। उन्होंने अन्तःकरण टटोलने के प्यूरिटन तरीके को अस्वीकृत कर दिया था; किन्तु उसके स्थान पर उन्होंने अंतर में खोज करने का जो सर्वातिशायी तरीका निकाला, वह भी लगभग वैसा ही था। उन्होंने पुराने तरीके के स्थान पर दूसरा ऐसा तरीका रख दिया था, जो पहले से कम असुविधाजनक नहीं था। सर्वातिशायी सिद्धांत के माननेवाले आत्मशिक्षण के लिए प्रयास करते हुए अनुभव करते थे कि वे एक विशेष कार्य कर रहे हैं। साधारण शिक्षित लोगों द्वारा पढ़ी जाने वाली पुस्तकों का उपयोग न कर वे विशेष ग्रंथों का मंथन करते थे। उन्होंने एक गुट बना लिया था और भविष्य-वक्ताओं जैसे स्वर में बात करने लगे थे। विशाल ग्रंथों के अम्बार में डूबे रहना उनका अभ्यास हो गया था। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सर्वातिशायी सिद्धांत को मानने वाले अपने को दूसरों से भिन्न समझने लगे थे।

इस प्रकार के लोगों के बीच एक दिन एक युवक पड़ गया। उसने हार्वार्ड विश्वविद्यालय में इमर्सन का भाषण सुना था। हेनरी डेविड थोरो को लगा कि इमर्सन ने जीवन की जो योजना प्रस्तुत की, उस पर चला जा सकता है; परन्तु इस युवक के रंग-ढंग कुछ विचित्र थे। जब भी वह उपस्थित होता, तो सर्वातिशायी सिद्धांत के माननेवाले अन्य दार्शनिक, यहाँ तक कि इमर्सन और ऑलकट भी, जो उसके निकटतम मित्र थे, थोरो के साथ अच्छा समय नहीं बिता पाते थे।

थोरो आकर्षक ढंग से बातें करता था ; किन्तु उसके स्वर में उजड्डता तथा घृणा मिली रहती थी। थोरो के अनजाने में ही उसमें एक उद्दंडता की भावना छिपी रहती थी। कहा जा सकता है कि यह उसके मन की स्वतंत्रता ही थी। थोरो की इस वास्तविक स्वतंत्रता के आगे दूसरों की बनावटी स्वतंत्रता को नीचा देखना पड़ता था। यह नहीं कि थोरो सर्वातिशायी सिद्धान्त के मानने वाले अपने अन्य साथियों की मान्यताओं से कोई मौलिक मतभेद रखता था। वह उनकी निषेधात्मक मान्यताओं तक से सहमत था। प्यूरिटन सम्प्रदाय में अंतःकरण के निर्देशों को जो महत्त्व मिला था, उसके विरुद्ध थोरो ने भी अपने अन्य मित्रों के साथ विद्रोह किया था। थोरो ने कहा कि प्यूरिटन सम्प्रदाय ने अंतःकरण को समस्त जीवन पर अनुचित प्रभुत्व प्रदान कर दिया है, जिसे मस्तिष्क अथवा हृदय के प्रभुत्व के जितना ही असंतोषप्रद कहा जा सकता है। थोरो ने कहा कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति का मानसिक संतुलन बिगड़ सकता है, उसी प्रकार अंतःकरण का संतुलन बिगड़ सकता है। यदि किसी व्यक्ति का अंतःकरण लगातार क्षुब्ध रहता है, तो उस व्यक्ति का जीवन निष्फल हो सकता है।

जब तक थोरो ने प्यूरिटनों के अंतःकरण के प्रति आवाज उठाई, तब तक तो उसके साथियों ने कोई आपत्ति नहीं की ; किन्तु जब वह सर्वातिशायी अंतःकरण के विरुद्ध भी विद्रोह कर गया, तो उसके साथियों का माथा ठनका। उसने कहा कि अत्यधिक आत्मशिक्षण भी मनुष्यों के प्रति वैसा ही अत्याचार है, जैसा कि मस्तिष्क अथवा हृदय की अत्यधिक प्रभुता मनुष्य पर अत्याचार है। थोरो ने अपने साथियों पर अत्यधिक शिष्टाचार बर्तने का भी दोष लगाया। यही नहीं, थोरो ने कुछ यूनानी तथा यहूदी देवताओं की भी प्रशंसा की, जिसे उसके सर्वातिशायी मित्रों ने आध्यात्मिकता के विरुद्ध बताया। उन्होंने कहा कि सर्वातिशायी सिद्धान्त में बहुदेववाद के लिए स्थान नहीं है।

इस ढोंग को सहन करने के लिए थोरो तैयार नहीं था। उसने कहा कि सभ्य देशों का ईश्वर केवल नाम के लिए ईश्वर है। उसी सत्ता को ईश्वर कहा जा सकता है, जिसका अधिकार सर्वोपरि हो। सभ्य देशों में ईश्वर को साधारण समस्याओं तक में घसीटा जाता है और उसकी सत्ता को चुनौती दी जाती है।

थोरो 'अंतःकरण के कायरों' से घृणा करता था, जो जीवन के लघु-से-लघु कार्य के लिए चिन्तित रहा करते हैं। वह निश्चिन्तता की जिन्दगी बिताने वाले उस मजदूर को पसंद करता था, जिसकी पुण्य के प्रति केवल इतनी चिन्ता है, जिससे वह सुखी रहने का पुण्य प्राप्त कर सके। मुक्ति की अत्यधिक फिक्र करना

११

बेकार है। थोरो कहता है—" जिन्दगी मजे मे बिताओ, अपना कर्त्तव्य करो और फिर विदा हो जाओ।" समाज की रूढ़िवादी मान्यताओं को वह पसंद नहीं करता था। अपने सविनय अवज्ञा के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए थोरो ने अपना दृष्टिकोण भलीभांति स्पष्ट कर दिया था।

थोरो ने अपना 'सविनय अवज्ञा-सम्बन्धी निबंध'[1] १८४८ के मैक्सिकन-युद्ध से ठीक पूर्व होने वाली कतिपय घटनाओं के सम्बन्ध में लिखा था, जैसे-जैसे संयुक्त-राष्ट्र अमरीका के अन्यायपूर्ण तथा आक्रामक कार्यों पर प्रकाश पड़ा और दासता के प्रसार की समस्या से इन आक्रामक कार्यों का सम्बन्ध प्रकट हुआ, वैसे-वैसे थोरो का असंतोष बढ़ता गया और उसने इस असंतोष को व्यक्त करने के लिए कर नहीं देने का निश्चय कर लिया। कर नहीं देने पर उसे जेल की सजा हुई; किन्तु मित्रों के कर दे देने पर उसे छोड़ दिया गया। परन्तु, इस बात का निर्णय नहीं हो सका कि कोई व्यक्ति सरकार से सैद्धान्तिक विरोध होने पर, क्या कर देने से इनकार कर सकता है। इस समस्या को लेकर सम्मान के प्रश्न पर थोरो का सर्वातिशायी सिद्धान्त को माननेवाले अपने साथियों से एक और मतभेद हो गया। कहा जाता है कि इमर्सन जेल में थोरो से मिलने गया था। जेल की कोठरी के बाहर से ही इमर्सन ने उससे कहा—" हेनरी, तुम वहाँ क्या कर रहे हो?" थोरो ने बनावटी सामाजिक मान्यताओं के प्रति घृणा प्रकट करते हुए अपनी अंतःकरण की आवाज को ऊपर उठा कर कहा—" वाल्डो, तुम वहाँ क्या कर रहे हो?" थोरो ने अनुभव किया था कि उसे एक गलत कदम उठाने वाली सरकार का समर्थन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने का मतलब अन्याय का समर्थन करना है। थोरो का विचार था कि वह यह नहीं समझ सका कि इमर्सन इस विषय पर उसकी-जैसी मान्यता क्यों नहीं रखता। उसने लिखा—" एक ऐसी सरकार की अधीनता में, जो अन्यायपूर्वक किसी को जेल में डाल सकती है, किसी भी न्यायप्रिय व्यक्ति का स्थान जेल में ही हो सकता है। नागरिक प्रशासन के प्रति व्यक्ति के सम्बन्धों के विषय में उसने जो आत्मप्रेक्षण किया, उसका परिणाम उसने अपने 'सविनय अवज्ञा पर निबंध' में प्रकट किया है। इसे अहिंसा-संबंधी साहित्य में अभी तक उच्च स्थान प्राप्त है। महात्मा गांधी को प्रभावित करने वाले ग्रंथों में यह भी एक था।

---

१. Henry David Thoreau: Essay on Civil Disobedience.

थोरो के इस निबंध से अमरीकी विचारधारा के उस आराजकतावादी पहलू पर प्रकाश पड़ा, जो अमरीकी संविधान की रचना के समय से वर्त्तमान था। संविधान के निर्माताओं में अनेक जैफर्सन की इस उक्ति से सहमत थे कि सरकार एक आवश्यक बुराई है और सर्वोत्तम प्रशासन-व्यवस्था वही है, जो कम-से-कम प्रशासन करती है और इस तरह बुराई को न्यूनतम सीमा पर पहुँचा देती है। परन्तु, दिन-प्रति-दिन उठने वाली समस्याओं से सामना करने वाले ये नेता अपना दृष्टिकोण प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सके, और उन्होंने सरकार की आवश्यकता को अनुभव किया। उन्होंने अपने ढंग से प्रशासनीय कार्यों को कम रखने का प्रयास किया। परन्तु, व्यावहारिक कठिनाइयों से सम्बन्धित नहीं होने के कारण थोरो अराजकता की निहित भावना को आगे बढ़ाने के लिए तैयार हो गया। उसने कहा कि यदि उस शासन-व्यवस्था को अच्छा समझा जाता है, जो कम-से-कम प्रशासन करती है, तो उसे सर्वोत्तम क्यों नहीं माना जा सकता, जो प्रशासन बिल्कुल ही नहीं करती। उसने यह बात स्वीकार कर ली कि सभी व्यक्ति प्रशासन न करने वाली ऐसी प्रशासन-व्यवस्था के लिए तैयार नहीं हैं, किन्तु जब वे तैयार हो जायेंगे, तो वैसी प्रशासन-व्यवस्था कायम होनी चाहिए। प्रशासन-व्यवस्था को एक आवश्यक बुराई बताने वाले ज्ञान और प्रकाश के युग के नेता सरकार की स्थापना केवल सुविधा के लिए की जाती है। थोरो ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए कहा कि "अच्छी-से-अच्छी सरकार सामाजिक सुविधा के लिए होती है ; किन्तु बहुधा अधिकांश सरकारें और कभी-कभी सभी सरकारें असुविधाजनक प्रमाणित होती हैं।"

अमरीकी जनता ने स्थायी सेना रखने की यूरोपीय परम्परा को इस आधार पर ठुकरा दिया था कि इससे अनावश्यक व्यय होता है और इससे सैन्य वर्ग के स्वेच्छाचार को प्रोत्साहन मिलता है। थोरो ने मत प्रकट किया कि स्थाई सेना पर जो आपत्तियाँ प्रकट की जाती हैं, वे स्थाई सरकार पर भी समान रूप से लागू होती हैं और अंत में इन आपत्तियों का उठना अनिवार्य है। थोरो ने कहा कि अमरीकी सरकार कुछ समय पूर्व स्थापित हुई थी और अब वह अपने को अनिश्चित काल तक बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील है। अमरीकी सरकार संसार की दूसरी सरकारों से कुछ उत्तम है ; क्योंकि यह लोगों के मामलों में अपेक्षाकृत कम हस्तक्षेप करती है ; परन्तु अमरीका की उन्नति में उसने विधायक (Positive) नहीं, नकारात्मक ( Negative ) सहयोग दिया है। अमरीकी सरकार की प्रशंसा में केवल

इतना ही कहा जा सकता है कि वह राष्ट्र की उन्नति को रोकने में असफल रही। अमरीका में जो भी उन्नति हुई, वह अमरीकी जनता के सद्गुणों के कारण हुई। सच तो यह है कि यदि अमरीकी सरकार अमरीकी जनता के उच्च चरित्र का दमन नहीं करती, तो जितनी उन्नति वास्तव में हुई, उससे वह कहीं अधिक होती।

इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि थोरो व्यावहारिक दृष्टिकोण के विषय में बिल्कुल कोरा नहीं था। वह जानता था कि सरकारहीन व्यवस्था कायम करने के आदर्श की तत्काल प्राप्ति नहीं हो सकती। थोरो की तात्कालिक माँग उत्तम प्रशासन की थी। थोरो के मत में उत्तम प्रशासन का मतलब यह होना चाहिए कि सरकार के निर्णय बहुमत के आधार पर न हो कर नागरिकों के अंतःकरण की भावना से हों और इसी आधार पर किसी कदम के औचित्य अथवा अनौचित्य का फैसला हो। सरकार के आगे कुछ ऐसे प्रश्न भी रहते हैं, जिनका सम्बन्ध न्याय अथवा अन्याय तथा औचित्य अथवा अनौचित्य से नहीं होता। ऐसे प्रश्नों पर थोरो बहुमत का निर्णय मानने को तैयार था; परन्तु उसका मत था कि न्याय अथवा अन्याय से सम्बन्ध रखने वाले मामलों का फैसला बहुमत के आधार पर नहीं होना चाहिए। यदि नैतिकता से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न उठें, तो किसी नागरिक को अपना अंतःकरण धारा-सभा के सदस्यों के हाथों सौंपने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। नागरिक पहले मनुष्य हैं और फिर नागरिक हैं और उचित अथवा अनुचित की समस्या का समाधान मनुष्य ही कर सकता है, जो अपने अंतःकरण से प्रेरित होता है। थोरो ने कहा कि "मुझे केवल वही करने की बाध्यता है, जिसे मैं ठीक समझूँ।" इस प्रकार, थोरो की विचारधारा में सर्वातिशायी सिद्धान्त ने एक नई दिशा ग्रहण की।

थोरो के मत में कानून के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उस कार्य को करने का अधिकार है, जिसे मनुष्य का अंतःकरण ठीक तथा उचित माने। ऐसा कोई कानून नहीं बना, जिससे लोगों में न्यायप्रियता की भावना बढ़ी हो। इसके विपरीत, ऐसे कितने ही कानून बनते हैं, जिनसे बाध्य होकर मनुष्य को अपने अंतःकरण की मान्यताओं के विरुद्ध कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता है और इस प्रकार अन्याय का प्रसार होता है। कानून के प्रति सम्मान की भावना अधिक रहने के परिणामस्वरूप कितने ही सदाशयी व्यक्ति अन्याय के साधन बनते हैं। कानून के प्रति सम्मान के ही कारण ऐसे मनुष्यों की सेनाओं द्वारा युद्ध लड़े जाते हैं, जिनका युद्ध में विश्वास नहीं होता और जो युद्ध को एक बुराई मानते हैं। इस प्रसंग में थोरो ने इमर्सन के भाषणों की चर्चा करते हुए

यह प्रश्न उठाया कि युद्धों में लड़ने वाले ये सैनिक क्या सचमुच मनुष्य हैं। उसने पूछा कि ये लोग क्या "चलते फिरते किले और शस्त्रागार नहीं हैं, जिनका अधिकार के पद पर बैठा हुआ कोई नीच मनुष्य मनमाना प्रयोग करता है।" भागे हुए दासों सम्बन्धी कानून, मैक्सिकन-युद्ध तथा अमरीकी आदिवासियों के प्रति किए गए निर्मम व्यवहार के परिणामस्वरूप कानून के प्रति असंतोष की थोरो की भावना और भी बलवती हो उठी। इन्हीं सब बातों के कारण थोरो ने कहा कि एक इज्जतदार व्यक्ति का स्थान जेल में है। उसके मतानुसार दास राज्य में एक स्वाधीनताप्रिय व्यक्ति इज्जत के अनुसार अपनी जिन्दगी जहां व्यतीत कर सकता है, वह स्थान केवल जेल है।"

थोरो की भावना थी कि क्रान्ति का अधिकार उसके समय का एक जीवन तथा व्यावहारिक अधिकार है। थोरो के सम-सामयिक कितने ही विचारक क्रान्ति के इस सैद्धान्तिक अधिकार से इनकार नहीं करते थे; किन्तु वे यह नहीं मानते थे कि अमरीकी प्रगति के बाद कभी भी दूसरी क्रान्ति का अवसर आया था; परन्तु थोरो का कहना था कि जब भी सरकार की स्वेच्छाचारिता सहनशीलता का अतिक्रमण कर जाय, तभी उस अधिकार का उपयोग किया जाना चाहिए। "सभी मशीनों में रगड़ होती है और शायद इस रगड़ से उसका हितसाधन होता है। इस रगड़ को लेकर शोर-गुल करना ठीक नहीं है। जब अत्याचार तथा लूट अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब रगड़ मशीन को अभिभूत कर लेती है और उस हालत में उस मशीन का नष्ट हो जाना ही अच्छा है।" थोरो के विरोध का सब से मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद पहलू यह था कि जिस अत्याचार के विरुद्ध उसने आवाज उठाई, उसका असर केवल उसके अंतःकरण पर ही पड़ता था। थोरो का कहना था कि जब उसका देश किसी दूसरे देश पर अन्यायपूर्ण हमला करता है अथवा उसकी सरकार उसके वर्ग को छोड़ कर किसी दूसरे वर्ग का दमन करती है, तो उसका प्रतिरोध और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। थोरो के मत में, क्रान्ति के अधिकार के अंतर्गत सरकार के प्रति अपनी वफादारी को वापस लेना तथा बलपूर्वक उसका प्रतिरोध करना, दोनों ही सम्मिलित हैं। उसका कहना था कि मैसाचुसेट्स राज्य के दासता-विरोधी लोगों की यह गलती थी कि अन्तःकरण से सम्बन्ध रखने वाले एक प्रश्न पर उन्होंने अपने पक्ष में बहुमत करने का प्रयास किया। उसके विचार में उनके लिए अधिक उचित कार्यक्रम सामूहिक रूप से वही सब करना था, जो स्वयं उसने निजी रूप में किया था। दूसरे शब्दों में, वे मैसाचुसेट्स तथा संयुक्तराष्ट्र अमरीका की सरकारों के प्रति अपना समर्थन

वापस ले लेते, क्योंकि इन सरकारों ने दासता के प्रश्न पर अन्याय को प्रश्रय दिया था। जब स्वयं ईश्वर उनके पक्ष में है, तो बहुमत के लिए प्रतीक्षा करना अनावश्यक है। थोरो ने कहा कि "यदि एक व्यक्ति अपने पड़ोसियों के मुकाबले में उचित पथ का अनुगामी है, तो एक का बहुमत उसे पहले ही प्राप्त है।"

थोरो ने कहा कि चाहे कोई सरकार कितनी भी अच्छी क्यों न हो; किन्तु उसका अधिकार अपवित्र होता है। यदि सरकार को विशुद्ध न्यायपूर्ण बनना है, तो उसे शासितों की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए। व्यक्ति के इस बढ़ते हुए महत्त्व की झलक शासन-प्रणालियों के विकास से, जिसके अंतर्गत पहले निरंकुश राजतंत्र, फिर सीमित राजतंत्र तथा अंत में लोकतंत्र को मान्यता मिली, प्राप्त होती है। थोरो ने एक अधिक उत्तम राज्य की कल्पना की, और कहा कि वैसा राज्य ही उसका सम्मान-भाजन बन सकता है। थोरो ने कहा कि ऐसा राज्य व्यक्ति के अधिकार को राज्य के अधिकार से ऊपर मानेगा और वह व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता को मान्यता प्रदान करेगा। यह बात स्मरणीय है कि राज्य को अधिकार व्यक्ति से प्राप्त हुआ है और इसलिए राज्य को व्यक्ति के अधिकार का सम्मान करना चाहिए। यदि कोई राज्य व्यक्ति का सम्मान करता है, तो व्यक्ति भी उसे सम्मान प्रदान करेगा। यदि ऐसा कोई राज्य हुआ, तो वह थोरो जैसे अंतःकरण का मतभेद रखने वालों का देश की सीमा के भीतर रहने का अधिकार स्वीकार करेगा; किन्तु उन्हें अपना नागरिक बनाने पर बल नहीं देगा। ये लोग न राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करेंगे और न राज्य को अपने मामलों में ही हस्तक्षेप करने देंगे। थोरो ने कहा कि इन 'व्यक्ति राज्यों' के अस्तित्व की केवल इतनी शर्त होगी कि वे अच्छे पड़ोसियों की भाँति रहेंगे। उसके मतानुसार इस प्रकार की व्यवस्था लोकतंत्री राज्य से एक कदम आगे होगी, क्योंकि इसमें बाध्यता का कुछ भी अंश नहीं रहेगा। इस प्रकार, वास्तविक स्वतंत्र तथा वास्तविक आत्म-निर्भर व्यक्तियों की संख्या बढ़ने पर, जो राज्य की उपर्युक्त नीति का परिणाम होगा, सरकारहीन राज्य अथवा अराजकता की पृष्ठभूमि तैयार हो जायगी, जो थोरो के विचार में प्रशासन की सर्वोत्तम प्रणाली होगी।

थोरो ने सविनय अवज्ञा-सम्बन्धी निबंध में ही अपने विचारों को क्रमबद्ध रूप में रखने का प्रयास किया था। इसके अलावा, वह केवल विचार ही प्रकट करता रहता था और उनका क्रमबद्ध रूप से प्रतिपादन करने का उसने शायद ही कभी प्रयत्न किया था। थोरो की विचारधारा में इमर्सन की अपेक्षा असंगति कम रहने का एक कारण यह था कि थोरो के जीवन में उतनी जटिलता

नहीं थी। जब थोरो ने स्वतंत्रता को अपनी विचारधारा का मुख्य आदर्श बनाया, तो उसका उद्देश्य उस आदर्श के अनुरूप अपने जीवन को ढालना तथा अपने मित्रों को निराश करना था। जो अपने आदर्शों को उस पर लादना चाहते थे।

> महान् ईश्वर, मैं इससे कम वरदान अपने लिए नहीं मांगता कि मैं अपने को निराश न करूँ। मुझे दूसरी नियामत तू यह बख्श कि मैं अपने मित्रों को घोर निराश कर सकूँ।[1]

थोरो की स्वतंत्रता का उद्देश्य उसके राजनीतिक जीवन को अधिक व्यापक क्षेत्र प्रदान करना था। राज्य स्वतंत्र व्यक्ति को ऐसा कुछ दे नहीं सकता, जो उसके पास पहले ही से नहीं है और चूँकि वास्तविक स्वतंत्रत व्यक्ति के पास उसकी आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है; इसलिए वह उससे कुछ ले भी नहीं सकता। जिस व्यक्ति को कोई खतरा नहीं है, उसे खतरे से रक्षा की आवश्यकता भी नहीं है। स्वतंत्र प्राणी की ऐसी आवश्यकताएँ नहीं होतीं, जिन्हें राज्य पुष्टकर सकता हो। वह अपने जीवन को किसी भी राज्य के सामाजिक जीवन से अधिक स्वतंत्र तथा विनयशील कह सकता है। स्वतंत्रता के प्रति थोरो की आसक्ति इस सीमा को पहुँच चुकी थी कि वह ईश्वर के प्रभाव से भी अपने जीवन को स्वतंत्र देखना चाहता था।

इस प्रकार की स्वतंत्रता का श्रीगणेश प्रत्येक व्यक्ति के अंतर से ही होना सम्भव है। धारा-सभा के कानूनों अथवा सामूहिक कार्रवाई के परिणामस्वरूप इस प्रकार की स्वतंत्रता का आविर्भाव सम्भव नहीं है। थोरो, जो जॉन ब्राउन की इतनी सराहना करता था, उसका एक कारण ब्राउन द्वारा इस सिद्धान्त की स्वीकृति था। एक अन्यायपूर्ण राज्य के प्रति वफादार रहने वाले नागरिक स्वयं दास हैं, क्योंकि वे काल्पनिक लाभों की एवज में अपने को बेच डालते हैं। राष्ट्र की राजधानी में रहने वाले धारा सभाओं के सदस्य भी दास हैं, क्योंकि वे पद तथा सुविधा के लिए अपने को बेचते हैं। प्रश्न यह था कि जब तक दासों का एक दल दूसरे दल को मुक्ति नहीं प्रदान करता, तब तक ठहरे रहने से क्या कुछ लाभ है?

---

१. Great God, I ask thee for no meaner pelf
Than that I may not disappoint myself....
And next in value, which thy kindness lends,
That I may greatly disappoint my friends.

इससे कहीं उत्तम जॉन ब्राउन के इस मार्ग का अनुसरण करना है कि स्वतंत्रता अपने कार्य द्वारा ही सम्भव है।

परन्तु स्वतन्त्रता के प्रति थोरो के उत्कट प्रेम की चरम सीमा उसकी उपर्युक्त किसी मान्यता से नहीं प्रकट होती ; बल्कि वह उसकी इस माँग से प्रकट होती है कि एक प्रकार से वह स्वयं अपने से भी स्वतन्त्र रहना चाहता है। उसका कहना था कि वास्तव में स्वतन्त्र कहे जाने वाला मन प्रकृति से पृथक् रहता है। वह केवल सम्पूर्ण समय तथा सम्पूर्ण जीवन सत्ता से ही स्वतन्त्र नहीं रहता ; बल्कि वह विशेषकर उस समय तथा उस जीवन-सत्ता से भी स्वतन्त्र रहता है, जिसके साथ रह कर वह एक शरीर का भागीदार बनता है मन का यह निष्काम भाव ही उसका वास्तविक अलगाव है, जिसकी तुलना हिन्दू तथा बौद्ध विचारधारा के निर्वाण से की जा सकती है, जिसे दूसरे शब्दों में आदिभौतिक सम्बन्धों से मुक्ति कहा जाता है। परन्तु, थोरो पश्चिमी परम्परा तथा विचारधारा के अनुसार अन्तःप्रेक्षण के बीच विशेष प्रयास द्वारा मन की मुक्ति में विश्वास रखता था। उसका विचार था कि मन अपने अनुभव का उसी प्रकार साक्षी हो सकता है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति एक नाटक को देखता है। ऐसा वह इतना अलगाव रखते हुए कर सकता है, जितना कोई भी दूसरा पक्ष अलग रहते हुए कर सकता। थोरो के शब्दों में—"मेरा अनुभव चाहे जितना गहरा क्यों न हो, मैं अपने एक अंग की उपस्थिति तथा उसकी आलोचना से परिचित हूँ, जैसे वह अंग मेरा अपना न हो और जैसे उसके अनुभव में मेरा कोई हिस्सा नहीं हो और मैं उसे दूसरे व्यक्ति के रूप में अलग से देख रहा हूँ। जब यह जीवन-नाटक समाप्त हो जाता है, तो दर्शक चल देता है और सोचता है, जैसे वह कोई काल्पनिक कृति थी और उसमें उसका अपना कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था।"

थोरो यह दोहरी विचारधारा अपनाकर समाज द्वारा स्वीकृत मान्यताओं से भिन्न मान्यताओं पर पहुँचना चाहता था और इस प्रकार अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करना चाहता था। अपने मन का युक्तिपूर्वक उपयोग कर वह रहस्यों का उद्‌घाटन करने के लिए चिन्तित था। उसने लिखा—"इस अन्वेषण में बुद्धिमान-से-बुद्धिमान व्यक्ति एक विद्यार्थी ही है। मैं अभी १ तक गिन नहीं सकता। ककहरा भी नहीं जानता। मैं सदा इस बात पर खेद करता हूँ कि आज मैं उतना बुद्धिमान नहीं हूँ, जितना अपने जन्म के दिन था।" फिर भी थोरो के विचार में सामयिक घटनाओं को समझने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण शाश्वत एवं सनातन

समस्याओं को समझना है ; परन्तु ऐसा करने के लिए एक दार्शनिक का दृष्टिकोण आवश्यक है। इस दृष्टिकोण की कसौटी यह नहीं है कि हम सूक्ष्म विचारों के जाल में फँस जायें अथवा दर्शन की एक नई प्रणाली कायम करें, किन्तु उसकी सच्ची कसौटी यही है कि हम बुद्धि और विवेक का वास्तविक सम्मान उसके निर्देशों पर चलते हुए करें और अपने जीवन को सरल, स्वतंत्र, उदार तथा विश्वासपूर्ण बनावें।" थोरो अपने निवासस्थान पर रह कर इसी जीवन-दर्शन के अनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयास करता था।

यद्यपि थोरो की विचारधारा में हमें धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता का पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता था और उसके अपने जीवन में भी ईसा की कतिपय विशेषताएँ परिलक्षित थीं, फिर भी ईसाई धर्म की संघटित परम्पराओं का जितना उत्कट विरोध उसने किया, उतना अन्य किसी भी सर्वातिशायी विचारधारा के नेताओं ने नहीं किया। अपने अन्य किसी भी साथी से अधिक वह इस तथ्य का अनुभव करता था कि धार्मिक क्षेत्र को जब संस्था के रूप में संघटित करने का प्रयत्न किया जाता है, तो उसकी चेतना मंद पड़ जाती है। थोरो की ईसाई-धर्म के प्रति आस्था की सबसे बड़ी विशेषता ईसा के जीवन के सौन्दर्य को पहचानना था। वह धर्मोपदेश तथा धर्मोपदेशकों के विरुद्ध था। एक स्थल पर थोरो ने कहा—" ईसाई-धर्म को चले १८०० वर्ष हो चुके हैं और अब यह नई दुनिया में भी फैल गया है ; परन्तु प्रश्न यह है कि एक यहूदी किसान के जीवन में ऐसा क्या था, जिससे न्यूयार्क के बिशप के दृष्टिकोण में इतनी धर्मान्धता आ गई है ! " थोरो का धार्मिक दृष्टिकोण रूढ़िवादिता से पूर्णतः मुक्त था। उसकी मान्यता थी कि यदि मनुष्य को स्वर्ग के रहस्यों का पता लगाना है, तो उसे अपने मन तथा अन्वेषण के लक्ष्य के मध्य रूढ़िवादिता को स्थान नहीं देना चाहिए। यदि हमें न्यू टेस्टामेन्ट की शिक्षाओं से लाभ उठाना है, तो उसे पढ़ना पर्याप्त है, अतीत में निर्धारित किए सिद्धान्तों के प्रमाण उसमें खोजना आवश्यक नहीं है। न्यू टेस्टामेंट के सम्बन्ध में थोरो के निम्न शब्द उल्लेखनीय हैं—" यह विचारणीय है कि यद्यपि न्यू टेस्टामेंट के प्रति ऊपर से यथोचित सम्मान प्रकट किया जाता है और धर्मान्ध-भाव से उसकी सफाई दी जाती है, फिर भी उसमें निर्दिष्ट सत्य के प्रति न उतनी सम्मान की भावना है और न उसे ठीक तरह समझा ही जाता है। सच तो यह है कि उसे बहुत ही कम लोग पढ़ते हैं। उसके जैसी विचित्र तथा आलोकप्रिय पुस्तक मिलना कठिन है। ईसाइयों, यूनानियों तथा यहूदियों के लिए वह एक मूर्खता तथा मार्ग का रोड़ा है।" कारण यह है कि न्यू टेस्टामेंट के सत्य

धार्मिक संघटनों के विरुद्ध हैं। थोरो के विचार से ईसा उसी की तरह अराजकतावादी था। थोरो की चुनौती यह थी कि ईसा के कुछ वाक्य इतने तीक्ष्ण हैं कि "यदि उन्हें देश के किसी गिरजे की वेदी से पढ़ा जाय, तो जिस गिरजे में वे पढ़े जायेंगे, उसकी इमारत ही धराशायी हो जायगी।"

उसके विचार में गिरजों का ईसाई-धर्म मानसिक स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं है। गिरजा मनुष्य की आत्मा के लिए एक तरह का अस्पताल है। जिस प्रकार अस्पतालों में शरीर की चिकित्सा नीम हकीम करते हैं, उसी प्रकार गिरजों में भी नीम हकीम कम नहीं हैं। सच तो यह है कि गिरजों में "धार्मिक दृष्टि से पंगु" एकत्र होते हैं और बाह्य जीवन से गिरजों में जाकर कुछ अवकाश पा जाते हैं। यह भी सत्य है कि, "गिरजों में प्रार्थना करनेवालों, धार्मिक व्रत रखनेवालों तथा गिरजे बनवाने वालों में धार्मिक अविश्वास तथा धर्म के प्रति उदासीनता की भावना इतनी अधिक है, जितनी वह कहीं हो सकती है।" विश्वास का अभाव इसलिए कहा जाता है, क्योंकि गिरजों में जाने वालों में अनेक, जीवन से कदम पीछे हटा चुके होते हैं। गिरजों में लोग जीवन में प्रसन्नतापूर्वक भाग लेने के स्थान पर उससे भागने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

थोरो की विचारधारा पर अन्तिम रूप से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जहाँ तक इस विचारक का सम्बन्ध है कि सर्वातिशायी सिद्धान्त के प्रति आस्था से—प्रत्येक व्यक्ति के अपनी आन्तरिक चेतना पर निर्भरता से—उसे प्रत्येक नियम या व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने की प्रेरणा मिली। अपनी आत्मा का संदेश सुनने और उस पर अमल करने का मतलब थोरो की दृष्टि से यह हुआ कि सभी कानून, नियम, प्रतिबंध और अनुशासन व्यर्थ हैं। थोरो मनुष्य की कल्पना उसके असंघटित रूप में करता था। थोरो की दार्शनिक अराजकता सुनहरे नियम से भी परे थी। "अन्य लोगों के प्रति वैसा व्यवहार करना, जैसा कि कोई चाहता है कि दूसरे उसके प्रति करें—यह सुनहरा नियम वास्तव में सुनहरा नहीं है; बल्कि अधिक-से-अधिक रुपहरा है। एक ईमानदार आदमी के लिए इसकी अधिक उपयोगिता नहीं है। सुनहरी बात यही है कि इस सम्बन्ध में कोई नियम ही न रहे।"

# हेनरी जेम्स ( पिता ) : सोशल डेमोक्रेट

इमर्सन ने कहा था कि जब भी किसी व्यक्ति का आविर्भाव होता है, तभी क्रान्ति हो जाती है। थोरो में अपने विद्रोही मन के निर्देशों का अनुसरण करने का साहस था। उसमें एक तरफ अपने सर्वातिशायी साथियों की और दूसरी तरफ प्यूरिटन पुरुषों के अंतःकरण की मान्यताओं से इनकार करने का भी साहस था। शिक्षा के क्षेत्र में ब्रोन्सन आल्कट ने एक उलटी प्रवृत्ति पर जोर देना आरम्भ किया। उलटी प्रवृत्ति यह थी कि बालक जितना ही अल्पवयस्क होता है, उतना ही अधिक वह आत्मा के उन रहस्यों को जानता है, जिन पर उसके जन्म के समय पर्दा पड़ा था। अमरीकी जीवन में स्त्रियों को जो स्थान प्राचीन परम्परा के अनुरूप प्राप्त था, उसके विरुद्ध सर्वातिशायी समूह के मार्गरेट फुलर ने विद्रोह किया था। इस प्रकार, सर्वातिशायी सिद्धान्त के मानने वालों ने तत्कालीन अमरीकी जीवन के किसी-न-किसी पहलू के विरुद्ध विद्रोह किया था। प्रत्येक अपनी पूर्ण योग्यता तथा शक्ति से इस विद्रोह में भाग ले रहा था।

इन विद्रोहियों में शायद सब से योग्य, सबसे मौलिक तथा सबसे गम्भीर चुनौती देने वाला हेनरी जेम्स ( पिता ) था। वह दो प्रसिद्ध पुत्रों, उपन्यासकार हेनरी जेम्स तथा दार्शनिक विलियम जेम्स (देखिये अध्याय ७, खंड ३ ) का पिता था और इस कारण अमरीका की परम्परावादी धार्मिक तथा सामाजिक विचार-धारा के विरुद्ध उठाए गए उसके विद्रोह से लोगों का ध्यान कुछ हट गया। उसके अनुयायी अधिक नहीं थे। उसकी विचारधारा अत्यन्त निगूढ़ थी। उसकी शैली भी अस्पष्ट थी। परिणाम यह हुआ कि वह अधिक लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका ; परन्तु जिन लोगों तक उसकी पहुँच हुई, उनकी विचारधारा को उभाड़ने में उसे सफलता मिल गई। आज भी जो लोग उसकी कृतियों का अनुशीलन करते हैं, उनके मस्तक श्रद्धा से झुक जाते हैं। जो लोग उसके दृष्टिकोण से सहानुभूति रखते हैं, उन्हें उसकी कृतियों में ऐसी अंतर्भेदी दृष्टि मिलती है, जिससे

वे उसके प्रशंसक बन जाते हैं। उसकी दार्शनिक विचारधारा इतनी समृद्ध है कि उसका संक्षेप होना असम्भव है। फिर भी उसके विचारों का संक्षेप किया जाना एक ऐसी आवश्यकता है, जिसका विवरण असम्भव है।

जेम्स की विचारधारा की मुख्य बात मानव-जाति तथा उसके स्रष्टा के बीच जो सम्बन्ध है, उस पर खोज थी। उसके दर्शन के अंतरतम कोने में ईश्वर को अपना स्रष्टा मानने की भावना थी। वह ईश्वर के अस्तित्व को किसी संदेह के बिना ही मानता था। परिणाम यह हुआ कि उसकी विचारधारा धार्मिकता से अनुप्राणित होती हुई भी रूढ़िवादिता से मुक्त थी। धार्मिक दार्शनिक सृष्टि की मान्यता को पहले रखकर स्रष्टा को सिद्ध करने की चेष्टा करते थे। उनका दृष्टिकोण यह रहता था कि विश्व तो हमारी आँखों के सम्मुख है और अब हमें प्रकृति का अध्ययन कर, उसके निर्माता का ज्ञान प्राप्त करना है। जेम्स के सर्वातिशायी मस्तिष्क ने समस्या को बिल्कुल उलट दिया। वह स्रष्टा के अस्तित्व पर कभी संदेह नहीं करता था और स्रष्टा को मान चुकने के बाद सृष्टि के अध्ययन की तरफ अग्रसर होता था। सृष्टि के रहस्य का उद्घाटन करने के उद्देश्य से जेम्स ने अपने प्रारम्भिक दिनों की प्रेस्विटेरियनिज्म से लेकर राबर्ट संडेमेन के समय की कालविनवादी ईसाई मान्यताओं तक की छानबीन करते हुए एमेनुअल स्वेडेनबर्ग की विचारधारा में पहुँच कर अपने पैर जमाए।

परन्तु, यह बात भूलने की नहीं है कि स्वेडेनबर्ग को अपना बौद्धिक पिता स्वीकार कर हेनरी जेम्स ने अपने प्रति पूर्ण न्याय नहीं किया।

इस तथ्य पर प्रसिद्ध दार्शनिक जे० जे० गार्थ विल्किन्सन ने, जो १९वीं शताब्दी में स्वेडनबर्ग का अंग्रेज अनुयायी था, प्रकाश डाला था। विल्किन्सन का कहना था कि उसकी विचारधारा का जन्म स्वेडेनबर्ग से उसके दृष्टिकोण की टक्कर के परिणामस्वरूप हुआ। वास्तव में जेम्स ने एक विरोधी के रूप में स्वेडेनबर्ग से टक्कर ली थी, समान दृष्टिकोण वाले विचारक के रूप में नहीं; किन्तु जेम्स को इसी से गलतफहमी हो गई। विल्किन्सन ने जेम्स को लिखा था—" उसने आप पर तीव्र आघात किया; किन्तु अपनी प्रकृति की कोमलता के कारण आपने इसे आघात के रूप में नहीं, बल्कि संयमित विचार-विनिमय के रूप में लिया।" हमारे लिए विल्किन्सन की तरह दोनों दार्शनिकों के विचार सादृश्य से इनकार करना आवश्यक नहीं है। सत्य तो यह है कि अपनी उदारता के बावजूद विल्किन्सन स्वेडेन का जेम्स के मुकाबले में एक प्रतिस्पर्धी भाष्यकार था और उसका दावा था कि स्वेडेनबर्ग के दृष्टिकोण का जो मतलब उसने लगाया, उसे स्वेडेनबर्ग स्वयं स्वीकार करता। जेम्स

ने स्वेडेनबर्ग के विचारों की विल्किन्सन द्वारा की गई व्याख्या को स्वीकार कर लिया, इससे विल्किन्सन ने मतलब लगाया कि जेम्स ने स्वेडेनबर्ग को समझा ही नहीं। सब कुछ मिला कर यह कहना असंगत नहीं होगा कि जेम्स की मूल विचार-धारा स्वेडेनबर्ग के अध्ययन के परिणामस्वरूप निखर आई थी और जेम्स जब कभी भी स्वेडेनबर्ग की शैली का प्रयोग करता था, तो उसमें आनंदातिरेक की भावना वह निकलती थी।

इमर्सन भी स्वेडेनबर्ग से परिचित था। उसने अपनी पुस्तक 'रिप्रिजेन्टेटिव मैन' में स्वेडेनबर्ग को रहस्यवादी कोटि का व्यक्ति कहा है। यद्यपि इमर्सन स्वेडेनबर्ग की अंतर्दृष्टि की कद्र करता था, फिर भी उसका विचार था कि स्वेडेनबर्ग विश्व में व्यक्ति के स्थान का उचित मूल्यांकन नहीं कर सका, परन्तु, स्वेडेनबर्ग की विचारधारा का यही पहलू जेम्स को विशेष रूप से पसंद आया था। जेम्स के दर्शन की प्राथमिक मान्यता यह थी कि व्यक्ति स्वयं कुछ नहीं है। व्यक्ति जो दिखाई पड़ता है, वह उसे मानव जाति की प्रकृति से अथवा जिस समाज में वह जन्म लेता है, उससे प्राप्त होता है। प्राणी में व्यक्तित्व का अभाव अथवा वास्तविक अपनत्व का अभाव जेम्स की विचारधारा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, जिसका उसके मत में विश्लेषण होना कठिन है।

जेम्स की दूसरी मान्यता यह थी कि यद्यपि लोगों में व्यक्तित्व का अभाव होता है, फिर भी परम दयालु ईश्वर, जो मुक्ति के मार्ग पर ले जाना चाहता है, उन्हें असामंजस्य से निकाल कर सामंजस्य की तरफ ले जाता है। मनुष्य का अयथार्थ व्यक्तित्व उसे ईश्वर से नहीं प्राप्त होता और यह वाह्य तथा आडम्बरपूर्ण व्यक्तित्व उसे संकटों से बचाने में असमर्थ रहता है। जब हमें अपने वास्तविक व्यक्तित्व की प्राप्ति हो जायगी, और यह प्राप्ति एकमात्र ईश्वर से हो सकती है, तो मुक्ति-मार्ग हमारे आगे खुल जायगा। जेम्स ने बताया है कि नकारात्मक स्थिति में प्राणी की सृष्टि एकबारगी नहीं हो सकती। जिसमें प्राणीत्व का अभाव है, उसे वास्तविक प्राणी का रूप नहीं दिया जा सकता। इसलिए, जेम्स ने एक मध्यवर्ती अवस्था की भी कल्पना कर ली।

इस मध्यवर्ती अवस्था में एक अवास्तविक प्राणी-तत्व की कल्पना की गई है। स्रष्टा के सम्मुख एक ऐसी शून्यता रहती है, जिसे केवल प्राणतत्त्व का अभाव ही नहीं कहा जा सकता, बल्कि वह एक विशुद्ध शून्यता होती है, जिसे पूर्णता का उलटा कहा जा सकता है। इस शून्यता में कुछ करने के लिए ईश्वर मायावी अवस्था लाता है। यह माया की अवस्था प्राणी की वास्तविक सत्ता

का आधार नहीं होती ; बल्कि इसमे रचनात्मक प्रक्रिया को प्रेरणा मिलती है, जिसके परिणामस्वरूप वास्तविक प्राणी-तत्व का जन्म होता है। इस प्रकार, सृष्टि के निर्माण की दो अवस्थाएं है—प्रथम रचना और दूसरी मुक्ति। प्रथम अवस्था में माया से प्रभावित सत्ता की रचना होती है, जिसे प्रकृति कहा जा सकता है। दूसरी अवस्था मुक्ति की है, जिसमें वास्तविक प्राणी-सत्ता का विकास होता है। इसे ईश्वर की आध्यात्मिक कृति कहा जा सकता है। यह समाज है।

वैसे प्रकृति और समाज तात्विक दृष्टि से भिन्न नही है। वे वास्तव में एक ही तत्व के दो रूप हैं। यह तत्व स्वयं स्रष्टा है। इस सर्वेश्वरवादी कल्पना में ईश्वर-प्रकृति तथा समाज दोनों की रचनात्मक सामग्री है ; परन्तु प्रकृति और समाज अपने रूपों की दृष्टि से भिन्न हैं। प्रकृति शून्यता में ईश्वर की सत्ता है। समाज में भी वही ईश्वर है ; किन्तु शून्यता का लोप हो चुका है। यह वह अवस्था है, जब प्राण-सत्ता का प्रवेश हो चुका है और स्वयं स्रष्टा की प्राणवायु उसमें स्पंदित हो रही है। समस्त मानव-जाति तथा सम्पूर्ण हृदय जगत् प्रकृति तथा समाज के अन्तर्गत है। अमुक्त तथा मुक्त का, मायापूर्ण प्राणी-सत्ता तथा वास्तविक प्राणी-सत्ता का और प्रकृति तथा समाज का अन्तर केवल दिशाओं का अन्तर है। प्रकृति मनुष्य की नैतिक तथा धार्मिक भावना की ओर निर्देश करती है। समाज के कार्य का आरम्भ इस अवस्था से होता है और वह नैतिक तथा धार्मिक भावना से परे ले जाता है।

रचनात्मक अवस्था से मुक्ति की अवस्था को जाते समय सृष्टि में दो विशेषताएँ रहती हैं। आत्म-चेतना तथा आन्तरिक भावना। आत्म-चेतना है नैतिकता, और आन्तरिक भावना है धर्म। ईश्वर की प्रथम कृति माया से आच्छादित प्राणी अर्थात् प्रकृति है, जो आत्मचेतना का बोध रखती है। आत्म-चेतना का मतलब यह हुआ कि प्राणी अपनी निजी तथा पृथक् सत्ता का बोध रखता है और यही उसका अयथार्थ व्यक्तित्व है। परन्तु, प्रकृति दैवी होने के कारण सत् है। अयथार्थ भावना के कारण प्राणी प्रकृति के गुणों तथा सुविधाओं का प्रयोग अपने स्वार्थ के लिए करता है। इस अवस्था में प्राणी में स्रष्टा के दैवी गुणों का आरोप नहीं हो पाता। उसमें यह भावना रहती है कि मेरा जीवन अपना है और मैं किसी पर आश्रित नहीं हूँ। इस अवस्था में दैवी गुणों पर व्यक्ति की अहंभावना तथा उसकी स्वार्थमूलक प्रवृत्ति हावी रहती है। जब यह आत्म-चेतना नैतिक तथा धार्मिक भावना का अनुभव करती है, तो मुक्ति की प्रक्रिया

आरम्भ हो जाती है। मुक्ति की इस प्रक्रिया में नैतिकता तथा धर्म का अपना कुछ महत्त्व नहीं रहता ; बल्कि वे व्यक्ति को उसके अयथार्थ व्यक्तित्व से परे हटाने के ही साधन हैं।

नैतिकता तथा धर्म मानव-जीवन के लक्ष्य नहीं हैं और इसलिए मनुष्य को उनसे ऊपर उठना चाहिए। इनकी सहायता से प्राकृतिक अवस्था को सामाजिक अवस्था में बदला जाता है ; और उनका केवल इतना ही महत्त्व है। सामाजिक अवस्था में मनुष्य का अहंभाव तिरोहित हो जाता है और मनुष्य अनुभव करता है, कि उसे अपना जीवन ईश्वर से मिला है। इस अवस्था में विभिन्न प्राणी परस्पर प्रेम करेंगे और वे अनुभव करेंगे कि ईश्वर की संतति मनुष्य अकेला नहीं है ; बल्कि वह सामूहिक रूप से मानव-समाज है। इस प्रकार विश्व में सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो जायगी और संसार में ईश्वर का राज कायम हो जायगा। प्रकृति मनुष्य का अपरिष्कृत रूप है और समाज उसका परिष्कृत रूप। समाज में ईश्वर की पूर्ण अवतारणा होगी, किसी व्यक्ति-विशेष में नहीं। प्रकृति में मनुष्यों के बीच उचित सम्बन्ध कायम रखने के लिए उन्हें यह स्मरण कराने की आवश्यकता होगी कि ईश्वर की संतान होने के कारण सभी मनुष्यों को मिलकर रहना चाहिए ; किन्तु समाज में नई व्यवस्था की यही आधारभूत भावना होगी और इसे लागू करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। जेम्स यह नहीं मानता था कि ईश्वर के पास मृतकों को--अच्छे बुरे सभी प्राणियों को--अमर जीवन प्रदान करते रहने के सिवा कोई दूसरा काम नहीं। उसका विचार यह था कि ईश्वर अपने को ही अमर जीवन कैसे प्रदान कर सकता है।

जेम्स का विचार था कि मनुष्य के जीवन के तीन अंग हैं। इसमें पहला है बाह्य अथवा भौतिक। यह मनुष्य का शरीर है। दूसरा अंग है आन्तरिक अथवा मानसिक। यह मनुष्य का मन है। तीसरा अंग है आध्यात्मिक। यह मनुष्य की आत्मा है। शारीरिक क्षेत्र में जीवन संवेदन पर आधारित रहता है। इन्द्रियों की शक्ति को सूर्य के प्रकाश से जीवन मिलता है और इस तरह शरीर के स्वास्थ्य के लिए सूर्य का प्रकाश एक अनिवार्य आवश्यकता है। मानसिक क्षेत्र में जीवन का केन्द्र-बिन्दु बुद्धि अथवा विवेक है, जो मानसिक स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है। आत्मा के क्षेत्र का संगठन आध्यात्मिक रूप से होता है। इसकी प्रेरक शक्ति दैवी प्रकाश है, जो आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। ये तीनों क्षेत्र एक दूसरे के

बगल में नहीं हैं और इसीलिए एक से दूसरे क्षेत्र में जाना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए शरीर के क्षेत्र में सूर्य का विशेष महत्त्व है, किन्तु सूर्य मन के क्षेत्र में बुद्धि का स्थान नहीं ले सकता। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र अपनी व्यवस्था के लिए स्वावलम्बी और स्वतंत्र हैं।

प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान का एक लक्ष्य है; किन्तु यह ज्ञान दूसरे क्षेत्र के ज्ञान से भिन्न प्रकार का होता है। उदाहरण के लिए शरीर के क्षेत्र में सूर्य के प्रकाश की सहायता से इन्द्रियों के द्वारा मनुष्य अपनी ससीम सत्ता से परिचित होता है। इसी प्रकार मन के क्षेत्र में विज्ञान की सहायता से बुद्धि के द्वारा मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है। उस आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य असीम तथा निरपेक्ष सत्य का साक्षात्कार करता है। इस कार्य को सम्पादित करने के लिए मनुष्य को प्राकृतिक प्रकाश से अधिक सूक्ष्म साधन तथा बुद्धि से अधिक सशक्त उपाय की अपेक्षा है। यह कार्य दैवी प्रकाश की सहायता से ही सम्भव है। यदि मनुष्यों के भीतर दैवी ज्योति न जगती, तो आध्यात्मिक क्षेत्र में उसका प्रवेश कभी नहीं हो पाता, क्योंकि इस क्षेत्र में न इन्द्रियों का प्रवेश सम्भव है और न विज्ञान से ही कोई सहायता मिल सकती है। जेम्स की इस मान्यता से उसके सृष्टि-सिद्धान्त का भी स्पष्टीकरण होता है। जिस सृष्टि की चर्चा वह करता है, वह वस्तुतः दार्शनिक सृष्टि है और वह आध्यात्मिक क्षेत्र में होती है। इसी क्षेत्र में दैवी प्रकाश इस चिरंतन सत्य को प्रकट करता है कि मानव-समाज ईश्वर के प्रेम से पूर्णतः परिवेष्टित है और ईश्वर मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई भेद नहीं करता, चाहे मनुष्य परस्पर धार्मिक तथा राजनीतिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर ऐसे भेद करते हों। दैवी प्रकाश से ज्ञात होता है कि हमारा जीवन शाश्वत है, चाहे ऊपर से ऐसा प्रकट न होता हो। वस्तुतः जीवन हमारे प्राकृतिक पूर्व पुरुषों से प्राप्त नहीं है और न इसे किसी प्रकार के प्राकृतिक वरदानों—जैसे सौन्दर्य, बुद्धि और स्वभाव—की ही अपेक्षा है और न वैयक्तिक अर्जनों—जैसे धन-वैभव अथवा विद्वत्ता अथवा उच्च-पद—से ही उसमें अन्तर आता है। जीवन वस्तुतः हमें दैवी सत्ता से प्राप्त है और इसका एकमात्र परिणाम यही निकल सकता है कि मानव भाई-भाई हैं। संक्षेप में दैवी प्रकाश के सिद्धान्त से ईश्वर के सम्मुख मानव की एकता सिद्ध होती है। मानव का एक शरीर है और एक ही आत्मा और उसका परमात्मा भी एक ही है, जो उसका परमपिता है और सर्वोपरि सत्ता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समष्टि में ही उसकी सत्ता निहित है। यदि इस आधारभूत मान्यता को स्वीकार कर लिया

जाय, तो जातिगत भेद मिट जाते हैं और मानव और मानव की असमानता के आधार का भी लोप हो जाता है, जो संसार में बुराइयों और अपराधों का एक बहुत बड़ा कारण है।"[1]

सूर्य की सराहना में सबसे बड़ी बात यह नहीं कही जा सकती कि वह सूर्य है ; और सूर्य-पूजकों की तरह उसकी ओर ताकते हुए अपनी आंख गँवा देना कोई बुद्धिमानी नहीं होगी। सूर्य की महत्ता इस बात में है कि उसके प्रकाश में हम वस्तुओं को देख सकते हैं। यही बात दैवी प्रकाश के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अधिक महत्त्व इसकी शक्ति तथा उसके उपयोग का है और इस बात का है कि इससे मानव के रहस्यों का कितना उद्‌घाटन होता है। इससे हमें ज्ञात होता है कि मानव-समाज में स्रष्टा की सत्ता निहित है। हम जेम्स की कद्र चाहे उसके सृष्टि के सिद्धान्त के लिए करते हों अथवा उसके मानव-प्रकृति-सम्बन्धी सिद्धान्त के लिए ; किन्तु वास्तव में उसकी विचारधारा की चरम अभिव्यक्ति हमें उसकी समाज-सम्बन्धी मान्यता अथवा मनुष्य के मुक्त स्वरूप में मिलती है।

यह समाज जिस आधारभूत सिद्धान्त पर संघटित किया जायगा, वह मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेम है। यह वास्तव में एक सुधरे हुए समाज का आधारभूत सिद्धान्त है। वास्तविक जीवन में इस प्रकार का समाज मिलना कठिन है। मौजूदा समाज उपर्युक्त आदर्श से कम या अधिक मात्रा में नीचे रहते हैं। सरकार अथवा नियम इस तथ्य के परिचायक हैं कि प्राकृतिक समाज, आदर्श समाज की कल्पना से किस मात्रा में कम है। परन्तु, यह स्मरणीय है कि सरकार अथवा नियम और दबाव अथवा प्रतिबन्ध प्रकृति की रचनात्मक प्रक्रिया के अंग हैं। यह सब दैवी योजना का अनिवार्य भाग है। जिस प्रकार माया से आच्छादित अवस्था व्यक्ति के मुक्त व्यक्तित्व का पूर्व रूप होती है, उसी प्रकार माया से आच्छादित अवस्था समाज की मुक्त अवस्था की पूर्व रूप होती है। शुरू में सुनहरे नियम के अनुसार कार्य करने के लिए मनुष्य को बाधित किया जायगा कि वह दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करे, जैसा वह दूसरों द्वारा अपने प्रति किया जाना चाहता है ; किन्तु बाद में इस नियम को मनवाने के लिए बाध्यता आवश्यक नहीं होगी और प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक उपर्युक्त सुनहरे नियम

---

१. Henry James : The Social Significance of Our Institutions ( 1861 ).

का पालन करेगा। इस प्रकार प्रकट है कि जेम्स की विचारधारा के अनुसार सरकार अथवा नियमों की आवश्यकता केवल अन्तरिम काल के लिए ही होगी।

जेम्स की विचारधारा में लोकतंत्र का आशय था सामाजिक लोकतंत्र, न कि राजनीतिक लोकतंत्र। उसके सृष्टि-रचना-सिद्धान्त में धर्म तथा नैतिकता के ही समान सामाजिक लोकतंत्र को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। जेम्स के अनुसार, लोकतंत्र वह केन्द्र-बिन्दु है, जिससे मुक्त समाज की प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं। उसने आध्यात्मिक विकास के जिस सिद्धान्त का निरूपण किया, उसके अन्तर्गत उसकी विचारधारा का आधार यह मान्यता है कि मानव की आन्तरिक चेतना का विकास पुराने प्रतिबन्धों को मिटाने तथा समाज की पुरानी कमियों को दूर करने से ही सम्भव है। जेम्स के विचारानुसार, लोकतंत्र आध्यात्मिक नियम की कार्यान्विति का सफल उदाहरण उपस्थित करता है। उसका मत है कि लोकतंत्र जितनी नई राजनीतिक प्रणाली नहीं है, उतनी वह पुरानी व्यवस्था का विघटन है। लोकतंत्र से यह मान्यता प्रकट होती है कि मनुष्य प्राचीन संस्थाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सम्भव है कि राजाओं तथा पादरियों के समान इन संस्थाओं का पहले प्रतीकात्मक महत्त्व रहा हो। प्राकृतिक समाज में राजा तथा पादरी उस मनुष्य की दैवी प्रकृति अथवा उसकी पूर्णता का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे अपनी आत्मचेतना से अथवा ईश्वर से जीवन प्राप्त होता है। अतीत में इस प्रकार के प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व का असाधारण महत्त्व था; परन्तु, लोकतंत्र में पिछली मान्यताओं को स्थायी रूप तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक यह प्रकट न हो जाय कि ये मान्यताएँ तात्कालिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करती हैं। कोई नियम अथवा परम्परा तब तक स्थायी रूप धारण नहीं कर सकती, जब तक 'विश्व मानव का मन' उसकी आवश्यकता अनुभव न करे।

जेम्स का विचार था कि लोकतंत्र का लक्ष्य राष्ट्रीय सम्पत्ति, राष्ट्रीय सम्मान तथा राष्ट्रीय गौरव की वृद्धि न होकर समाज के विभिन्न सदस्यों के मध्य मानवीय सम्बन्धों का विकास होना चाहिए। लोकतंत्र के राजनीतिक पहलू की अपेक्षा उसके सामाजिक तथा नैतिक पहलू को महत्त्व दिए जाने का यही मुख्य कारण है। सरकार व्यक्ति के वैयक्तिक अथवा स्वार्थपूर्ण हितों के मुकाबले समाज के व्यापक हितों का प्रतिनिधित्व करती है। यह उस भावी व्यवस्था की परिचायक है, जिसमें वैयक्तिक तथा सामाजिक हितों के मध्य पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जायगा। समाज की अपरिपक्व अवस्था रहने तथा मानव और मानव के बीच

साथीपन की सच्ची भावना के अभाव के कारण ही सरकार की आवश्यकता होती है। जेम्स के शब्दों में—" इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि यदि मानव-जाति के आरम्भ में ही मनुष्य का जीवन पूर्ण होता अथवा यह कहा जाय कि यदि सामाजिक सम्बन्ध शुरू से उत्तम होते, तो मानव-समाज में सरकार की आवश्यकता कभी अनुभव ही नहीं की जाती। " मनुष्य जो नहीं है—कानून वही निर्देश करते हैं, वह जो है, उसे कानून प्रकट नहीं करते। कानून मनुष्य की नकारात्मक (Negative) व्याख्या, अनुन्नत, प्राकृतिक अवस्था में उसकी अपूर्णताओं को ध्यान में रखकर करता है, वह मुक्त मानव की पूर्णताओं पर विचार कर उसकी विधायक ( Positive ) व्याख्या नहीं कर सकता। इस प्रकार, कानून मनुष्य के बीच वर्गों अथवा जातियों को मान्यता नहीं प्रदान करता। उससे केवल इस प्रकार के भेदों की निस्सारता तथा उनके सीमित स्वरूप पर ही प्रकाश पड़ता है। जैसे-जैसे मनुष्य में अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप बुद्धिमत्ता का विकास होता है और उस बुद्धिमत्ता का उपयोग वह अपने जीवन में करता जाता है, वैसे-वैसे कानून और सरकार की आवश्यकता भी घटती जाती है।

यदि लोकतंत्र मनुष्य में स्वशासन की योग्यता को स्वीकृति प्रदान करता है, तो परोक्ष रूप से वह उसकी उपर्युक्त बुद्धिमत्ता पर भी अपनी मुहर लगा देता है। इस दृष्टि से लोकतंत्र मनुष्य की नैतिक पूर्णता का अग्रदूत है। लोकतंत्र पुरानी परम्पराओं, प्राचीन कानूनों तथा पिछली प्रथाओं को मिटा कर मानव और मानव के मध्य समानता की स्थापना के मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं का निराकरण कर सकता है। इस प्रकार लोकतंत्र मुक्त मानव-समाज का पूर्ण रूप है। लोकतंत्र के पीछे यह मान्यता निहित है कि मनुष्य आपसी सम्बन्धों के मध्य ऐसा संतुलन स्थापित करने में समर्थ हैं कि उन्हें अपने नियन्त्रण के लिए पुलिस अथवा सेना की आवश्यकता नहीं रह जायगी ; बल्कि उनसे सभी स्थानों तथा सभी अवसरों पर उचित आचरण करने की आशा की जा सकेगी। इस प्रकार, जेम्स ने राबर्ट संडेमेन तथा एमेनुएल स्वेडेनबर्ग के मतों को चार्ल्स फोरियर की विचारधारा से मिलाया और एक ऐसे सिद्धान्त के निरूपण की ओर प्रगति की, जिसके अनुसार सामाजिक लोकतंत्र भूमंडल पर ईश्वरीय शासन की आध्यात्मिक एकता का प्रतीक बन गया ।

हेनरी जेम्स ( पिता ) की दार्शनिक विचारधारा निराली तथा व्यक्तिवादी होते हुए भी सर्वातिशायी सिद्धान्त से प्रभावित थी। इमर्सन और थोरो के समान, किन्तु, उन दोनों से कहीं अधिक गहराई तक, जेम्स ने मनुष्य के आध्यात्मिक

विकास का आधार उसके अन्तर में वास करने वाली दैवी सत्ता को माना। जेम्स की विचारधारा में उपर्युक्त विचारकों की तुलना में अधिक गहराई तथा अधिक प्रगतिशीलता निहित थी। इसका कारण उसकी यह मान्यता थी कि दैवी सत्ता की पूर्ण अभिव्यक्ति मानव-समाज में ही सम्भव है। इमर्सन, थोरो और जेम्स तीनों ने व्यक्ति की वास्तविकता की खोज का प्रयास किया। थोरो ने इस व्यक्तित्व को 'अपने से पृथक्' मानने का प्रयत्न किया, जिसका आशय यही था कि मनुष्य के सांसारिक रूप से पृथक् उसका वास्तविक व्यक्तित्व है। इमर्सन को वास्तविक व्यक्तित्व 'आत्म-निर्भरता' में मिला, जिसका तात्पर्य दूसरे शब्दों में यह हुआ कि मानव-हृदय के आध्यात्मिक आदर्श विश्व आध्यात्मिक आदर्श की ही प्रतिच्छाया है। जेम्स को वास्तविक व्यक्तित्व अपने समाज के सिद्धान्त में मिला। उसने यह मान्यता उपस्थित की कि मुक्त समाज में मनुष्यों का प्रगतिशील दृष्टिकोण होगा और दैवी सृष्टि के विचार से अनुप्राणित होकर लोग परस्पर प्रेम को आधार बनाकर एक दूसरे के प्रति व्यवहार करेंगे। इन तीनों तथा सर्वातिशायी सिद्धान्त के मानने वाले अन्य विद्वानों में आपसी मतभेद चाहे जितने क्यों न रहे हों, फिर भी अमरीकी जीवन की आध्यात्मिक व्याख्या करने में उनकी दिशा समान थी।

# ५

# दर्शन का जीव-वैज्ञानीकरण

# विकासवादी विचारधारा का प्रभाव

चार्ल्स डार्विन की प्राणि-विज्ञान-सम्बन्धी दो पुस्तकों के प्रकाशित होने से अमरीका के बौद्धिक जीवन में एक विवाद उठ खड़ा हुआ। इनमें से पहली पुस्तक थी 'जाति-मूल'[1] और वह १८५९ में प्रकाशित हुई थी। दूसरी पुस्तक थी 'मनुष्य की वंश-परम्परा'[2] और यह १८७१ में प्रकाशित हुई थी। एक तरह से यह कहना भी असंगत न होगा कि यह विवाद अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। हमारा उद्देश्य यहाँ इस समस्या पर विचार करना है कि डार्विन की विचारधारा तथा हर्बर्ट स्पेन्सर के इससे मिलते-जुलते विचारों का अमरीकी दर्शन के क्रमिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ा। हमें आगे जाकर ज्ञात होगा कि जिन दार्शनिकों ने डार्विन की मान्यताओं को स्वीकार किया, उन्होंने डार्विन की कृतियों से आचार-शास्त्र, सामाजिक दर्शन तथा तत्व-मीमांसा में एक-जैसे ही परिणाम नहीं निकाले; परन्तु अमरीकी दर्शन पर डार्विन के प्रभाव पर विचार करने से पूर्व हमें यह तथ्य भी ध्यान में रखना है कि डार्विन से एक शताब्दी पूर्व से ही अमरीका में अनेक प्रकार के विकासवादी विचार प्रचलित थे।

डार्विन से पूर्व के विकासवादी विचार डार्विन के अपने सिद्धान्त के समान जीव-विज्ञान के क्षेत्र में विकसित हुए थे। इस तरह १८वीं शताब्दी के मध्य में फ्रांसीसी वैज्ञानिक बुफन (१७०७-१७८८) ने यह सिद्धान्त निकाला था कि जीवधारियों की जातियाँ निश्चित नहीं थीं; किन्तु उनका विकास उनके शरीरों पर स्थानीय भौतिक वातावरण के अनुरूप हुआ। उसने पर्याप्त प्रमाण के अभाव में ही यह कह डाला कि स्थानीय वातावरण के ही कारण नई दुनिया में पुरानी दुनिया की अपेक्षा छोटे जानवर होते हैं। बुफन के इस कथन से टामस जैफर्सन

---

१. Charles Darwin : Origin of Species.
२. Charles Darwin : The Descent of Man.

को इतना सदमा पहुँचा कि उसने इस बात को प्रमाणित करने के लिए कि अमरीकी जलवायु का प्रभाव प्राणियों पर प्रतिकूल नहीं पड़ता, अमरीकी सांड़ ( बिसन ) पकड़ कर बुफन के पास भेजे। दूसरे फ्रांसीसी वैज्ञानिक लामरक ( १७४४–१८२९ ) ने जीव-विज्ञान का यह सिद्धान्त निकाला कि जीवों की जातियों में वंशक्रम से विशेषताएँ प्राप्त कर परिवर्तन होते हैं। इस सिद्धान्त को लामरक-वाद कहा जाता है। जिन अमरीकियों ने प्रारम्भिक सिद्धान्तों को स्वीकार किया, उनमें बेंजामिन रश तथा सेमुएल स्टेनहोप स्मिथ के नाम मुख्य हैं। रश के वातावरणवाद की चर्चा पहले ( अध्याय २, खण्ड ३ ) में की जा चुकी है। स्मिथ न्यू जर्सी ( प्रिंसटन विद्यालय ) में पहले दर्शन का अध्यापक तथा बाद में उसका अध्यक्ष था। उसने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि प्राणियों की जातियाँ निश्चित नहीं हैं। स्मिथ ने अपने एक निबन्ध में कहा कि सभी व्यक्ति, उनकी बाह्य आकृति कैसी भी क्यों न हो, एक ही माता-पिता की सन्तान हैं और इसलिए यह कहा जा सकता है कि मनुष्यों के स्वरूप में जो बाहरी अन्तर दिखाई देते हैं, वे उत्पत्ति के कारण न होकर स्थानीय वातावरण के परिणाम हैं। यद्यपि ये सिद्धान्त विकासक्रम से सम्बन्ध रखते हैं; फिर भी सिद्धान्तों के प्रतिपादक किसी जातिविशेष के भीतर होने वाले अन्तरों के सम्बन्ध में ही दावा करते थे, उसके बाहर नहीं। घोड़े के एक प्रकार से घोड़े के ही दूसरे प्रकार का विकास हो सकता था; किन्तु घोड़ा और गाय मिलाकर तीसरी जाति बनने की बात नहीं कही जाती थी।

१८वीं शताब्दी के इस मध्यकाल में ही यूरोप और अमरीका में भी भूमि से निकाले गए अस्थि-पंजरों में लोगों की दिलचस्पी बढ़ रही थी। अमरीका में अमरीकी दर्शन-समिति ने इस सम्बन्ध में विशेष रुचि दिखाई। इस संस्था के पिछले लेखों से प्रकट है कि हमारे शिशु राष्ट्र के कितने प्रमुख नागरिकों ने भूमि से निकाले गए अस्थि-पंजरों में कितनी दिलचस्पी ली थी। जैफर्सन और हैमिल्टन जैसे राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी अस्थि-पंजरों का समान रूप से अध्ययन करते थे। अस्थि-पंजरों के अध्ययन से दो ऐसे विज्ञानों का विकास हुआ, जिन्हें विकास-वादी परम्परा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमें एक था लुप्त जंतु-विज्ञान। भूमि से निकाले गए अस्थि-पंजरों को विकासक्रम की शृंखला में रखकर उनके ढांचों में परिवर्तन का अध्ययन किया जा सकता था। दूसरा था भूगर्भ-विज्ञान, जिसकी उत्पत्ति विभिन्न जातियों के अस्थि-पंजरों के समय की गणना का प्रयास करते समय हुई। बहुत शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि पृथ्वी की परतों में

प्रागैतिहासिक बाढ़ों तथा ज्वालामुखियों के विस्फोटों के तथा भूमि की सतह में परिवर्तनों के चिह्न देखे जा सकते हैं और इन घटनाओं के समय का मोटा अनुमान किया जा सकता है। बाइबिल में प्राचीन घटनाओं का जो समय दिया है, उससे नई गणना दसियों लाख वर्ष पीछे पहुँच जाती है। अंग्रेज पादरी किल्बर्ट ह्वाइट ने 'दि नेचुरल हिस्ट्री ऑफ सेलबर्न' नामक पुस्तिका लिखकर इस कल्पना को नए पंख लगा दिए। ह्यू मिलर ने भूगर्भ-विज्ञान तथा ईसाइयों के सृष्टि-सम्बन्धी वर्णन में सामंजस्य स्थापित कर जनता की दिलचस्पी को बहुत अधिक बढ़ा दिया।

अमरीका में एमहर्स्ट के एडवर्ड हिचकौक ने अपनी पुस्तक[1] में भूगर्भ-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों पर प्रकाश डाला। उसका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ईसाई-धर्मशास्त्र के विवरण तथा नई वैज्ञानिक जानकारी के बीच कोई विरोधाभास नहीं है और दोनों ही एक दूसरे का समर्थन करते हैं। उसने एक बार विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि सभी क्षेत्रों में धर्म-शास्त्रियों तथा दार्शनिकों (अर्थात् वैज्ञानिकों) को एक दूसरे का समर्थन और सम्मान करना चाहिए। १८५६ में वैज्ञानिकों की एक सभा में भाषण करते हुए उसने अपने इसी विचार को दुहराया और कहा कि यदि कभी दोनों वर्गों में विरोध हो, तो धर्म-शास्त्री के मत को अन्तिम स्वीकृति मिलनी चाहिए। यहाँ तक कि १८८६ में भी एलेक्जेन्डर विन्चेल ने, जो मिशीगन विश्वविद्यालय में भूगर्भ-विज्ञान तथा लुप्त जीव-विज्ञान के अध्यापक थे, यही विचार प्रतिपादित किया था। उन्होंने कहा था कि भूगर्भीय अन्वेषणों से सिद्ध हुआ है कि संसार की रचना का अध्ययन करने से उसमें एक विशेष उद्देश्य और एक विशेष योजना प्रकट होती है।

"संसार की रचना मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुरूप कितनी अधिक हुई है। हमें तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे मनुष्य के आगमन के लिए पहले से तैयारी कर ली गई हो। अनेक व्यक्ति कहेंगे कि ऐसा नहीं है; किन्तु वास्तव में विश्व में परिस्थिति सचमुच ऐसी थी, जिसमें मनुष्य रह सकता था। हमें कम-से-कम इतना तो निश्चयात्मक रूप से जान पड़ता है कि हमारी आवश्यकताओं तथा हमारे वातावरण के बीच एक सुखद सामंजस्य स्थापित है। इससे यह

---

१. Edward Hitchcock : The Religion of Geology.

भी प्रकट होता है कि संसार की रचना इस प्रकार हुई है, जिससे मानव-जाति का हित हो।"[१]

भूगर्भ-शास्त्री जो साक्षी उपलब्ध करते हैं, उससे प्रकट है कि संसार की रचना एक योजना तथा एक ढांचे के अनुसार हुई है। विन्चेल ने अपने तात्पर्य को समझाते हुए कहा है कि ढांचे से एक विशेष विचार पर प्रकाश पड़ता है। योजना कोई ठोस वस्तु नहीं होती, बल्कि वह एक कल्पना होती है। वह विचार का परिणाम होती है। यदि विश्व की रचना में कोई विचार परिलक्षित होता है, तो इससे परिणाम निकलता है कि वह किसी मन में उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार प्रकट है कि किसी महान् सत्ता के मन में विचार उत्पन्न हुआ। योजना से भी योजना तैयार करने वाले का बोध होता है। यह भी प्रकट है कि योजना तैयार करने वाला असीम बुद्धि का अधिकारी है। यदि मान लिया जाय कि प्रकृति के विभिन्न अंग एक विशाल योजना के अन्तर्गत शृंखलाबद्ध किए गए हैं, तो इससे इस मान्यता को बल मिलता है कि सभी कुछ एक ही योजना के अन्तर्गत उपस्थित किया गया है। यदि भौतिक जगत् एक ही योजना के अन्तर्गत रचा गया है और एक ही व्यवस्था तथा नियम के द्वारा संचालित है, तो कहा जा सकता है कि विश्व एक स्वयंभू-सत्ता की, जो सर्वव्यापी तथा त्रिकालदर्शी है, चरम अभिव्यक्ति है। सृष्टि की इस योजना तथा इस व्यवस्था की जो अभिव्यक्ति हमें विश्व की जीव-प्रणाली तथा भूगर्भीय अध्ययन के द्वारा होती है, उसे विकासवाद कहा जा सकता है। विन्चेल चट्टानों के परीक्षण के बाद इसी परिणाम पर पहुंचा और उसने मत प्रकट किया कि धर्म-शास्त्र तथा भूगर्भ-विज्ञान के मध्य मतभेद की गुंजाइश नहीं है।

डार्विन से पूर्व वैज्ञानिक उन्नति के सिद्धान्त ही विकासवादी विचारों के स्रोत थे। १८वीं शताब्दी में यह विश्वास व्यापक रूप में फैला हुआ था कि जैसे-जैसे बुद्धि का विकास होता जायगा, वैसे-वैसे पृथ्वी पर मनुष्य के जीवन में उन्नति अनिवार्य रूप से होती जायगी। १९वीं शताब्दी के जर्मन-विचारक हेगेल (१७७०-१८३१), शेलिंग (१७७५-१८५४) तथा ओकेन (१७७९-१८५१) के रोमांटिक दर्शन ने मानव-बुद्धि के प्रति इस आस्था को विकासवादी तत्त्व-मीमांसा में बदल दिया। इसमें इस विचार का भी पुट मिला हुआ था कि भौतिक उन्नति

---

१. Alexander Winchell : Walks and Talks in the Geological Field.

इस बात की प्रतीक है कि परमतत्त्व प्रकृति के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति कर रहा है। अमरीका में ये विचार कई प्रकार से फैले। जोहान बर्नार्ड स्टेलो ने, जो जर्मनी से अमरीका में आकर बसा था, अपनी एक पुस्तिका[1] में इन विभिन्न सिद्धांतों को संगृहीत किया। जर्मनी की प्रकृतिवादी दार्शनिक विचारधारा कोलरिज के माध्यम से अमरीका के सर्वातिशायी सिद्धान्त को माननेवालों को मिली और इस प्रकार अमरीका में उसे महत्ता प्राप्त हुई। १८२५ के आगे अधिकाधिक अमरीकी विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त करने से पूर्व कम-से-कम १ वर्ष जर्मनी में व्यतीत करने के लिए आने लगे। इस प्रकार, जर्मन-विचारधारा से सम्पर्क बढ़ता गया। विश्वविद्यालय की जर्मनशिक्षा-प्रणाली के प्रति अमरीका में जैसे-जैसे आदर-भाव बढ़ता गया, वैसे-वैसे जर्मन-विचारधारा विशेष कर धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में अमरीका की विद्वद्मंडली को प्रभावित करती गई। थियोडोर पार्कर ने एक जर्मन विद्वान् विल्हेल्म मार्टिन डि वैटी ( १७८०–१८४९ ) की कृति का अनुवाद कर, उसे अमरीका में प्रसारित किया, जिसमें धार्मिक विचारधारा का विकासवादी विवेचन किया गया।

जिन ग्रंथों के परिणामस्वरूप प्रकृति के नए सिद्धान्तों तथा उनके परिणामों को अमरीका में लोकप्रियता प्राप्त हुई, उनमें से एक विश्व,[2] नामक पुस्तक थी। विभिन्न वैज्ञानिक सिद्धान्तों का यह संग्रह फ्रेडरिक अलेक्जेंडर वॉन हुँम्बोल्ट ने तैयार किया था और वह १८४५ तथा १८५८ के मध्य में प्रकाशित हुई थी। ज्योतिष, ऋतु-विज्ञान, भूगर्भ-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जीव-विज्ञान, जंतु-विज्ञान मानव-वंश-विज्ञान आदि सभी विज्ञानों की प्रगति का इस ग्रंथ में क्रमबद्ध संग्रह एक ऐसे वैज्ञानिक द्वारा किया गया, जिसे यूरोप में विभिन्न विषयों के अपने ज्ञान के लिए बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। हुँम्बोल्ट के इस ग्रंथ से यूरोप और अमरीका के कितने ही विचारकों को विभिन्न विषयों के ज्ञान को आगे बढ़ाने के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई। यह काल विश्वदर्शन के अनेक सिद्धान्तों के निरूपण के लिए स्मरणीय है।

अमरीका में ऑगस्टी काम्टे ( १७९८–१८५७ ) के, जिसने फ्रांस में समाज-शास्त्र की नींव रखी, जैसे ऐतिहासिक-विकासवादी सिद्धान्तों की कुछ जानकारी थी। काम्टे ने कहा था कि समाज स्वयं एक विकासवादी काल से गुजर रहा है,

---

१. General Principles of the Philosophy of Nature.
२. Friedrich Alexander von Humboldt : Kosmos

जिसकी उसके मतानुसार तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली धार्मिक अवस्था होती है, जिसमें विभिन्न विषयों को अंधविश्वास से भरी गाथाओं की सहायता से समझाया जाता है। दूसरी अवस्था तत्व-मीमांसा वाली होती है, जिसमें वस्तुओं के सर्वातिशायी कारण बताए जाते हैं, जिन्हें समझना औसत मस्तिष्क के लिए कठिन होता है। अंतिम अवस्था वैज्ञानिक होती है। इस अवस्था में प्रत्येक तथ्य का वैज्ञानिक तरीके पर परीक्षण और निरूपण किया जाता है और इस प्रकार मानव-धर्म को आगे बढ़ाया जाता है। १९वीं शताब्दी के मध्य में, जब अमरीका में अनेक स्थानों पर आदर्श बस्तियां बसाने का प्रयास किया जा रह था, इनके पीछे काम्टे के मानव-धर्म की प्रेरणा काम कर रही थी।

हम यह मान सकते हैं कि विकासवादी सिद्धान्त से पूर्व जो अनेक सिद्धान्त निकले, उनमें किसी के भी अनुयायी अधिक नहीं थे; परन्तु यदि यह माना जाय कि ये सिद्धान्त स्पेन्सर तथा डार्विन की विकासवादी विचारधारा के अंग थे, तो कहा जा सकता है कि उनके द्वारा विकासवादी सिद्धान्त के लिए भूमि तैयार हो गई थी। जब डार्विन की प्राणियों की जातियों के उद्गम-सम्बन्धी पुस्तिका प्रकाशित हुई, तो वह लोगों को उचित वैज्ञानिक उपादानों के सहित प्राप्त हुई। स्पेंसर की प्रारम्भिक कृतियों की जानकारी तब तक अमरीका के कुछ क्षेत्रों को हो चुकी थी। १८६० में आसा ग्रे ने जो हार्वार्ड में वनस्पतिविज्ञान का अध्यापक था और अमरीका के सब से सम्मानित वैज्ञानिकों में गिना जाता था, डार्विन के ग्रंथ का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया और उसकी आलोचनात्मक समीक्षा प्रकाशित कराई। प्रिंसटन विद्यालय के आदरणीय अध्यक्ष जेम्स मैक्कोश ने डार्विन की विचारधारा को स्वीकार कर उसे अपनी दार्शनिक विचारधारा में स्थान दिया। मैक्कोश ने इस बात पर बल दिया कि जब विकासवादी सिद्धान्त से भूलों का निराकरण कर दिया जायगा, तो ईश्वर की सभी कृतियों के समान इस सिद्धान्त से भी उसकी सत्ता की सुनिश्चितता तथा उसकी बुद्धिमत्ता पर प्रकाश पड़ेगा।[1] उसने विद्यालय के उच्च वर्गों से कहा कि धर्म तथा विकासवादी सिद्धान्त में सामंजस्य रहने के कारण कतिपय अपवादों तथा स्पष्टीकरणों के साथ वह विकासवादी सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

हम जानते हैं कि इस प्रकार के अनुकूल वातावरण के बावजूद, लगभग

---

१. James McCosh : The Religious Aspect of Evolution.

२५ वर्ष तक डार्विन के सिद्धान्त तथा स्पेंसर द्वारा उसके विस्तार को अमरीका में स्वीकृति नहीं मिल सकी। अब हमें इसके कारण पर विचार करना है। इस कारण को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि विकासवादी सिद्धान्त ने जीव-विज्ञान के बाहर के क्षेत्रों की किन मान्यताओं को प्रभावित किया था।

विवाद, विकासवाद के धर्म के प्रति सम्बन्ध को लेकर छिड़ा था और इसलिए सबसे पहले हमें इसी क्षेत्र से विचार शुरू करना चाहिए। विकासवादी मान्यताओं को स्वीकार करने का प्रभाव ईश्वर के प्रति मनुष्य की विचारधारा पर भी पड़ा। विकासवादी विज्ञान ने बताया कि विभिन्न वर्गों के प्राणियों का किस प्रकार प्रकृति के नियमों के संचालन से आविर्भाव हुआ। इस व्यवस्था को स्वीकार करने वाले लोगों को अपने पुरखों की भाँति ईश्वर को परमात्मा के रूप में, जो विश्व के संचालन में निरंतर तथा रहस्यपूर्ण ढंग से हस्तक्षेप करता है, मानने की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम ही रह गई। ईसाई-धर्म के अनुसार, ईश्वर स्रष्टा, शासक तथा उद्धारक था। विकासवादी सिद्धान्त ने पहले शासक के रूप में ईश्वर का जो स्थान था, उसकी पूर्ति प्राकृतिक व्यवस्था से की। क्रमिक विकास की व्यवस्था बहुत लोगों की विचारधारा में ईश्वर के उद्धारक रूप का स्थान लेने लगी। अब भी ईश्वर स्रष्टा माना जाता था; किन्तु सृष्टि की प्रकृति बदलने लगी थी। विकासवादी विचारधारा के आने पर ईश्वर को विश्व का आदिकारण तो माना जाता रहा, किन्तु उसके सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान रूपों के प्रति संदेह उठाया जाने लगा। यह मान्यता जोर पकड़ने लगी कि ईश्वर आदिकारण के रूप में विश्व की रचना तो करता है, किन्तु बाद में उसका परिचालन वह अन्य शक्तियों के हाथ में छोड़ देता है। यह ईश्वर के प्रति अविश्वास नहीं था और अनेक लोग कहते थे कि ईश्वर के प्रति अगाध आस्था रखकर भी विकासवादी सिद्धान्त को माना जा सकता है। परन्तु, डार्विन तथा स्पेन्सर के सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया रूढ़िवादी धर्म-शास्त्रियों पर यही हुई कि विकासवादी विचारधारा नास्तिकवाद को प्रश्रय देती है। प्रिंसटन विद्यालय में धर्म-शास्त्र के अध्यापक चार्ल्स होज ने डार्विनवाद पर आक्रमण करते हुए एक पुस्तक लिखी और उसका शीर्षक लिखा—"डार्विनवाद क्या है?"[१] और इसका यह उत्तर उपलब्ध किया कि डार्विनवाद नास्तिकवाद है। होज ने तर्क दिया कि एक ऐसा ईश्वर, जो कुछ नहीं करता, ईश्वर नहीं है।

---

१. Charles Hodge : What is Darwinism ?

विकासवादी सिद्धांत की स्वीकृति के कुछ अन्य प्रभाव भी धार्मिक विचारधारा पर पड़े। सृष्टि की उत्पत्ति का जो वर्णन ईसाई-धर्म-ग्रंथों में मिलता था, वह जीवों के विकासवादी सिद्धांत के सीधा विरुद्ध पड़ता था। अर्माघ के आर्चबिशप उशर ने १७वीं शताब्दी में सावधानीपूर्वक सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में बाइबिल में वर्णित क्रम का सम्पादन किया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि बच्चों तक को उसकी जानकारी हो गई थी; परंतु विकासवाद के आधार पर समय का जो विभाजन हुआ, वह बिल्कुल अलग ही था। धार्मिक विचारधारा के अनुसार मनुष्यों का वर्ग फ़रिश्तों से ही कुछ घट कर था, किन्तु डार्विन की दूसरी पुस्तक 'मनुष्य की वंश-परम्परा' के प्रकाशित होने पर मनुष्य का क्रम पशुओं से कुछ ही ऊपर रखा गया और वह भी असंख्य वर्षों के विकास-क्रम के बाद। इस परिस्थिति में यह आश्चर्य की बात नहीं थी कि रुढ़िवादी पादरियों ने विकासवादी सिद्धांत के प्रति घोर अविश्वास प्रकट किया।

उदार धार्मिक विचारधारा वाले लोगों को अनुदार विचार वालों की अपेक्षा विकासवादी विचारों को स्वीकार करने में उतनी कठिनाई न थी, क्योंकि उनके विश्वास उतने रुढ़िवादी अथवा अपरिवर्तनीय नहीं थे। उदार विचार वाले धर्म-ग्रन्थों को दैवी सत्य नहीं मानते थे, बल्कि वे उन्हें मानव सफलताओं का एक ऐसा लेखा मानते थे, जो कथा-कहानियों के वर्णनों तथा विश्व की रचना-संबंधी प्राचीन विश्वासों को मिलाजुला कर तैयार किया गया था। यही नहीं, ये लोग एक तरफ सृष्टि की रचना-संबंधी भूगर्भीय अथवा विकासवादी विवरणों तथा दूसरी तरफ बाइबिल के वर्णनों में परस्पर विरोध का स्वागत करते थे और मानते थे कि मनुष्य प्रकृति का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो रहा है। उदार विचार वाले लोग इसलिए भी प्रसन्न थे कि रुढ़िवादी विचारधारा के विरुद्ध संघर्ष करने में नए विज्ञानों से इन्हें सहायता मिल रही थी। यूनिटेरियन पादरी मिनॉट जे० सैवेज ने कहा कि सृष्टि-रचना के दोनों सिद्धांतों में इतना बड़ा भेद है कि उनमें किसी प्रकार का सामञ्जस्य होना संभव नहीं है और उसने आशा प्रकट की कि अंततः रुढ़िवादियों को आत्म-समर्पण करना ही पड़ेगा। सृष्टि रचना के धार्मिक विवरणों तथा भूगर्भ-विज्ञान द्वारा उपलब्ध प्रमाणों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा व्यर्थ है। सच तो यह है कि दुनिया समझौते की इस चेष्टा से ऊब चुकी है। उदार धार्मिक विचार रखने वाले स्पेन्सर के इस दृष्टिकोण से भी राहत का अनुभव करते थे कि विकासवाद की परिणति नैतिक तथा सामाजिक उन्नति में होकर रहेगी। इससे उन्हें मानव के पतन

संबंधी सिद्धांत से मुक्ति पाने का भी मार्ग मिल गया। धार्मिक विचारधारा के अनुसार मानव का पतन होने के बाद उसका उद्धार केवल ईश्वर की दया पर ही निर्भर था।

उदार विचारवालों ने विकासवाद के आधार पर नए आचार-शास्त्र का भी विकास करने का प्रयास किया। वे विकासवाद के सिद्धांत का विस्तार जीव-विज्ञान की सीमाओं के परे करना चाहते थे। वे इसे एक विश्व-सिद्धांत का रूप देना चाहते थे। इस प्रकार विकासवाद का विस्तार होने से शारीरिक परिवर्तन के स्पष्टीकरण का मार्ग खुल गया। विकासवाद का उपयोग मानवीय इतिहास तथा विचारों के इतिहास की व्याख्या करने के लिए भी किया जाना सम्भव हो सका। एमहर्स्ट विद्यालय के अध्यक्ष, जार्ज हैरिस ने अपनी पुस्तक 'मारल इवाल्यूशन' में कहा कि विकासवाद के परिणामस्वरूप मनुष्य तथा समाज-संबंधी दीर्घकाल से स्वीकृत सिद्धांतों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया है। हैरिस की इस पुस्तक तथा इसी तरह के अन्य ग्रन्थों से पता चलता है कि तत्कालीन नैतिक तथा सामाजिक मान्यताओं पर भी विकासवाद का असर पड़ा। यह कहा जाने लगा कि नैतिक तथा सामाजिक नियम किसी दैवी आदेश के परिणाम नहीं हैं; बल्कि उनका विकास मनुष्य की सहज अनुभूति के दीर्घकालीन विकास से संबंधित है। मानव-जाति को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए दीर्घकालीन संघर्ष करना पड़ा और इस दौरान में कतिपय नैतिक मान्यताओं का औचित्य प्रकट हुआ और आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य ने उन्हें नैतिक नियमों का रूप दे दिया। इस विचारधारा के प्रति सहानुभूति रखनेवाले विकासवाद को नैतिकता नहीं कहते थे; बल्कि उनका कहना था कि विकासवादी दृष्टिकोण ग्रहण कर नैतिकता को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। मनुष्य के नैतिक आदर्शों का जन्म जीवों की नैसर्गिक भावना से होना अस्वाभाविक नहीं, क्योंकि मनुष्य का शारीरिक विकास भी जीव-जन्तुओं के शरीरों के विकासक्रम का परिणाम है। डार्विन की मान्यता थी कि जीवन के संघर्ष में जीवों की वही जातियां अपना अस्तित्व बनाये रख सकीं, जिन्हें दूसरी जातियों पर कोई लाभ प्राप्त था। विकासवाद के आधार पर नैतिकता का भवन-निर्माण करने वालों ने इससे यह परिणाम निकाला कि नैतिकता की उन्हीं मान्यताओं ने स्थाई रूप धारण किया, जो मनुष्य के अस्तित्व को कायम रखने के लिए सबसे अधिक लाभप्रद थीं।

सामाजिक क्षेत्र में डार्विन के विचारों से जो परिणाम निकाले गए, उनमें समानता अधिक नहीं थी और उनके टिकने की संभावना भी अधिक नहीं थी।

'जीवन के लिए संघर्ष' तथा 'सबसे शक्तिशाली का अस्तित्व बने रहने'—जैसे आकर्षक शब्द-समूहों की विभिन्न व्याख्याएँ होनी सम्भव थीं और उनमें से प्रत्येक व्याख्या से विभिन्न सामाजिक सिद्धांत निकाले जा सकते थे। यदि संघर्ष से यह मतलब लगाया जाय कि एक जाति के विभिन्न व्यक्तियों में प्रतिद्वंद्विता होती है, जैसी कि येल के समाज-शास्त्री विलियम ग्राहम सुमनर की मान्यता थी, तो परमार्थ की भावना, अथवा दूसरों के कल्याण की भावना, उस मनुष्य के मार्ग की बाधा है, जो 'सबसे शक्तिशाली है' और इस प्रकार अस्तित्व बनाए रखने का अधिकारी है। सामाजिक संस्थाओं का वस्तुतः असामाजिक उद्देश्य होता है, अर्थात् उन व्यक्तियों की सम्पत्ति की रक्षा, जो अस्तित्व बनाए रखने के अधिकारी हैं, और जिन्होंने पहले ही संपत्ति अर्जित कर ली है। सुमनर के विचार में इस प्रकार के अधिकार केवल सरकार को ही प्राप्त करने चाहिए। अस्तित्व बनाए रखने के लिए संघर्ष का शुरू के काल में चाहे जो रूप रहा हो; किंतु हमारे समय में वह आर्थिक स्वरूप का ही पर्याय है और अस्तित्व बनाए रखने की योग्यता आर्थिक सफलता से जानी जाती है। इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में विकासवाद के सिद्धांत को प्रयुक्त करने का जो प्रयास सुमनर द्वारा किया गया, उसका परिणाम लुटेरेपन तथा पूर्ण प्रतिद्वंद्वी पूँजीवाद को युक्तियुक्त आधार प्रदान करना ही हो सकता है। इसके विपरीत यदि अस्तित्व के लिए संघर्ष को जीवधारियों की विभिन्न जातिओं के मध्य प्रतिद्वंद्विता माना जाय—यदि यह भी मान लिया जाय कि जीवधारियों की विभिन्न जातियाँ पृथ्वी पर पैर जमाने के लिए एक दूसरे से संघर्ष में जुटी हुई हैं, जैसा कि लेस्टर फ्राक वार्ड का विश्वास था—तो विकासवादी सिद्धांत में कल्याण राज्य (Welfare state) का औचित्य खोज निकाला जा सकता है। उस अवस्था में सामाजिक संस्थाओं का प्रारंभिक कर्तव्य मानव-जाति में सुधार करना और उसके अपेक्षाकृत पिछड़े हुए सदस्यों की कोटि में सुधार करना होगा, जिससे मनुष्य जाति जीवधारियों की दूसरी जातियों के साथ चलने वाले संघर्ष में विजय प्राप्त कर सके और अपना अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ हो सके।

तत्व-मीमांसा की दृष्टि से विकासवादी सिद्धांत का दार्शनिक विचारधारा पर असर यह पड़ा कि परिवर्तनशीलता का महत्त्व बढ़ गया। प्लेटो ने यह विचार प्रकट किया था, जो शताब्दियों तक दार्शनिक क्षेत्र में कायम रहा, कि केवल स्थाई शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय तत्त्व ही मर्यादा के अधिकारी हैं और यथार्थता उन्हीं में निहित है। दार्शनिक केवल स्थाई तत्त्व को ही अपना लक्ष्य मानता था और अस्थाई तथा परिवर्तनशील को वह अपने विचार-क्षेत्र के बाहर समझता

था। विकासवादी सिद्धांतों की स्वीकृति के बाद यह कहा जाने लगा कि यथार्थता स्थाइत्व में नहीं ; बल्कि परिवर्तन में ही निहित है। विकासवाद के क्षेत्र में विश्व के ढांचे तथा आत्मा से कहीं अधिक महत्त्व इस बात का था कि इनका विकास कैसे हुआ। किसी वस्तु के अस्तित्व से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह हो गया कि उसका विकास कैसे हुआ !

अमरीकी दर्शन पर डार्विन के जो अन्य प्रभाव पड़े, उनकी चर्चा बाद के अध्यायों में रहेगी। विकासवाद पर दार्शनिक प्रणालियों को आधारित करने के जो तीन प्रयास किए गए, उनकी भूमिका के रूप में ऊपर कुछ सुझाव दिए गए हैं। ये तीन प्रयास थे——जॉन फिस्क का "ब्रह्मांड-दर्शन" (Cosmic Philosophy) चान्सी राइट का विधायकीय "मानसिक जंतु-विज्ञान" (Positivistic psychozoology) और फ्रांसिस एलिंगवुड एबट का "वैज्ञानिक वस्तुवाद" ( Scientific Realism )।

# ब्रह्मांड-दर्शन : जॉन फिस्क

जब हर्बर्ट स्पेन्सर की प्रारम्भिक कृतियां अमरीका पहुँचीं, जिनमें जीव-विज्ञान से प्रेरणा ग्रहण कर समाज तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं के विकास-क्रम का निरूपण किया गया था, तो अमरीका में विकासवादी विचारधारा के अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो चुका था। फिर भी इन नए विचारों को तत्काल स्वीकार नहीं किया गया। कारण यह नहीं था कि अमरीकी जनता विकासवाद के विरुद्ध थी ; बल्कि यह कि स्पेन्सर की विचारधारा के पीछे उसका यह दृष्टिकोण छिपा था कि ईश्वर के सम्बन्ध में न कुछ जाना जा सकता है और न जाना गया है। अनेक अमरीकी विचारक इस दृष्टिकोण के पीछे स्पेन्सर की लौकिकता छिपी रहने की आशंका करते थे ; परन्तु साथ ही कुछ अमरीकी ऐसे भी थे, जो स्पेन्सर के अज्ञातव्य ( Unknowable ) की चिन्ता नहीं करते थे और कहते थे कि उसकी स्थिति का समाधान द्वैतवाद से निकल सकता है। स्पेन्सर के अमरीकी अनुयायियों में सबस प्रमुख जॉन फिस्क ( १८४२–१९०१ ) था। फिस्क को २० वर्ष को अवस्था के पहले हो यह विश्वास हो चला था कि स्पेन्सर विचारकों में सबसे महान् है। परन्तु, अधिक उम्र होने के पहले ही फिस्क यह भी अनुभव करने लगा कि स्पेन्सर की विचारधारा की व्याख्या वह स्पेन्सर से भी अधिक उत्तमता से कर सकता है। इस प्रकार, फिस्क स्पेन्सर का शिष्य होते हुए भी कितनी ही बातों में अपने गुरु से मौलिक मतभेद रखता था।

१८६० में, जब फिस्क केवल १८ वर्ष का था, उसने हेनरी टामस बकल ( १८२१–१८६१ ) के 'इंगलैंड की सभ्यता का इतिहास' नामक ग्रंथ की आलोचना प्रकाशित कराई। इस आलोचना में उसने पहली बार स्पेन्सर के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की थी और बताया था कि विचारों के इतिहास में उसका क्या स्थान रहेगा। साथ ही उसने अपना विश्वास प्रकट किया था कि जिस प्रकार भौतिक तथ्य प्राकृतिक नियमों के परिणाम होते हैं, उसी प्रकार सामाजिक

परिवर्तन भी सुनिश्चित नियमों के परिणाम होते हैं। उसने कहा कि यह कथन भ्रमपूर्ण है कि सामाजिक परिवर्तनों का अनुमान पहले से नहीं किया जा सकता। सामाजिक परिवर्तनों का अनुमान पहले से ही नहीं किए जाने के विचार के पीछे तीन मान्यताएँ थीं। पहली मान्यता यह थी कि लौकिक मामलों में दैवी हस्तक्षेप रहस्यपूर्ण ढंग से होता है, जिसे जानना किसी के लिए भी असम्भव है। दूसरी मान्यता थी कि मनुष्य ठीक-ठीक व्याख्या करने में असमर्थ है। तीसरी मान्यता यह थी कि मनुष्य विशेष मामलों में विशेष आचरण करते हैं। और इसलिए विभिन्न घटनाओं को मिलाकर वैज्ञानिक ढंग से सामान्य स्तर पर उनसे परिणाम निकालना असम्भव है। फिस्क ने विचार प्रकट किया कि समाज-विज्ञान का देर से विकास होने का कारण आंशिक रूप में इस क्षेत्र की अनुसंधान-संबंधी कठिनाई और आंशिक रूप में समाज-विज्ञान को भौतिक-विज्ञानों पर निर्भर रखना है, जो समाज-विज्ञान की तुलना में कम जटिल हैं। जब तक भौतिक-विज्ञान का सम्बन्ध तत्त्व-मीमांसा से जुड़ा था, तब तक वे उन्नति नहीं कर सके और इसका प्रभाव भौतिक-विज्ञानों पर भी पड़ा। परन्तु, भौतिक-विज्ञानों का सम्बन्ध तत्त्व-मीमांसा से भंग होने पर ऐतिहासिक घटनाओं के एक विशेष क्रम से घटित होने की बात प्रकाश में आने लगी। फिस्क ने कहा कि आधुनिक समय तक समाज-विज्ञान का अस्तित्व नहीं था। उसे मैकियावेली, विको तथा मान्टेस्क्यू ने शुरू किया और कोंडोर्सेट तथा वाल्टेयर ने उसे १८वीं शताब्दी में समृद्ध बनाया। फिस्क ने कहा कि इस प्रगति के बावजूद वास्तविक समाज-विज्ञान का अस्तित्व ऑगस्ट काम्टे से पूर्व नहीं था, जिसने अपने ग्रंथ 'पाजिटिव फिलॉसफी' में यह मान्यता उपस्थित की कि सामाजिक परिवर्तन सुनिश्चित नियमों के परिणाम हैं। परन्तु, काम्टे विकासवाद के आधारभूत महत्त्व के सिद्धान्त को समझने में असमर्थ रहा, जिसकी सहायता से मानव तथा प्रकृति दोनों के ही इतिहासों की व्याख्या करना सम्भव है। इस कार्य को हर्बर्ट स्पेन्सर ने हाथ में लिया। फिस्क ने उत्साहपूर्वक कहा :—

> **इस महान् खोज की कि ब्रह्मांड में समान से असमान की ओर विकासक्रम जारी है, केवल न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत से तुलना सम्भव है। सम्पूर्ण भौतिक-विज्ञान ही नहीं; बल्कि इतिहास भी इस खोज पर निर्भर है। इससे उस नियम का पता चलता है, जिसके अनुसार सामाजिक परिवर्तन होते हैं।**

जैसा कि उपर्युक्त वक्तव्यों से पता चलता है, फिस्क ने विश्व की प्रत्येक प्रक्रिया तथा प्रत्येक तथ्य को समझने के लिए विकासवाद के ही सिद्धांत को

आधार मानने में कुछ असावधानी कर दी। उसने एक ग्रंथ लिखा, जिसका शीर्षक था 'ब्रह्मांड-दर्शन की रूप-रेखा' (Outlines of Cosmic Philosophy) इस ग्रंथ का उद्देश्य स्पेन्सर के ग्रंथ 'संश्लेषणात्मक दर्शन' ( Synthetic Philosophy ) के विभिन्न विषयों की व्याख्या करने के लिए एक निबंधमाला तैयार करना था। फिस्क के विचार में स्पेन्सर की विचारधारा प्रकट करने के लिए 'कॉस्मिक' ( ब्रह्मांड-संबंधी ) शब्द का उपयोग ही ठीक था ; किन्तु स्पेन्सर उससे सहमत नहीं हुआ। परंतु फिस्क ने 'कॉस्मिक' शब्द के प्रयोग का औचित्य प्रकट करते हुए तीन तर्क दिए। उसने कहा कि 'कॉस्मिक' शब्द का प्रयोग करने से ऐसे कई विज्ञान विचारणीय क्षेत्र के बाहर चले जाते हैं, जिन्हें उस क्षेत्र के भीतर नहीं रहना चाहिए था। फिस्क का पहला तर्क यह था कि 'कॉस्मस' का अर्थ केवल सम्पूर्ण दृश्यजगत् ही नहीं है ; बल्कि उसके अंतर्गत इस जगत् का ढाँचा, उसकी क्रमबद्धता तथा उसकी व्यवस्था सभी आ जाते हैं। फिस्क ने यह भी कहा कि इस शब्द के अंतर्गत अलौकिक चमत्कारों तथा दैवी प्रेरणा में विश्वास रखनेवाली धार्मिक प्रणालियाँ नहीं आतीं, क्योंकि ऐसा करने पर निर्धारित व्यवस्था भंग हो जाती है। उसका दूसरा तर्क यह था कि तत्व-मीमांसा-प्रणाली भी कॉस्मिक शब्द के अंतर्गत नहीं आती, क्योंकि तत्व-मीमांसा में दृश्यजगत् की प्रक्रियाओं का वर्णन न होकर विचारजगत् की चर्चा रहती है। उसका तीसरा तर्क यह था कि कोई भी विधायक ( Positivistic ) दर्शन कॉस्मिक नहीं हो सकता ; क्योंकि ऐसे दर्शनों में विश्व के रहस्यों का क्रमिक वर्णन सम्भव नहीं माना जाता। इस प्रकार फिस्क ने स्पेन्सर की आलोचना के बावजूद कॉस्मिक शब्द के लिए अपना हठ जारी रखा। यह कहा जा सकता है कि फिस्क और उसके गुरु के बीच ऐसे साधारण मतभेद की बात स्मरण रखने योग्य नहीं है ; परन्तु इससे यही प्रकट होता है कि फिस्क ने स्पेन्सर के प्रति अपनी भक्ति को इतना अधिक नहीं बढ़ने दिया कि स्पेन्सर के तथाकथित दोषों की उपेक्षा की संभावना रहे। इस मतभेद से दोनों विचारकों के दृष्टि-भेद पर भी प्रकाश पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप अन्य प्रश्नों पर भी उनके बीच मतभेद उत्पन्न हो गए थे।

फिस्क तथा स्पेन्सर के दृष्टिकोणों का अंतर काफी गहरा था। स्पेन्सर एक समाज-सुधारक था और उसने प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन किया था। यद्यपि वह किसी विज्ञान का विशेषज्ञ नहीं था, फिर भी उसे उन सभी का कामचलाऊ ज्ञान था और उनके सापेक्ष अध्ययन में उसकी विशेष रुचि थी। कभी-कभी वह

प्राकृतिक विज्ञानों के तरीकों का सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग करता था और समाज-सुधार के कार्यक्रम में भी उन्हें स्थान देता था। दूसरी तरफ फिस्क को प्राकृतिक विज्ञान का बहुत कम ज्ञान था और समाज-सुधार में भी उसकी दिलचस्पी नहीं थी। उसकी विशेष रुचि इतिहास में थी और इतिहासकार के रूप में ही उसने ख्याति प्राप्त की थी। यद्यपि फिस्क ने सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में वैज्ञानिक सहायता की आवश्यकता को स्वीकार किया था ; किन्तु उसने कभी भी समाज-विज्ञान को स्पेन्सर की तरह प्राकृतिक विज्ञान के अंतर्गत नहीं रखा था। स्पेन्सर से अपनी दिलचस्पी के इस मुख्य भेद के कारण ही फिस्क ने मानव के विकास की समस्या इतिहास के नियमों, विश्वास की भावना का विकास, धर्म, सामाजिक विकास की दृष्टि से मानव की बाल्य अवस्था दीर्घकाल तक बनी रहने आदि में विशेष दिलचस्पी ली थी। इस दृष्टि-भेद के कारण यह कहना असंगत नहीं कि फिस्क ने स्पेन्सर की विचारधारा को उसकी मूल सीमाओं के कुछ आगे बढ़ाया था।

फिस्क का ज्ञान-संबंधी सिद्धांत स्पेन्सर के समान इस परिणाम पर पहुँचता है कि हम केवल उसी वस्तु को जान सकते हैं, जिसका कोई कारण है, जो ससीम है और सापेक्ष है। ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया ही ऐसी है कि निरपेक्ष, ससीम और अकारण की जानकारी सम्भव नहीं है। ज्ञान से हम केवल इतना ही समझ सकते हैं कि बाह्य कारण हममें कई वर्गों की चेतना उत्पन्न कर सकते हैं ; परंतु ये बाह्य कारण हमारे निकट अज्ञात ही रहेंगे, क्योंकि हमें वस्तुओं का केवल आभास मिलता है, वस्तुओं की यथार्थता का पता नहीं चलता। इस प्रकार हमको, जैसी कोई वस्तु है उसकी जानकारी नहीं प्राप्त होती ; किन्तु जानने की प्रक्रिया में वस्तु का जैसा आभास मिलता है वही हम जान पाते हैं। इसलिए, मनुष्य का सीमित मन सत्य का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। यहाँ तक फिस्क स्पेन्सर के साथ गया है ; किन्तु स्पेन्सर यहाँ रुक जाता है। फिस्क आगे बढ़कर इस सम्भावना पर भी विचार करता है कि कोई ऐसी भी सत्ता हो सकती है, जो मनुष्य के द्वारा अज्ञेय का ज्ञान प्राप्त कर सके। स्पष्ट ही इस प्रकार प्राप्त किया हुआ ज्ञान अलौकिक होगा और उस सत्ता के द्वारा जाना गया सत्य अलौकिक सत्य होगा। इस प्रकार फिस्क की आधारभूत स्थिति स्पेन्सर के समान है और वह ब्रिटिश अनुभववादी परम्परा के ढंग पर मानव के अनुभव को प्रधानता प्रदान करती है ; किन्तु उसने अलौकिक सत्ता द्वारा अलौकिक ज्ञान प्राप्त करने की संभावना को स्वीकार कर अपने को आस्तिकतावादी चेतनवाद के निकट पहुँचा दिया है।

फिस्क स्पेन्सर की तरह ही स्वीकार करता है कि प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होता है। परन्तु, प्राकृतिक विज्ञानों में दिलचस्पी रहने के कारण जहाँ स्पेन्सर इस सिद्धांत को केवल भौतिक पृष्ठभूमि में देखता है, वहाँ फिस्क अपनी ऐतिहासिक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि के कारण कार्य-कारण-संबंध को मानवज्ञान की सापेक्षता की पृष्ठभूमि में रखता है। वह इस बात पर जोर देता है कि किसी कारण को वास्तविक रूप में जानना असम्भव है; क्योंकि ज्ञान के सिद्धांत के अनुसार हम कारण के संबंध को नहीं जान सकते; बल्कि कारण के संबंध द्वारा उत्पन्न अपनी चेतना से अवगत होते हैं। यद्यपि मानव की सीमाओं के कारण की ठीक जानकारी होना सम्भव नहीं है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसी वस्तु का उसके कारण से कोई संबंध नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक ससीम घटना का कोई-न-कोई कारण होता है और फिर उस कारण का भी कोई कारण अवश्य होगा। ससीम कारणों के ससीम कारण खोजते रहने की इस प्रक्रिया को अनिश्चित रूप से बढ़ाया जा सकता है और मूल कारण तक हम तब तक नहीं पहुँचेंगे, जब तक हम रेखा खींचकर कोई प्रथम कारण नहीं मान लेंगे। यह प्रथम कारण ससीम नहीं हो सकता, क्योंकि ससीम होने पर उसका भी कोई कारण होगा। यह प्रथम कारण ही ईश्वर है। फिर उसे आराध्य की विशेषताओं से विभूषित कर दिया गया। फिस्क ने मत प्रकट किया कि प्रथम कारण धार्मिक भावनाओं को केन्द्रीभूत चाहे करता हो; किन्तु उसकी यथार्थता का मानव-मन के द्वारा प्रमाणीकरण सम्भव नहीं है।

फिस्क का यह विश्वास उसे स्पेन्सर के 'अज्ञेय' के निकट पहुंचा देता है; किन्तु उसके शब्द अपेक्षाकृत कुछ नम्र थे। स्पेन्सर की कल्पना का सार यही है कि ईश्वर के सम्बन्ध में जाना नहीं जा सकता और फिस्क उसके इस मत से सहमत है; किन्तु वह 'अज्ञेय' को आराधना के लिए उपलब्ध कर देता है। वह कहता है कि विज्ञान हमें धर्म से परे नहीं ले जाता; बल्कि प्रकृति के द्वारा हम ईश्वर को प्राप्त करते हैं। फिस्क की एक पुस्तक का शीर्षक भी था—'थ्रू नेचर टु गॉड'। फिस्क के लिए विज्ञान मानवीय ज्ञान है और धर्म मानवीय आकांक्षा है। फिस्क ने अपने कितने ही दार्शनिक लेखों में धार्मिक विषयों को उठाया है। फिस्क अपने अन्तिम वर्षों में अपने ब्रह्मांड-विज्ञान का सम्बन्ध आस्तिकवाद से भी जोड़ने लगा। उसके विचार की यह दिशा हमें उसके उस भाषण में मिलती है, जो उसने १८८५ में दिया था।

यह भाषण 'कांकर्ड समर स्कूल ऑफ फिलॉसफी' में दिया गया था। इस

व्याख्यानमाला को ब्रोन्सन आलकट ने आरम्भ किया था। इसका उद्देश्य न्यू इंगलैंड के दार्शनिक क्षेत्रों को विलियम टोरी हैरिस तथा उसके साथियों द्वारा सेंट लुई में हुए कार्य से अवगत करना था। १८८५ में इस गोष्ठी का विषय था—"क्या आधुनिक विज्ञान हमें सर्वेश्वरवाद की ओर ले जाता है ?" फिस्क के अलावा, इस गोष्ठी में भाग लेने वाले अन्य दार्शनिक थे फ्रांसिस ई० एर्बाट, जार्ज होम्स तथा एडमंड मोंटगोमरी।

फिस्क के भाषण का उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि विज्ञान के कारण प्राकृतिक नियम तथा दैवी नियम के मध्य कोई दरार नहीं पैदा हुई है। उसने कहा कि यह दरार प्रत्येक बात के दार्शनिकीकरण के कारण उत्पन्न हुई है और आधुनिक समय में वह लैटिन चर्च की प्रणाली के कारण बनी है। यदि यह माना जाय कि प्रकृति की व्यवस्था को 'दैवी चमत्कारों' के द्वारा भंग किया जाना सम्भव है, तो यह हमें नास्तिकवाद की ओर प्रेरित करता है। इसके विपरीत यदि ईश्वर की व्यवस्था में हम अपनी आस्था बनाए रखते हैं और यह मानते हैं कि उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता है, तो प्राकृतिक नियम तथा दैवी नियम का भेद मिट जाता है। फिस्क ने इससे यह परिणाम निकाला कि प्रकृति की व्यवस्था ही दैवी नियम है और मत प्रकट किया कि प्रत्येक सत्यानुरागी को ज्ञान के विस्तार का स्वागत करना चाहिए। ईश्वर प्रकृति की व्यवस्था में निहित है और इसलिए वैज्ञानिक अन्वेषण ईश्वर में मानव की आस्था की पुष्टि करता है। फिस्क ने कहा—"विज्ञान के प्रत्येक स्पष्टीकरण से एक ऐसा द्वार खुलता है, जिससे ईश्वर की महिमा का प्रकाश अपने सम्पूर्ण जाज्वल्यमान स्वरूप में चमकता है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि यद्यपि स्पेन्सर और फिस्क शुरू में एक दूसरे के सदृश विचारधारा से चलते हैं; किन्तु आगे बढ़ने पर उनके परिणाम भिन्न निकलते हैं।

स्पेन्सर और फिस्क के बीच एक मनोरंजक मतभेद पृथ्वी पर शक्ति के स्रोत को लेकर भी है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, स्पेन्सर भौतिक दृष्टिकोण से प्रभावित था और वह अभौतिक विषयों पर भी भौतिक मान्यता लागू करता था। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण स्पेन्सर इस परिणाम पर पहुँचा कि भौतिक शक्ति मानसिक प्रक्रियाओं में बदल जाती है। उधर फिस्क इस प्रकार के परिवर्तन में विश्वास नहीं करता था। उसका विश्वास था कि भौतिक तथा मानसिक शक्तियों में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। फिस्क का कहना था कि चेतना के प्रत्येक परिवर्तन की समानान्तर प्रक्रिया स्नायुमंडल में रासायनिक परिवर्तनों के रूप में होती है।

परन्तु, फिस्क ने यह कभी नहीं कहा कि रासायनिक परिवर्तनों के ही परिणाम चेतना-सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं ; बल्कि इसके विपरीत उसने यह कहा कि चेतना-सम्बन्धी परिवर्तनों तथा अन्य परिवर्तनों के मध्य एक गहरी खाई है।

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि फिस्क की विचारधारा स्पेन्सर से लगातार दूर होती गई है और इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों दार्शनिकों के दृष्टिकोण तथा रुचियाँ भिन्न थीं। फिस्क ने अपने विचारों को सबसे पहले अपनी पुस्तक 'ब्रह्मांड-दर्शन की रूप-रेखा' में प्रकट किया और फिर अपने निबन्ध 'शिशुता का तात्पर्य' ( The Meaning of Infancy ) में उन्हें आगे बढ़ाया। इस निबन्ध में फिस्क ने कहा कि मनुष्य को शिशुता की अवस्था में जो दीर्घकाल तक रहना पड़ा, उसी के कारण उसमें नैतिक तथा सामाजिक भावनाओं की नींव जमी।

दूसरे जीवधारियों के विपरीत मनुष्य के मन का विकास मनुष्य के जन्म के अधिक पीछे हुआ है। अन्य जीवधारियों की जातियों की अपेक्षा नवजात मानव-शिशु का मस्तिष्क काफी विकसित होता है ; किन्तु बाल्यावस्था में मनुष्य अपने माता-पिता पर अधिक समय तक निर्भर रहता है और इस कारण वह दूसरों की तुलना में अधिक मानसिक शक्ति का विकास कर लेता है। मानव के जैसे जटिल मस्तिष्क के लिए पूर्ण विकास करना इसी कारण सम्भव हो सका। मनुष्य के पूर्व जो जातियाँ थीं, उनमें जिन्होंने अपनी सन्तान के मानसिक विकास के लिए पूर्ण प्रयास किया, वही अस्तित्व के संघर्ष में ठहर सकीं। इस प्रकार शिशुओं की देख-रेख में माता-पिताओं की दिलचस्पी बढ़ती गई। फिस्क ने अनुमान किया कि इस भावना से परिवारों के संघटन तथा फिरकों के रूप में मनुष्य के विकास करने का रास्ता साफ हो गया। फिस्क की यह भी मान्यता थी कि सामाजिक क्षेत्र में इस विकास के साथ-ही-साथ नैतिक गुणों की भी अवतारणा हुई। फिस्क का विचार था कि उन्हीं माता-पिताओं के बच्चे दूसरों की प्रतिस्पर्धा में ठहर सकते थे, जिनकी सब से दीर्घकाल तक और सबसे अधिक हिफाजत की गई और माता-पिता यह प्रयास तब तक नहीं कर सकते थे, जब तक उनमें सहानुभूति की मात्रा पर्याप्त न रही हो। इन माता-पिताओं की सन्तान भी सहानुभूति के गुण को प्राप्त करती थी और उसे अपनी सन्तान के लिए विरासत में छोड़ जाती थी। फिस्क ने कहा कि इस तरह से सम्पूर्ण मानव-जाति में मानवीय भावना घर कर गई।

इस सिद्धान्त की सहायता से फिस्क ने विकासवादी ढाँचे को अपने नैतिक

तथा सामाजिक विचारों का आधार बनाया। उसने विकासवाद के सिद्धान्त का जीव-विज्ञान के क्षेत्र से उठाकर, जहां इसका जन्म हुआ था, विश्व की व्यवस्था के भौतिक नियमों तक विस्तार किया। फिस्क का यह कार्य एक ऐसे दार्शनिक का प्रयास था, जो नई वैज्ञानिक विचारधारा से अभिभूत हो गया था।

# यथार्थवादी मानसिक प्राणि-विज्ञान : चांसी राइट

## ( Positivistic Psychozoology : Chauncey Wright )

चांसी राइट की मृत्यु १८७५ में ४५ वर्ष की अवस्था में हो गई थी। वह एक अज्ञात गणितज्ञ था और समुद्रीय पंचांग ( Nautical almanac ) के लिए गणित-सम्बन्धी कार्य कर अपना भरण-पोषण करता था। रात-दिन कठिन परिश्रम कर वर्ष-भर का यह कार्य वह दो महीने में ही कर डालता था। इस तरह उसके पास १० महीने का समय पढ़ने, विचार करने और मित्रों से बातचीत करने के लिए बच जाता था। कुछ समय तक वह एक बालिका-विद्यालय में दर्शन पढ़ाता था। वर्ष में दो बार वह हारवर्ड विद्यालय में अस्थाई रूप से मनोविज्ञान भी पढ़ाता था। उसकी दूसरी नियुक्ति भौतिक-विज्ञान के अध्यापक के पद पर स्थाई रूप से होने वाली थी कि अचानक उसकी मृत्यु हो गई। उसने अपने विचार 'दि नेशन एंड दी नार्थ अमरीकन रिव्यू' नामक पत्रिका में प्रकट किए थे। इन्हें देखने से पता चलता है कि उसकी शैली कठिन थी और उसके भाव को समझना सहल नहीं होता था। उसने एक लेख 'आत्मचेतना का विकास' शीर्षक से लिखा, जिसे पढ़ने से प्रकट होता था कि वह एक ऐसे सुव्यवस्थित ग्रन्थ की भूमिका थी, जिसे वह कभी लिख नहीं सका।

परन्तु तीन-चौथाई शताब्दी बाद इस अज्ञात व्यक्ति को एक एसे विचारक के रूप में मान्यता प्राप्त हुई, जिसकी कृति को अमरीका में विकासवादी प्रकृति-वाद के विकास में केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है। उसने चार्ल्स पीयर्स, विलियम जेम्स, ऑलिवर वेन्डल होम्स तथा अन्य मित्रों की विचारधारा को परिपक्वता प्रदान करने में सहायता पहुँचाई। कुछ समय तक उसकी कृतियाँ विस्मृति के गर्भ में चली गईं और राइट का नाम सुप्रसिद्ध मित्रों से उसके सम्बन्ध के कारण ही कभी-कभी याद किया जाता रहा। परन्तु, अब राइट को पीयर्स, जेम्स अथवा

होम्स के सहायक से अधिक एक स्वतंत्र विचारक के रूप में माना जाता है, गोकि उसने जो कुछ लिखा, उसमें रचनात्मक से अधिक आलोचनात्मक सामग्री ही थी। आंशिक रूप से राइट के प्रति श्रद्धा बढ़ने का कारण यह भी है कि आधुनिक विचारधारा का झुकाव राइट के दृष्टिकोण के निकट पहुँच गया है। वह दृष्टिकोण यही है कि दार्शनिक अन्वेषण उसी यथार्थता तथा विशुद्धता से होना चाहिए, जैसी प्राकृतिक विज्ञानों में अपेक्षित मानी जाती है। राइट का विश्वास था कि किसी भी उक्ति को, चाहे वह कितने भी व्यापक रूप में स्वीकृत हो चुकी हो अथवा चाहे जिन अधिकारी की अनुमति उस पर मिल चुकी हो, बिना उचित परीक्षण के सत्य न माना जाना चाहिए। उसने शायद इसी सिद्धान्त का उपयोग अपने दार्शनिक अन्वेषण में किया और सम्भवतः इसी कारण कोई नियमित कृति वह छोड़ नहीं जा सका। इसी कारण उसकी विचारधारा को उसके आलोचनात्मक लेखों से संकलित किया जाता है और आज वह हमें सुव्यवस्थित रूप में कहीं नहीं मिलती।

अपने संशयालु स्वभाव के कारण राइट विशेष उदाहरणों से निकाले गए ऐसे सामान्य सिद्धान्तों अथवा व्यापक मान्यताओं पर विश्वास नहीं करता था, जिनका मानवीय अनुभव द्वारा प्रमाणीकरण सम्भव नहीं था। वह विश्व के किसी रहस्य के स्पष्टीकरण के लिए किसी भी ऐसी बात को मानने को तैयार नहीं था, जिसमें विश्व से परे के किसी तत्व को सम्मिलित करने की चेष्टा की गई हो। राइट की दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह एक जगह प्राप्त स्पष्टीकरण के सिद्धांत को अन्य सभी स्थानों पर लागू करने के विरुद्ध था। यही कारण था कि अमरीकी विचारकों के बीच डार्विन के विकासवाद को जीव-विज्ञान का एक आधारभूत प्रमाण ( Biological hypothesis ) मानकर भी राइट ने फिस्क के समान विकासक्रम को ब्रह्मांड के रहस्यों के स्पष्टीकरण का एक साधन मानने से इनकार कर दिया। नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी उसने सर्वातिशायी सिद्धान्त को स्वीकार करने वालों की, एक क्षेत्र में प्रयुक्त सिद्धान्त को अन्य क्षेत्रों में लागू करने की प्रवृत्ति का विरोध किया। सर्वातिशायी सिद्धान्त के प्रति उसका विरोध कुमारी ग्रेस नोर्टन को लिखे गए एक पत्र से प्रकट होता है। कुमारी नोर्टन ने प्रश्न किया था—"हम लोग क्यों वर्तमान हैं ? " राइट ने इस प्रश्न के उत्तर में जीवन की समस्या के समाधान के लिए बाह्य आध्यात्मिक लक्ष्यों की स्वीकृति प्रदान करने से इनकार कर दिया। उसने लिखा—"जीवन के सभी लक्ष्य

स्वयं जीवन के अन्तर्गत हैं और उनकी शोध जीवन की सुरक्षा, तथा उसकी अभिवृद्धि के क्षेत्र में ही होनी चाहिए।"[1]

राइट ने सर्वातिशायी सिद्धान्त का जो विरोध किया, उसके पीछे उसकी यह मान्यता थी कि तत्त्व-मीमांसा की ऐसी कोई भी प्रणाली नहीं है, जिन्हें दृश्य जगत् के तथ्यों के प्रमाणीकरण का आधार बनाया जा सकता हो। वह बेकन के समान मानवीय बुद्धि से परे उन तथाकथित शाश्वत व अनिर्वचनीय सिद्धान्तों पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं था, जो तत्त्व-मीमांसा की परम्परा के आधार रहे हैं। इस प्रकार के अन्वेषण के लिए राइट निरीक्षण तथा प्रयोग की विधि के पक्ष में था, जिससे ज्ञान की क्रमिक उन्नति हो सके। तथ्यों का पता लगाने के लिए राइट वैज्ञानिक अन्वेषण के तरीके को पसन्द करता था—ऐसा वैज्ञानिक अन्वेषण, जिसमें वैज्ञानिक की निजी दुर्भावनाओं का असर नहीं पड़ा हो और जिस पर वैज्ञानिक के सामाजिक वातावरण का दबाव बढ़ गया हो। वह भौतिक तथ्यों के इन्द्रियजनित परीक्षण द्वारा प्रमाणीकरण के पक्ष में था। इस प्रमाणीकरण को वह वैज्ञानिक विधि का एक अनिवार्य अंग मानता था। उसके विचार में आधुनिक युग की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वैज्ञानिक लोग अनुभवीय प्रमाणीकरण (Empirical verification) को सब से अधिक महत्त्व देते रहे हैं। आगस्ट काम्टे की तरह, जिसे यथार्थवाद (Positivism) का प्रतिपादक कहा जाता है, चांसी राइट सत्य के अन्वेषण को उन गलत रास्तों से मुक्ति दिलाने को चिन्तित था, जिन पर धर्मशास्त्र तथा तत्त्व-मीमांसा की परम्पराओं पर चलने वाले तत्त्वज्ञानी भटक गए थे।

राइट चाहता था कि वैज्ञानिक को तत्त्व-मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा आचार-शास्त्र द्वारा जारी किए गए नियंत्रणों से मुक्ति मिलनी चाहिए। यद्यपि राइट काम्टे के दृष्टिकोण से सहमत था; किन्तु अपने संशयालु स्वभाव के कारण वह काम्टे के यथार्थवाद को सैद्धान्तिक मान्यता नहीं दे सका। इसी कारण उसने डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित ब्रह्मांडीय विवेचन को भी ठुकरा दिया। अपनी स्थिति की पुष्टि के लिए राइट ने कहा कि दर्शन का सम्बन्ध मुख्यतः विधि से है और इसलिए इसे कोई विधायक सिद्धान्त अथवा अनुभूतिजन्य ज्ञान प्राप्त करने की विधि का रूप नहीं दिया जा सकता। राइट

---

१. Letters of Chauncey Wright. (J. B. Thayer, editor) Privately printed, 1878, p. 277

ने काम्टे के विचार के धार्मिक, तत्त्व-मीमांसा-सम्बन्धी तथा वैज्ञानिक वर्गीकरण का उल्लेख किया और कहा कि ज्ञान की ये अवस्थाएँ क्रमिक रूप से आती हैं। साथ ही उसने अपनी इस मान्यता को भी आगे बढ़ाया कि सभ्यता के परिपक्व होने पर ये तीनों अवस्थाएँ एक साथ भी वर्तमान रह सकती हैं और लोग विचार की तीनों प्रणालियों से एक साथ लाभ उठा सकते हैं। परन्तु, इन तीन विधियों में राइट ने अपने को तीसरी अर्थात् वैज्ञानिक प्रणाली तक सीमित रखा। राइट के मतानुसार दर्शन तथा विज्ञान का घनिष्ट सम्बन्ध है।

राइट ने तत्त्व-मीमांसा के अन्तर्गत चलने वाली विचारधारा की इस प्रवृत्ति की कटु आलोचना की कि दृश्यजगत् के तथ्यों को वह स्वतंत्र शक्तियों की सत्ता प्रदान कर देती है। उसने इस प्रवृत्ति को मनुष्य की बर्बर अवस्था का अवशेष बताया। उसने इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि नग्न तथ्य के प्रति ध्यान केन्द्रित कर विज्ञान रहस्य तथा लगन की जिस भावना को नष्ट कर देता है, तत्त्व-मीमांसा तथा धर्मशास्त्र उसे बनाए रखता है। उसने कहा कि जब कि तत्त्व-मीमांसा तथा धर्मशास्त्र रहस्य तथा लगन की निष्क्रिय भावना को प्रोत्साहन प्रदान करते हैं, वहाँ वैज्ञानिक विधि रहस्य तथा लगन की भावना को सक्रियता की तरफ प्रेरित करती है और सुव्यवस्थित एवं गंभीरतापूर्ण कार्यशीलता की दिशा में अग्रसर करती है। यही नहीं, यह भावना बाद में कर्तव्य के प्रति आस्था तथा रूढ़ियों से स्वतंत्रता का रूप धारण कर लेती है। जब कि तत्त्व-मीमांसा का तरीका मनुष्य को अज्ञात के सम्मुख भयत्रस्त होकर मौन खड़ा रहने को बाध्य करता है, वहाँ वैज्ञानिक विधि मनुष्य को अज्ञात क्षेत्र में अन्वेषण के लिए प्रेरित करती है। यह ठीक है कि वैज्ञानिक क्षेत्र में भी निगूढ़ विचारधारा का सामना मनुष्य को करना पड़ता है; किन्तु इस क्षेत्र में प्रकृति-सम्बन्धी हमारे ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार होता है। विज्ञान में सामान्य सिद्धान्त भी सुनिश्चित तथा अन्तिम तथ्य नहीं होते; किन्तु, ज्ञान के अधिक विस्तार के साधन के रूप में ही उनका महत्त्व होता है।

विलियम जेम्स ने 'दि नेशन' पत्रिका में राइट की मृत्यु के बाद विचार के क्षेत्र में उसकी देन की समीक्षा करते हुए कहा था कि राइट दृश्यजगत् के प्रति आशावादी अथवा निराशावादी दृष्टिकोण न रख कर उसे पूर्णतः तटस्थ बनाए रख सका था। राइट की दिलचस्पी किसी विचार के प्रति उसी सीमा तक रहती थी, जिस सीमा तक उसका सम्बन्ध मनुष्य के भाग्य से हो सकता था। उसका विचार था कि जब किसी दृश्य-वस्तु की यथार्थता ही उसके मूल्यांकन

के लिए पर्याप्त है, तो उसे तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में घसीट लाना अनावश्यक ही कहा जायगा। किसी द्रव्य के सम्बन्ध में तत्त्व-मीमांसा की मान्यताओं को वह अधिक महत्त्व नहीं देता था और उनकी खिल्ली उड़ाता था। जब राइट से कहा गया कि वस्तुओं का सम्बन्ध जोड़ने के लिए कोई कड़ी आवश्यक है, तो इसका जवाब देते हुए उसने कहा कि कड़ी की आवश्यकता तभी पड़नी चाहिए, जब विभिन्न वस्तुओं के एक कड़ी के अभाव में विभिन्न दिशाओं में छितरा जाने की आशंका हो। दृश्यजगत् की वस्तुओं को केवल एक क्रम से रखा जाना आवश्यक है और इससे अधिक उनके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

यह उल्लेखनीय है कि राइट ने न केवल यथार्थवाद ( वस्तुवाद ) तथा विकासवाद के आधार पर खड़ी की ब्रह्मांड-सम्बन्धी उन मान्यताओं को ठुकरा दिया, जो उस समय अमरीका में प्रचलित थीं ; बल्कि उसने परम्परागत चेतनवाद तथा जड़वाद-सम्बन्धी मान्यताओं को भी नजरंदाज कर दिया। यदि इनमें से किसी एक मान्यता को अकेला स्वीकार किया जाय, तो वैसा करना असंतोषजनक तथा एकांगी कार्रवाई कही जायगी। विज्ञान के प्रति आस्था ने राइट को विज्ञान के प्रति पक्षपात करना भी नहीं सिखाया। वह विज्ञान को लेकर अतिरंजित दावे कभी नहीं करता था। विज्ञान की अत्यधिक वकालत करते हुए वह धर्म के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करता था। दूसरी तरफ वह धर्म तथा नैतिकता का भी सम्बन्ध अनिवार्य रूप से नहीं जोड़ता था। नैतिकता के क्षेत्र पर धर्मशास्त्र का हावी होना उसे बहुत बुरा लगता था। उसका कहना था कि धर्मशास्त्र पर नैतिकता को निर्भर कर देने का एक ऐतिहासिक परिणाम यह हुआ कि मानव-जीवन के मूल्यों का महत्त्व नष्ट हो गया। राइट ने इस मान्यता की भी आलोचना की, जिसके अनुसार धार्मिक सन्देहों का आशय नैतिक दिवालियापन लगा लिया जाता था और समझा जाता था कि मानव-चरित्र के श्रेष्ठ गुणों का पतन हो चला है। जहाँ तक उसका अपना ताल्लुक है, राइट नैतिकता तथा धर्म के सम्बन्ध को उलट लिया करता था। उसके मतानुसार नैतिक मूल्यों का विकास धार्मिक विश्वासों से पूर्व हो चुका था और धार्मिक विश्वासों को मान्यता केवल इसलिए मिलती रही ; क्योंकि शुरू में उनका सम्बन्ध मानवीय दृष्टि से संतोषजनक नैतिक विचारों से हो चुका था। विज्ञान, नैतिकता तथा धर्म परस्पर सम्बन्धित हैं ; किन्तु ये विश्व में मानव-जीवन के स्वतंत्र पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

१८७२ में चार्ल्स डार्विन से मिलने के लिए राइट इंगलैंड गया था। वहाँ

से उसने अपने एक मित्र को पत्र लिखकर कतिपय समान दिलचस्पी के विषयों पर एक निबन्ध लिखने का इरादा प्रकट किया था। इस निबन्ध का शीर्षक उसने 'मानसिक प्राणि-विज्ञान' सोचा था। राइट का इरादा था कि मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की अन्तःचेतना का प्रकृति के प्रति जो सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध का जिस प्रकार विकास होता है, उसकी चर्चा इस निबन्ध में वह करेगा। यदि यह निबन्ध लिखा जाता, तो उसमें राइट अपनी दार्शनिक स्थिति का अंतिम रूप से स्पष्टीकरण करता, जैसा कि उपलब्ध पत्रों से पता चलता है। राइट इस निबन्ध में जॉन स्टुअर्ट मिल के उपयोगितावाद तथा डार्विनवाद की विकासवादी विचारधारा को मिलाकर उनका अपने दृष्टिकोण से सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करता। स्पष्ट है कि राइट अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में उस कठोर आलोचना का ध्यान अवश्य रखता, जो वह जीवन-भर करता रहा था। राइट के विभिन्न पत्रों से संकेत मिलता है कि उसकी स्थिति क्या होती। उसने अपने लेख 'आत्म-चेतना का विकास' ( The Evolution of Self-Consciousness ) में, जो १८७३ में लिखा गया था, इसकी पृष्ठभूमि तथा इसके विचारों का पूर्वाभास दिया है।

राइट ने अपने 'आत्म-चेतना के विकास' लेख में यह दावा उपस्थित किया है कि शारीरिक विकास की मान्यता को जब मानव-जाति पर लागू किया जाता है, तो अन्य किसी सिद्धान्त की अपेक्षा इसमें कम कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परन्तु, यह मानना कठिन है कि आत्म-चेतना प्राकृतिक सूत्रों से अथवा विकासवाद के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। विकासवाद के सिद्धान्त को ठीक तरह नहीं समझने का ही यह परिणाम हो सकता है। राइट का कहना है कि कोई वस्तु, जिस सूत्र में उत्पन्न होती है, उससे वह जाति अथवा कोटि की दृष्टि से अधिक भिन्न नहीं हो सकती। यह ठीक है कि मानव अपनी प्रारम्भिक अवस्था में जिस प्रकार व्यवहार करता था, उससे आत्म-चेतना का आभास उसमें नहीं मिलता था; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि तब वह थी ही नहीं। आत्म-चेतना शरीर की गुप्त शक्तियों के विकास का परिणाम हो सकती है। मानवेतर प्राणियों में मन के अस्तित्व के लक्षण मिलते हैं। पशु-पक्षियों के मन में विचार-शक्ति का विकास आत्म-चेतना का पूर्व रूप कहा जा सकता है। पशु-पक्षियों की मानसिक कार्रवाई को अनुभूति-जन्य कहा जा सकता है जबकि मनुष्य की मानसिक कार्रवाई में बुद्धि की प्रधानता रहती है। यह भेद ऊपर से बहुत बड़ा जान पड़ता है; किन्तु वस्तुतः यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

राइट की विचारधारा का सार संक्षेप में इस प्रकार निकाला जा सकता है—चेतना केवल मनुष्यों में ही नहीं होती ; बल्कि वह पशु-पक्षियों में भी प्रारंभिक रूप में पाई जाती है। मनुष्य चेतना का एक नवीन प्रयोग आत्मप्रेक्षण के द्वारा करता है। इस आत्मप्रेक्षण के द्वारा मनुष्य दृश्यजगत् की अधिक महत्वपूर्ण वस्तुओं को स्मृति-पटल पर उतार लेता है और वह विभिन्न घटनाओं तथा वस्तुओं के भेद का स्पष्टीकरण करता है। बाह्य वस्तुओं को इच्छा के द्वारा नियंत्रण में नहीं लाया जा सकता ; किन्तु वस्तुओं के प्रतीकों को लाया जा सकता है। उपस्थित विषय की दृष्टि से प्रतीकों से अधिक महत्व इस बात का है कि प्रतीकों की सहायता से मनुष्य वस्तुओं को स्मृति-पटल पर उतार सकता है। इस प्रकार आत्मप्रेक्षण की क्षमता मनुष्य में किसी नई शक्ति के ही उदय का प्रतिनिधित्व नहीं करती ; बल्कि वह पुरानी शक्ति का ही एक विकसित रूप है। चेतना में आत्मप्रेक्षण की सहायता से आत्म-चेतना का विकास होता है।

राइट ने भाषा के जन्म के सम्बन्ध में भी अपने विचार लिखे हैं। भाषा का जन्म होने से पूर्व मनुष्य—और पशु भी—तरह-तरह की आवाजें करते थे और शरीर के अंगों का स्वाभाविक रूप से संचालन करते थे। ये आवाजें तथा ये अंग-संचालन सदा किसी इरादे से ही नहीं होते थे। इन आवाजों से मनुष्य ने एक दूसरे के प्रति भाव प्रकट करने के लिए भाषा का आविष्कार किया। किसी विशेष आवाज अथवा संकेत का प्रयोग जानबूझ कर किसी भाव को प्रकट करने के लिए नहीं किया गया ; बल्कि शुरू में मनमाने ढंग से विशेष भाव को प्रकट करने के लिए विशेष शब्द चुन लिए गए। शुरू की अवस्था में भाषा का आविष्कार किसी उद्देश्य से नहीं हुआ। दूसरी अवस्था में शब्दों ने विशेष भावों के लिए रूढ़ि का रूप धारण कर लिया। इसके बाद किसी भी व्यक्ति के लिए शब्दों के विशेष अर्थों तथा भाषा के रूप में परिवर्तन करना असम्भव हो गया। राइट के शब्दों में भाषा प्राकृतिक नियम पर निर्भर हो गई।

यदि चांसी राइट अधिक जीवित रहता और वह बातचीत करने के स्थान पर अपना अधिक समय लिखने में लगाता, तो मानसिक प्राणि-विज्ञान-सम्बन्धी अपनी विचारधारा का क्रमिक विकास कर अमरीकी दर्शन को अपनी महत्वपूर्ण देन उपलब्ध कर सकता। हमें राइट की विचारधारा से इतना ही समझ लेना है कि १९वीं शताब्दी के अमरीका में सर्वातिशायी सिद्धान्त तथा ब्रह्मांड-दर्शन की काफी कटु आलोचना हुई। अपनी रक्षा के लिए उन्हें राइट के यथार्थवादी मानसिक प्राणि-विज्ञान जैसे दर्शनों से टक्कर लेनी पड़ी।

# वैज्ञानिक वस्तुवाद : फ्रांसिस एलिंगवुड एबट

विकासवादी आधार पर जो दार्शनिक विचारधाराएँ चलीं, उनमें विशेष मनोरंजक फ्रांसिस एलिंगवुड एबट का जटिल तथा सूक्ष्म वस्तुवाद था। इस बात को केवल हाल ही में मान्यता मिली है कि एबट ने १९वीं शताब्दी में ही २०वीं शताब्दी के अमरीकी दर्शन की कतिपय विशेषताओं की कल्पना कर ली थी। परन्तु, अपनी विचारधारा के अनुसार चलने के कारण एबट का बौद्धिक तथा पेशे-सम्बन्धी जीवन सुखद नहीं रहा। गोकि एबट निजी रूप से नम्र स्वभाव का था, फिर भी अमरीका के बौद्धिक जीवन में वह अनेक विवादों का केन्द्र-विन्दु बना रहा। एक तरफ उसे विद्वद्‌मंडली में मान्यता नहीं मिली और दूसरी तरफ विद्यालय के बाहर वह अनेक सैद्धान्तिक तथा निगूढ़ उलझनों को सुलझाने में व्यस्त रहा। १८६६ में जब एबट ३० वर्ष का था, उसे हार्वार्ड में अध्यापक का स्थान दिया जाने वाला था; किन्तु उग्र धार्मिक विचारों के कारण वह पद उसे नहीं मिल सका। १८८८ में उसकी नियुक्ति हार्वार्ड में ही १ वर्ष के लिए जोसिया रोइस ( देखिए अध्याय ६, खंड ३ ) के स्थान पर हुई। इस सब के परिणामस्वरूप एक ऐसी अप्रिय परिस्थिति उत्पन्न हो गई, जिसमें केवल एबट और रोइस ही नहीं; बल्कि विलियम जेम्स और चार्ल्स सेंडर्स पियर्स भी उलझ गए। खुली चिट्ठियों में आरोप-प्रत्यारोप लगाए गए। कुछ आरोपों को पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया और कुछ 'दि नेशन' पत्रिका में 'सम्पादक के नामपत्र' के कालम में प्रकाशित हुए। १८९३ में, अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद एबट ने प्रायः अवकाश-सा ग्रहण कर लिया और उसने १० वर्ष के भीतर अपनी दार्शनिक स्थिति की व्याख्या करते हुए एक ग्रन्थ तैयार किया, जो दो खंडों में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ के समाप्त होने पर उसने अपनी भूमिका में अपने जीवन के मुख्य उद्देश्यों पर प्रकाश डाला और फिर सन् १९०३ के अक्टूबर मास में एक दिन वह गिरजे के कब्रिस्तान में गया और अपनी पत्नी की समाधि के निकट ही अपनी आत्महत्या कर ली।

एवट को दार्शनिक विचारधारा का जन्म सर विलियम हैमिल्टन के, जो स्काटिश परम्परा का अंतिम प्रसिद्ध दार्शनिक था, सापेक्षता-सम्बन्धी नियम के प्रति उसके असंतोष से हुआ था। हैमिल्टन की मान्यता थी कि मनुष्य केवल सापेक्ष तथा ससीम का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। असीम, निरपेक्ष तथा शाश्वत का ज्ञान प्राप्त करना उसके लिए असम्भव है। ये दोनों परस्पर विरोधी सीमाओं पर हैं और एक दूसरे के निषेधक हैं। इनमें एक ससीमता की चरम अवस्था को प्रकट करता है, तो दूसरा असीमता की चरम अवस्था को। इस प्रकार मानव का ज्ञान तराजू के एक पलड़े को शून्य के निकट स्पष्ट करता है, जो अज्ञेय है, तो दूसरी तरफ दूसरा पलड़ा असीम की ओर झुकता है और वह भी अज्ञेय है। एवट ने स्नातक होने के बाद जब इसे पढ़ा, तो उसने इसका विरोध करने का निश्चय कर लिया। उसने लिखा है कि दिक् ( Space ) की असीमता ज्ञात है और चूंकि वह असीम है और असीम के अलावा और कुछ नहीं हो सकता ; इसलिए उसकी असीमता तथा निरपेक्षता ज्ञात है। दूसरे शब्दों में दिक् की असीमता ही उसके ज्ञान में सहायक होती है। एवट ने कहा कि ज्ञान के क्षेत्र में विषय ( यहां दिक् ) ही ज्ञाता को निश्चय करता है, ज्ञाता विषय को नहीं। अपना प्रथम लेख प्रकाशित होने से पूर्व ही, इस मान्यता के कारण एवट ने अपने समय के दार्शनिकों के मध्य प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। अपने बाद के जीवन में एवट ने अपनी इस मान्यता को अधिक स्पष्ट किया। इसे उसने दार्शनिक वस्तुनिष्ठता ( Philosophical Objectivism ) कहा।

एवट के प्रथम दो लेख १८६४ में 'नार्थ अमेरिकन रिव्यू' में प्रकाशित हुए। इनमें पहला था—'दिक् तथा समय का दर्शन' ( The Philosophy of Space and Time ) और दूसरा था—सापेक्ष तथा निरपेक्ष ( The Conditioned and the Unconditioned ) अपने इन लेखों में उसने हैमिल्टन की उपर्युक्त आलोचना को आगे बढ़ाकर हैमिल्टन के साथ कांट तथा स्पेन्सर के विचारों की सम्मिलित आलोचना का रूप दिया। इनमें से प्रथम लेख में एवट ने अपने वस्तुनिष्ठावाद ( Objectivism ) सिद्धान्त से दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का आधार निकाला। इनमें से पहला सिद्धान्त यह था कि ग्रहणशील प्रज्ञा सम्बन्धों को तुरन्त जान लेती है। दूसरा सिद्धान्त उसने यह बताया कि ये सम्बन्ध वस्तुनिष्ठ अथवा बाह्य होते हैं और उनकी जिम्मेदारी मन पर नहीं रहती। एवट कहता है—"यदि हम वस्तुओं के बाह्य सम्बन्धों को जानें, तो उन सम्बन्धों का बोध हमें हो जाता है।" इन प्रारम्भिक लेखों

में एवट ने अपने विचारों को रचनात्मक रूप तो नहीं प्रदान किया, किन्तु उसने यह संकेत अवश्य किया कि द्रव्य, गति, दिक् अथवा समय को विचारक के मन में विचारों का रूप देने और उनकी वस्तुनिष्ठता की उपेक्षा करने की मान्यता को स्वीकार करने के लिए वह तैयार नहीं है। साथ ही वह सम्बन्धों की वस्तुनिष्ठता विषयक अपने विचार के परिणाम का मूल्यांकन करने लगा। बाद में एवट ने दावा उपस्थित किया कि १८६४ में ही उसने सत्ता के ३ भेद किए—वस्तुओं की सत्ता, सम्बन्धों की सत्ता तथा परिस्थितियों की सत्ता। साथ ही उसने ज्ञान के तीन भेद किए—सत्ता रखने वाली वस्तुओं का इन्द्रियजन्य ज्ञान, सत्ता रखने वाले सम्बन्धों का बौद्धिक ज्ञान तथा सत्ता रखने वाली परिस्थितियों का युक्तियुक्त बोध। एवट ने कहा कि उसकी सम्पूर्ण दार्शनिक स्थिति निरपेक्ष तर्क के सिद्धान्त के आधार पर किए गए इन तीन भेदों पर निर्भर है। इसी के आधार पर उसकी वस्तुनिष्ठता तथा यथार्थतावाद आधारित है।

एवट ने इस परिणाम पर पहुँचने के लिए हीगेल की तर्कप्रणाली का उपयोग किया है। उसने हीगेल द्वारा निकाले गए परिणामों से बार-बार अपना मतभेद प्रकट किया है; किन्तु फिर भी वह हीगेल की त्रिसूत्री तर्कप्रणाली से अलग नहीं हो सका है। सच तो यह है कि रोइस द्वारा एवट का यह मूल्यांकन गलत नहीं था कि, एवट ने हीगेल के दर्शन को अपनाकर उसमें कुछ तीव्रता भर दी है; किन्तु उसने कहा कि हीगेल के प्रति अपने ऋण को एवट ने स्वीकार नहीं किया है। दूसरी तरफ रोइस की आलोचना के समान एवट की अपनी मान्यता भी कम न्यायोचित नहीं थी। निस्सन्देह एबट की भाषा तथा तर्कशैली हीगेल से अनुप्राणित थी; किन्तु इस भाषा तथा तर्कशैली का परिणाम एबट ने हीगेल से भिन्न निकाला। त्रिसूत्रीय तर्कप्रणाली का सम्बन्ध विकासवाद से बताते हुए एवट ने जो कुछ कहा, उससे एवट की हीगेल पर निर्भरता अथवा स्वतंत्रता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसने एक आधारभूत उक्ति यह की कि जिस किसी का भी विकास हुआ है, उसकी सत्ता पहले वर्तमान थी। विकासवादी सिद्धान्त को स्पेन्सर ने जो दिशा प्रदान की, उसमें इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया था। स्पेन्सर विकासवाद को एक यांत्रिक प्रक्रिया मानता था।

एवट यांत्रिक विकासवाद को अर्द्धसत्य तथा "असत्य से अधिक खतरनाक" मानता था। १८६८ में ही स्पेन्सर के जीव-विज्ञान के सिद्धांत ( Principles of Biology ) की आलोचना करते हुए एवट ने लिखा कि यदि विकासवाद का सिद्धान्त जीवन में स्वाभाविक रूप से निहित होता, तो विकासवाद के

सिद्धान्त से एकमात्र परिवर्तन यही होता कि सृष्टिवाद के अनेक चमत्कारों से आस्था हटा कर हमें इस एक ही चमत्कार में आस्था जमानी पड़ती। स्पेन्सर के यंत्रवाद के लिए यह मान्यता आवश्यक थी कि जिसका विकास होने वाला है, वह विकास की प्रेरक शक्ति से अलग है। एबट ने स्पेन्सर से अपने मतभेद को अधिक स्पष्टता से प्रकट करने के लिए 'मार्मिकता' ( Vitalism ) की कल्पना की, जिसे विकास करने वाली वस्तु की प्रेरक शक्ति कहा जा सकता है। परन्तु, इस कल्पना का परिणाम भी हमें ऐन्द्रिक विकासवाद ( Organic Philosophy of Evolution) की ओर ले जाना ही होता। विकास तथा विकास की प्रेरक सत्ता दोनों पृथक् हैं; किन्तु एबट के ऐन्द्रिक विकासवाद की सत्ता को एक बार स्वीकार कर लेने पर यह प्रकट हो जाता है कि ऐन्द्रिक विकासवाद तथा विकास की प्रेरक सत्ता में बहुत कुछ समानता है। इस प्रकार हम अनिवार्य रूप से उस दार्शनिक मान्यता की ओर बढ़ते हैं, जहां विकासवाद तथा विकास की प्रेरक सत्ता का भेद मिट जाता है।

परम्परागत तर्क-शास्त्र की त्रिसूत्री तर्कप्रणाली इस प्रकार है :—

( १ ) किसी वर्ग के विषय में एक वक्तव्य दिया जाता है, ( २ ) इसके बाद बताया जाता है कि कोई वस्तु विशेष या अपेक्षाकृत छोटा वर्ग उस वर्ग का सदस्य है। ( ३ ) इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि जो बात अधिक बड़े वर्ग के लिए सच है, वह उस वर्ग के अन्तर्गत छोटे वर्ग या उसके किसी सदस्य के लिए भी सच है; परन्तु एबट ने त्रिसूत्री तर्कप्रणाली द्वारा निष्कर्ष पर पहुंचने की प्रक्रिया की व्याख्या विकासवाद और विकास प्रेरित करनेवाली शक्ति के भेद में सादृश्य खोज निकालने के रूप में की।

एबट का विश्वास था कि जीव कर्म के द्वारा ज्ञान और आत्मसिद्धि प्राप्त करता है। विचारों की दुनिया में आखिर कर्म ( Doing ) का क्या तात्पर्य है? एबट ने इस शब्द के अंतर्गत सम्पूर्ण नैतिक आचरण के क्षेत्र का समावेश कर लिया था। उसके विचार में यही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इस धर्म का पालन करने वाले को नैतिक व्यवस्था का अनुसरण करना चाहिए। मनुष्य इस धर्म पर इसलिए चलेगा, क्योंकि उसका नैतिक व्यक्तित्व इसके लिए उसे निर्देश देता है।

एबट की पुस्तक 'दि सिलोजिस्टिक फिलोसफी' का अधिकांश जीव की आत्म-सिद्धि प्राप्त करने ( कर्म के द्वारा ) से सम्बन्ध रखता है और उसका उद्देश्य नैतिक पक्ष को आगे बढ़ाना है। इसे एबट 'सर्वश्रेष्ठ धर्म' अथवा 'वैज्ञानिक आस्तिकवाद' कहता है। सच तो यह है कि एबट की विचारधारा का यही

लक्ष्य था। उसका विश्वास था कि उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म ही संसार को साम्राज्यवाद, सैन्यवाद, व्यापारवाद तथा बर्बरता से छुटकारा दिला सकता है, जो उसके मत में लगातार बढ़ते जा रहे हैं। एबट ने एक स्थल पर बताया कि युवावस्था में उसकी आकांक्षा स्वतंत्रता की घोषणा का दार्शनिक औचित्य प्रकट करना था। उसकी यह भी कामना थी कि वह अमरीकी संविधान में निहित सिद्धांतों का औचित्य संसार के आगे प्रकट करेगा। उसे इस बात का भी अभिमान था कि अमरीकी नागरिक संविधान के निर्देशों का कितनी सचाई से पालन करते हैं और स्वतंत्रता की घोषणा में निर्दिष्ट सिद्धान्तों का कितना अनुसरण करते हैं। परन्तु, यह सब करने की उसकी आशा, बाद की घटनाओं से धूल में मिल गई। १९वीं शताब्दी की घटनाओं से उसकी आँखें खुल गईं, विशेषकर स्पेनिश अमरीकी युद्ध के बीच तथा बाद में अनुसरण की गई राष्ट्रीय नीतियों से उसे बड़ा क्षोभ हुआ। एबट ने कहा कि इस पाप का प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से ही मैं संसार को अपनी अंतिम कृति भेंट किए जा रहा हूं। साथ ही उसने आशा प्रकट की कि शायद इसकी प्रेरणा से "मेरे देश का सुधार हो और वह अधिक उत्तम कार्यों की ओर प्रेरित हो।" एबट के लिए राष्ट्रीय अनैतिकता वैयक्तिक अनैतिकता की ही तरह महत्त्वपूर्ण थी। उसके दार्शनिक प्रयास का चरम लक्ष्य कर्मपथ की महिमा गाना था।

एबट के विचार में दर्शन ज्ञान की खोज है। परन्तु, विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति का प्रयास किया जाता है। प्राचीन दार्शनिक आत्मा अथवा चेतन सत्ता की खोज के लिए प्रयत्नशील रहते थे। एबट के अनुसार, आधुनिक दार्शनिकों का लक्ष्य ज्ञान की खोज होनी चाहिए। उसने कहा कि वह ऐसे ज्ञान की खोज अपने प्रयास का लक्ष्य मानता है, जिसमें चेतना तथा विचार दोनों का समन्वय हो। एबट के मत में दर्शन-शास्त्र ज्ञान का सागर है और वह केन्द्रीभूत तथा सार्वभौमिक है। सत्य के सम्बन्ध में जिन भी विशेषताओं का पता चला है, उनका समावेश उसमें रहना चाहिए। ज्ञान का विकास निरंतर होता रहता है और इसलिए उसमें नव-अन्वेषित सत्यों का निरंतर समावेश होते रहना चाहिए। इस प्रकार दर्शन का जीव-विज्ञान की तरह निरंतर विकासशील होना आवश्यक है।

ऐतिहासिक दृष्टि से दर्शन ने प्रमाणित घोषणाओं की एक शृंखला का रूप धारण कर लिया है। अधिकांश दर्शनों में इन घोषणाओं को जीवन के दूसरे क्षेत्रों से लिया गया है। ये घोषणाएं भौतिक, धार्मिक, जीव-विज्ञान-सम्बन्धी होती हैं

और इनके आधार पर दर्शन का श्रीगणेश किया जाता है। ये घोषणाएँ दार्शनिक क्षेत्रों के बाहर की होती हैं, जिन्हें दार्शनिक दृष्टि से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। एबट ने कहा कि हमें ऐसी घोषणा अथवा मान्यता रखनी चाहिए, जिसे दार्शनिक दृष्टि से निर्दोष कहा जा सके। किसी भी दर्शन का प्रथम सिद्धांत एक आवश्यक सत्य होना चाहिए, जिसका क्षेत्र सार्वभौमिक हो और जो बहिर्-जगत् की मान्यताओं की दृष्टि से भी प्रमाणित हो। यह सिद्धांत मन की किसी भावना पर अथवा किसी दूसरे सत्य पर आधारित नहीं होना चाहिए। दूसरे शब्दों में बौद्धिक मान्यताओं की दृष्टि से भी उसका आदि स्थान होना चाहिए। यदि वह बौद्धिक दृष्टि से प्रथम नहीं है, तो इसका मतलब यह हुआ कि वह किसी अन्य मान्यता पर आधारित है। साथ ही इस आदि मान्यता को एक दावे के रूप में उपस्थित न कर, उसका बौद्धिक प्रमाणीकरण होना चाहिए। दूसरी तरफ यदि बौद्धिक दृष्टि से उसका प्रमाणीकरण हो सकता है, तो उसे आदि मान्यता नहीं कहा जा सकता और जिस मान्यता की सहायता से उसका औचित्य बता गया, वही आदि मान्यता कही जायगी। इस प्रकार, हम एक कुचक्र में फँस जाते हैं।

एबट ने इस कुचक्र से यह रास्ता निकाला कि प्रमाणित घोषणा तथा उसका आधार अथवा सादृश्य तदात्मक ( Identical ) होने चाहिए । यदि दर्शन को पूर्व मान्यता से रहित होना है और दर्शन का दार्शनिक प्रारम्भ होना है, तो ऐसा स्व-आधारित घोषणा अथवा मान्यता से ही हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि घोषणा में जिस बात का दावा किया गया है, वह तथा इस दावे का बौद्धिक प्रमाणीकरण और आधार तदात्मक होने चाहिए। इस प्रकार वह घोषणा ही अपने आधार को पुष्ट करेगी। उस हालत में मान्यताहीन प्रारम्भ एक विशुद्ध तथा स्वयंसिद्ध सत्य होगा। स्वतंत्रता की घोषणा के सिद्धान्तों को तात्कालिक दार्शनिकों ने स्वयंसिद्ध कहा था, अर्थात् उन सिद्धान्तों को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ; क्योंकि घोषणा करने वाले तथा सुननेवाले दोनों ही उनकी निश्चितता में विश्वास करते हैं। एबट ने कहा कि वैसे तो यह विचारधारा दोषहीन है ; किन्तु इसमें गलती केवल इतनी है कि निश्चितता के मूल्यांकन की कसौटी आत्मनिष्ठ रखी गई है। एबट का कहना था कि इस प्रकार की घोषणाओं के भीतर ही उनका प्रमाण निहित है। उसने यह भी दावा पेश किया कि यह घोषणा अथवा मान्यता एक ही है और दर्शन का प्रारम्भ इसी स्थान से होता है—मानव ज्ञान विद्यमान है। यदि इस उक्ति की मान्यता पर विचार किया जाय, तो यह अनुभववादी उक्ति हुई और यदि इसे आधार माना जाय, तो यह एक बौद्धिक निर्णय हुआ।

उपर्युक्त उक्ति वास्तव में वस्तुनिष्ठ तथा आत्मनिष्ठ दोनों ही है। यह भेद में तदात्मकता अथवा सादृश्य का उत्तम उदाहरण है। हम देख चुके हैं कि इसमें मान्यता तथा आधार, आत्मनिष्ठता तथा वस्तुनिष्ठता, अनुभव तथा बुद्धि, व्यक्तित्व तथा सार्वभौमिकता और वास्तविकता तथा आवश्यकता का सम्मिलन कर दिया गया है। चूँकि विरोधी तत्त्वों को इसमें अभिन्न रूप में मिला दिया गया है और इस मान्यता को भी रद्द नहीं किया गया है कि "मानव ज्ञान विद्यमान है" इसलिए एबट ने इसे एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण मान्यता का और अपने समस्त दर्शन को ही इस मान्यता का आधार बनाया। यह एक ऐसी दार्शनिक स्थिति थी, जिसके द्वारा ईश्वर को जानने की मानव की असमर्थता से छुटकारा पाने का प्रयास किया गया। इस मान्यता को आगे बढ़ा कर एबट ने बौद्धिक संशयवादियों को चुनौती दे डाली। एबट के 'वैज्ञानिक वस्तुवाद' को हरबर्ट स्पेन्सर के ईश्वर को अज्ञेय मानने के दृष्टिकोण से, जिसका जन्म विकासवाद से हुआ, कोई सहानुभूति नहीं थी।

तत्त्व-मीमांसा के अंतर्गत अध्यात्मवादी विचारधारा के अनुसार बुद्धि तथा अनुभव को एक दूसरे से पृथक् कर दिया गया है। एबट ने इनकी अभिन्नता पर बल देकर वस्तुवादी दर्शन के लिए पुष्ट आधार प्रस्तुत कर दिया। एबट ने अपने तर्क को आगे बढ़ाते हुए यह भी कहा कि अनुभव तथा बुद्धि को मिलाने से हम ज्ञाता में अस्तित्व तथा ज्ञान के मिलन तथा उनकी अभिन्नता की तरफ अग्रसर होते हैं।

एबट ने दर्शन के इस परम्परागत भेद को स्वीकार किया कि अनुभव से हम केवल विशिष्ट का ज्ञान प्राप्त करते हैं, जबकि बुद्धि हमें सार्वभौम अथवा सामान्य का ज्ञान कराती है। जैसा कि हम बता चुके हैं, एबट सम्बन्धों की वस्तुनिष्ठता पर बल देने वाले सबसे प्रथम दार्शनिकों में एबट था। इसीलिए विशेष से सामान्य के सम्बन्धों पर विचार करते हुए इन सम्बन्धों को मानसिक मानने को वह तैयार नहीं है। विशिष्ट का वास्तविक तथा बाह्य अस्तित्व है और सामान्य अथवा सार्वभौम का भी वास्तविक तथा बाह्य अस्तित्व है और इसलिए उनके मध्य का सम्बन्ध भी बाह्य (वस्तुनिष्ठ) तथा वास्तविक है। कोई वस्तु अपनी जाति की अन्य वस्तुओं तथा अपनी जाति से सम्बन्ध रखती है। इन से सम्बन्ध नहीं रखने का परिणाम यही हो सकता है कि उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा। यदि हम यह सिद्ध कर सकें कि प्रत्येक वस्तु और वस्तुओं की प्रत्येक जाति के विशेष तथा सामान्य दोनों ही प्रकार के सम्बन्ध हैं—अर्थात् विशेष तथा सामान्य की

विद्यमानता में तदात्मक भेद हैं—तो हमें ज्ञान में अनुभव तथा बुद्धि के तदात्मक भेद को बनाए रखने का संतोषजनक आधार मिल जाता है। अनुभव तथा बुद्धि के बीच की खाई को पाट कर हम अनुभव और बुद्धि की विकल्पता से छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं। अनुभव के बिना बुद्धि को एबट अध्यात्मवाद कहता है और बुद्धि के बिना अनुभव को वह जड़वाद कहता है। इन दोनों के मिलन से बौद्धिक अनुभववाद ( Rational Empiricism ) का जन्म होता है। एबट ने अपने इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक वस्तुवाद ( Scientific Realism ) कहा है।

एबट का विश्वास था कि डार्विन का दार्शनिक महत्त्व उपर्युक्त मान्यता में निहित है। दार्शनिकों ने अरस्तू का अनुसरण कर विशेष को सामान्य का परिवर्तन-शील प्रतिनिधि माना था ; परन्तु जबकि विशेष मानवीय अनुभव से ज्ञात थे, वहाँ वे मानव ज्ञान से अज्ञात थे। इसी प्रकार सामान्य मानव बुद्धि द्वारा तो ज्ञात थे, यहाँ वे मानव अनुभव से अज्ञात थे। दर्शन की एक प्रणाली विशेष की यथार्थता को मानती थी और उसे सामान्य का ज्ञान प्राप्त करने में कठिनाई होती थी, तो दूसरी प्रणाली में सामान्य को यथार्थता का लाभ दिया गया था और वह विशेष का स्पष्टीकरण करने में असमर्थ थी। डार्विन ने विशेष के भेदों को आकस्मिक नहीं, बल्कि आवश्यक भेद माना और साथ ही डार्विन के विकासवाद ने जाति अथवा सामान्य के स्थाई गुणों की मान्यता को भी समाप्त कर दिया।

एबट के दर्शन पर डार्विन के प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि विद्यमानता तथा ज्ञातव्यता अनिवार्य रूप से एक और समान हैं और अज्ञातव्य अविद्यमान है। एबट की दार्शनिक विचारधारा की चर्चा को अधिक आगे बढ़ाए बिना अब यही कहा जा सकता है कि किसी विशिष्ट दार्शनिक प्रणाली से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित किए बिना ही एबट ने ज्ञान के वस्तुवाद तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त का युक्तियुक्त ढंग से प्रतिपादन किया। उसने सराहनीय निरपेक्षता से कांट की विचारधारा से उत्पन्न जर्मनी, इंगलैंड तथा अमरीका के आत्मनिष्ठ अध्यात्मवाद ( Subjective Idealism ) तथा इंगलैंड और अमरीका में प्रचलित लॉक, बर्कले तथा ह्यूम के आत्मनिष्ठ अनुभववाद ( Subjective Empiricism ) की आलोचना की। एबट के वैज्ञानिक वस्तुवाद की सबसे बड़ी विशेषता उसका वस्तुनिष्ठ होना था। एबट ने अपनी दार्शनिक विचारधारा को प्रतिपादित करने के लिए तर्क की त्रिसूत्री प्रणाली से भी सहायता ली थी।

जॉन फिस्क, चांसी राइट और फांसिस एलिंगवुड एबट ने एक ही वैज्ञानिक

मान्यता से, जो तीन विभिन्न दिशाओं में ले जाने वाली दार्शनिक विचारधाराओं का विकास किया, उससे बड़ा विरोधाभास शायद ही कहीं मिल सकता है। डार्विन के विकासवादी सिद्धांत से प्रत्येक ने प्रेरणा ग्रहण की और एक-एक पृथक् दार्शनिक दृष्टिकोण का विकास किया। इस मान्यता से कि जीव-विज्ञान की जातियों का विकास होता है, फिस्क ने यह परिणाम निकाला कि मनुष्य के नैतिक तथा सामाजिक जीवन का समानान्तर रूप से विकास होता है। राइट के लिए ऐसी व्यापक मान्यता पर पहुँचना कठिन था और उसने विकासवादी सिद्धांत से यह परिणाम निकाला कि मनुष्य की आत्मचेतना का स्रोत अलौकिक नहीं; बल्कि प्राकृतिक है और उसका विकास जीव-विज्ञान के विकास के ढंग पर हुआ है। एबट ने, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, डार्विन के प्रभाव से प्रेरित होकर एक ऐसे नए सिद्धांत का विकास किया, जिससे वह अपने दर्शन का निर्माण वस्तुवादी आधार पर कर सका और इस तरह अपने समय के प्रचलित अध्यात्मवादी तथा जड़वादी सिद्धांतों को चुनौती दे सका। ब्रह्मांडीय आस्तिकवाद, विकासवादी प्रकृतिवाद तथा वैज्ञानिक वस्तुवाद के इन तीनों प्रतिपादकों ने विकासवादी विचारधारा की व्याख्या अपने ढंग से अपने समय में की। एक प्रकार से इनकी विचारधाराएँ परस्पर विरोधी प्रतीत होती हुई भी विकासवादी क्षेत्र की ही अंग थीं। इनमें वैज्ञानिकों द्वारा प्रकट किए गए तथ्यों के प्रकाश में दर्शन को आगे बढ़ाने की चेष्टा की गई थी। इनमें दर्शन के प्रकृतीकरण और जीव-वैज्ञानीकरण का प्रयास किया गया था।

# ६

# अध्यात्मवाद के विभिन्न रूप

# अध्यात्मवाद की समस्याएँ तथा उसका क्षेत्र

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक किसी भी पश्चिमी दार्शनिक के लिए बाह्य संसार-संबंधी मनुष्य के ज्ञान की चर्चा उठाना असम्भव हो गया था। आधुनिक विचारधारा के प्रारंभिक काल में ही मन और द्रव्य दो व्यापक रूप से स्वीकृत वर्गों के अंक हो गए थे। इनमें से एक को मोटे तौर पर चिन्तन-तत्त्व, मन, आत्मा या चेतना और दूसरे को विस्तारित तत्त्व, द्रव्य अथवा जड़-तत्त्व कहा गया। अपने समय में इस प्रकार का वर्गीकरण विशेष महत्त्व का चाहे रहा हो; किन्तु शीघ्र ही यह प्रकट हुआ कि इस वर्गीकरण के परिणामस्वरूप ज्ञान की समस्या, जो आधुनिक दर्शन की एक प्रमुख समस्या है, एक बड़े प्रश्नवाचक चिह्न के रूप में हमारे आगे उपस्थित हो गई। यदि चिन्तन-तत्त्व और विस्तारित-तत्त्व भिन्न कोटियों के हैं, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि चिन्तन-तत्त्व अर्थात् मन किस तरह विस्तारित-तत्त्व अर्थात् जड़ पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मन और जड़ पदार्थ, चेतना और बाह्य जगत् की द्वैधता को कहने के लिए स्वीकार कर लिया गया। समस्या का समाधान करने के लिए कहा गया कि चेतना की प्रकृति बाह्य जगत् को जानना है और बाह्य जगत् की प्रकृति चेतना द्वारा ज्ञात होना है; परन्तु इस सरल उक्ति से समस्या का समाधान नहीं निकला। इससे समस्या जहाँ-की-तहाँ रह गई; किन्तु इससे एक ऐसा आधार मिला, जिसकी सहायता से उसके समाधान का रास्ता निकाला जा सकता था।

अन्य समाधानों ने मन—द्रव्य की मूल द्वैधता को भंग करने के लिए उसे घटाने का प्रयास किया। इन विचारकों ने यह ढोंग करने का भी प्रयास किया कि जिसे हम मन कहते हैं, वह वास्तव में मन नहीं और जिसे हम द्रव्य कहते हैं, वह वास्तव में द्रव्य नहीं है। इसी तरह उन्होंने ज्ञान की समस्या पर द्वैधता के पड़ने वाले प्रभाव से बचने की चेष्टा की। उन्होंने कहा कि जहाँ तक मन का संबंध

हैं, वह किसी-न-किसी प्रकार की जड़ात्मक कार्रवाई है और इस प्रकार उन्होंने मन को जड़ पदार्थ का रूप दे दिया। जहाँ तक द्रव्य अथवा जड़-तत्त्व का सम्बन्ध है, यह वास्तव में हमारी चेतना अथवा मानसिक अवस्था ही है और इस प्रकार जड़-तत्त्व को मानसिक अवस्था में परिणत कर दिया गया। यह मानसिक विकल्प ही दर्शन के इतिहास में अध्यात्मवाद या चेतनावाद कहलाता है। यह विचारधारा बहुत ही प्रभावपूर्ण रही है और व्यापक क्षेत्र में इसका आदर हुआ है। यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि इस प्रकार का अध्यात्मवाद अथवा प्रत्ययवाद इस बात से इनकार नहीं करता कि जिस संसार का अनुभव हमें है, वह वास्तव में विद्यमान नहीं है ; किन्तु इसकी मान्यता केवल इतनी ही है कि ऐसी प्रत्येक वस्तु, जिसका वास्तविक अस्तित्व है, केवल हमारे मन में है। मानसवाद विश्व के जड़वादी होने से इंनकार करता है ; किन्तु उसके अस्तित्व से इनकार नहीं करता। यह वस्तुतः ज्ञान की समस्या का समाधान निकालने का एक प्रयास-मात्र है, जगत् के अस्तित्व-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास नहीं है।

दर्शन के इतिहास में मानसवाद से प्राचीन अन्य प्रकार के अध्यात्मवाद भी रहे हैं, जिन्होंने तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में अस्तित्व-संबंधी प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। अध्यात्मवाद ने दार्शनिक विचारधारा के बीच अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। अध्यात्मवाद के इस महत्त्व का कारण आंशिक रूप से यह रहा है कि दृश्यजगत् के संबंध में उसने धार्मिक क्षेत्र की मान्यता को अपनाया। अधिकांश देशों में विश्व के संबंध में वैज्ञानिक मान्यताओं का आविर्भाव हाल ही में हुआ है और इसीलिए विज्ञान द्वारा समर्थित प्राकृतिक दर्शन को संसार के अधिकांश भाग में बहुत कम मान्यता मिल सकी है। इसके अलावा तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में अध्यात्मवाद के अनेक भेद रहे हैं और उनकी उपेक्षा करना संभव नहीं है ; फिर भी सभी प्रकार के अध्यात्मवादियों में इस विश्वास की समानता अवश्य है कि मनुष्य अपने जीवन में जो कुछ अनुभव करते हैं, जिन संवेदनों का विभ्रम उन्हें होता है तथा जिन परिवर्तनों एवं अस्थिरताओं से वे गुजरते हैं—वे सब उनके वास्तविक अस्तित्व के अंग नहीं हैं, वे यथार्थता नहीं हैं। वे केवल आभास-मात्र हैं, यथार्थता के केवल प्रतिबिम्ब हैं। यथार्थता का ज्ञान अनुभव के द्वारा होना असम्भव है। यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन हमारा मन है, जो मनुष्य का आध्यात्मिक अंग है। यह तथ्य इसलिए और भी विश्वसनीय है, क्योंकि यथार्थता अथवा वास्तविकता का मूल स्वरूप आध्यात्मिक है। वास्तविक विश्व बौद्धिक है। इसकी प्रकृति सुव्यवस्थित, स्थिर तथा स्थाई है। अन्ततः

वास्तविक विश्व में अस्तित्व ( अर्थात् सत्य ) और मूल्य एक हैं। एक अध्यात्मवादी विचारक के लिए वास्तविकता पूर्णतः सुग्राह्य तथा मूल्यवान है। वास्तविकता मानवीय प्रणाली के अर्थों तथा मूल्यों से अनुप्रेरित है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि अध्यात्मवाद का आकर्षण इसलिए रहा है कि उसके मध्य मनुष्य को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। राल्फ वाल्डो इमर्सन ने मत प्रकट किया है कि साधारण दृष्टि से वस्तुओं की, इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा जो वास्तविकता प्रकट होती है, उसकी तुलना में अध्यात्मवाद को यह लाभ मिला हुआ है कि उसमें संसार को मन के अनुकूल स्थान दिया गया है।

यद्यपि अमरीका में सर्वातिशायी सिद्धान्त को मानने वालों को जर्मन दार्शनिक कांट, फिशे, शेलिंग और हीगेल के प्रभावशाली विचारों की जानकारी थी। फिर भी इन महान् दार्शनिकों का क्रमबद्ध अध्ययन शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बाद ही आरम्भ हुआ था। जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया और अमरीकी विद्यालयों में जर्मन विचारधारा की पिपासा बढ़ती गई, वैसे-वैसे अमरीकी विद्यार्थियों के शिक्षा समाप्त करने के पूर्व जर्मनी में एक या दो वर्ष बिताने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। १८२० में अमरीका से कुछ विद्यार्थी गए थे और १८५० तक उनकी संख्या काफी बढ़ गई थी। शताब्दी के अंत तक अमरीका में दर्शन का ऐसा अध्यापक खोजना कठिन था, जो कुछ समय तक जर्मनी में नहीं पढ़ चुका था। उस अवस्था में अमरीकी दार्शनिकों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे अपने देश में लौटकर उस पुरानी दार्शनिक विचारधारा का परिचय अपने विद्यार्थियों को कराएंगे, जिस पर वे स्वयं आश्रित नहीं थे। उन्होंने एक अध्यात्मवादी दर्शन का प्रतिपादन आरम्भ कर दिया, जिसका उद्देश्य पुराने धर्मशास्त्र का समर्थन करने के स्थान पर आध्यात्मिक विचारधारा को प्रेरित करना अधिक था। इसके अलावा जर्मन विचारधारा में दिलचस्पी का एक और भी स्रोत था, जिसे शताब्दी के मध्य के बाद अनुभव किया गया। जान बर्नार्ड स्टेलो ने, जो काफी पहले अमरीका में बसने के लिए आया था, रोमान्टिक शैली के जर्मन प्रकृतिवाद को लोकप्रिय बनाना आरम्भ कर दिया। १८४८ की क्रान्ति के बाद उदार विचारधारा से अनुप्रेरित कितने ही जर्मन विचारक मातृभूमि को छोड़कर अमरीका में बस गए। इन सुशिक्षित व्यक्तियों ने जहाँ एक तरफ अमरीका के अनेक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, वहाँ दूसरी तरफ वे अपनी मातृभूमि से दार्शनिक विचारधारा की परम्परा भी वहाँ लाए। नए जर्मन प्रवासी जर्मन-अमरीकी बौद्धिक सहयोग की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थे।

ऐसे समय जब कि जर्मनी की अध्यात्मवादी विचारधारा का प्रभाव अमरीकी विद्यालयों पर पड़ने लगा था, उसी समय सेंट लुई में अध्यात्मवाद के विद्यार्थी विद्यालयों के बाहर भी दिखाई देने लगे। एक जर्मन प्रवासी हेनरी ब्रोकमेयर की प्रेरणा से नगर के कुछ वकील, अध्यापक तथा अन्य पेशों के लोग एक स्थान पर होगेल के अध्ययन के लिए एकत्र हुए। इन लोगों के बीच विलियम टोरी हैरिस, डेंटन, जे० स्निडर टामस डेविड्सन तथा जार्ज होम्स होवीसन जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति भी थे। हैरिस बाद में अमरीका का शिक्षा आयुक्त हुआ। स्निडर ने साहित्य पर दार्शनिक दृष्टिकोण से जो विचार प्रकट किए, उनमें व्यापक रूप में दिलचस्पी उत्पन्न हुई। डेविड्सन अनेक वर्ष तक प्राचीन भाषाओं का अध्यापक सेंट लुई के स्कूलों में रहा। होवीसन अनेक वर्ष तक केलिफोर्निया विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहा। कुछ समय तक इन लोगों का विचार-विनिमय चलने के बाद निश्चय किया गया कि ब्रोकमेयर होगेल की कृतियों का अनुवाद करे। इस निश्चय के बाद इन लोगों ने अमरीका में होगेल के विचारों का प्रचार अपना उद्देश्य बनाया। इन लोगों ने २० वर्ष तक एक दार्शनिक पत्रिका 'दि जर्नल ऑफ् स्पेकुलेटिव फिलासफी' का प्रकाशन किया, जो अमरीका की प्रथम दार्शनिक पत्रिका थी। हैरिस का एक लेख 'एटलांटिक मंथली' में चांसी राइट के कहने पर प्रकाशित नहीं हो सका। सेंट लुई के दार्शनिकों ने समझा कि न्यू इंगलैंड में पश्चिमी प्रदेशों की दार्शनिक प्रगति के प्रति जो उपेक्षा भाव रहा, यह उसी का परिणाम है। इसलिए, अपने विचारों की अभिव्यक्ति का साधन उपलब्ध करने तथा 'पूर्वी लोगों' को शिक्षा देने के उद्देश्य से पत्रिका निकाली गई। पत्रिका में अनेक मौलिक रचनाएँ, जर्मन कृतियों के अनुवाद के साथ प्रकाशित होती रहीं। पत्रिका में ललित कलाओं के लिए जो स्थान दिया जाता था, उसकी कुछ आलोचना हुई; किन्तु कुल मिलाकर पत्रिका एक साहसिक (किन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से असफल) प्रयास सिद्ध हुई।

एक बार ब्रोन्सन आल्कट व्याख्यान देता हुआ कुछ समय के लिए सेंट लुई में ठहर गया। आल्कट की ख्याति काफी फैल चुकी थी, क्योंकि सर्वातिशायी दार्शनिक के रूप में विचारों की अस्पष्टता को उसकी विद्वत्ता माना जाने लगा था। यहाँ सेंट लुई के हीगेलवादियों से उसकी मुठभेड़ हुई। आल्कट ने लुभावने स्वर में कुछ अस्पष्ट बातें कह दीं; किन्तु सेंट लुई के लोग अस्पष्ट बातों से घबराते नहीं थे और इसलिए उन्होंने उसके तर्कों को काटने का प्रयास किया। आल्कट सेंट लुई के दार्शनिकों को सर्वातिशायी बनाने की आशा लेकर आया था; किन्तु वह यहाँ से हीगलवाद का संदेश 'पूर्व के लोगों' के लिए लेकर गया। विचारों

के आदान-प्रदान को प्रोत्साहन प्रदान करने के उद्देश्य से आल्कट ने 'कांकर्ड समर स्कूल ऑफ फिलासफी' कायम की, जिसमें न्यू इंगलैंड तथा पश्चिमी प्रदेशों के व्याख्याताओं को आमंत्रित किया जाता था। पश्चिमी व्याख्यानदाताओं में जैक्सनविले के डॉ० हिराम के० जोन्स थे, जो प्लेटो के अध्ययन के लिए संघटित अपनी नगर की मंडली के अध्यक्ष थे। यद्यपि इस मंडली को अमरीका में अध्यात्मवाद की उन्नति के लिए प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार तो नहीं माना जा सकता, फिर भी उसकी देन की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार की मंडली की स्थापना से प्रकट है कि अमरीकी जनता में शुरू से ही दर्शन के प्रति कितना झुकाव रहा है। जोन्स तथा हैरिस दोनों के इस गोष्ठी में भाग लेने से प्रकट हो गया कि प्लेटोवाद तथा हीगेलवाद में क्या अन्तर है।

यद्यपि टामस डेविड्सन ने कुछ समय के लिए सेंट लुई की मंडली में भाग लिया था, फिर भी वह हीगेल की विचारधारा से अनुप्राणित नहीं था। डेविड्सन की भावना थी कि उसे अध्यात्मवाद के प्रति सहानुभूति नहीं है और उसका विरोध करने में ही उसने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। उसने अरस्तू की विचारधारा पर आधारित कर एक गतिशील तथा वस्तुनिष्ठ नैतिक अध्यात्मवाद का विकास किया, जिसमें विचार तथा कर्म जीवन के अविभेद्य अंग थे। उसका विश्वास था कि वयस्क शिक्षा के द्वारा समाज में सुधार सम्भव है और अपने बाद के जीवन में उसने दार्शनिक अध्ययन के लिए एक संस्था न्यूयार्क राज्य में कायम की। उसने 'नया जीवन' (New Life) नामक एक सुधारक संस्था कायम की, जिसकी शाखाएँ इंगलैंड तथा अमरीका में दूर-दूर तक कायम हो गईं। इनमें से इंगलैंड में कायम एक शाखा ने आगे जाकर फेबियन सोसाइटी का रूप धारण कर लिया। यह सचमुच एक मनोरंजक तथ्य है कि एक पक्का व्यक्तिवादी किस प्रकार हलके प्रकार के समाजवाद का जनक बना। डेविड्सन कुछ समय तक न्यूयार्क नगर की एक बस्ती का डाइरेक्टर रहा और यहीं उसका परिचय राफेल कोहेन से हुआ। डेविड्सन ने कोहेन को दार्शनिक अध्ययन जारी रखने को प्रोत्साहित किया।

जार्ज होम्स होवीसन दूसरा दार्शनिक था, जिसने सेंट लुई के हीगेलवादियों के बीच दार्शनिक अध्ययन आरम्भ किया; किन्तु वह हीगेल से तुष्ट नहीं रह सका। हीगेल की विचारधारा में ईश्वर की निरपेक्ष सत्ता की जो मान्यता थी, उससे होवीसन सहमत नहीं था, क्योंकि उसका परिणाम सर्वेश्वरवाद (Pantheism) ही हो सकता था। उसका यह भी विचार था कि यदि ईश्वर को स्वयंभू, निरपेक्ष

तथा अनन्त मान लिया जाय, तो व्यक्ति के लिए कहीं स्थान नहीं रह जाता। होवीसन हीगेल की ईश्वर की कल्पना को "एक ऐसी रात कहता था, जिसमें सभी गऊ काली हैं," यद्यपि इन शब्दों का प्रयोग हीगेल ने शुरू में शेलिंग की ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना की आलोचना करते हुए किया था। होवीसन ने ऐसी दार्शनिक विचारधारा का विकास किया, जिसमें ससीम व्यक्ति के लिए एक सुनिश्चित स्थान था। उसने एक ऐसे अध्यात्मवाद का विकास किया, जिसमें परमतत्त्व की संख्या अनेक मानी गई। होवीसन की उस मान्यता को अनेक तत्त्ववादी वैयक्तिक अध्यात्मवाद ( Pluralistic personal idealism ) कहा जा सकता है। बेस्टन विश्वविद्यालय के पार्कर बाउन का दार्शनिक दृष्टिकोण भी व्यक्तिवादी था ; किन्तु वह कहता था कि परमतत्त्व जिन अनेक ससीम तत्त्वों को मिलकर बना है, वे सभी एक असीम व्यक्ति के स्वरूप हैं। परन्तु, होवीसन व्यक्ति के मन को ही प्राथमिक, परम तथा अविनाशी मानता था ; होवीसन जी० डब्ल्यू० लीबनिज ( १६४६–१७१६ ) की दार्शनिक स्थिति के बिल्कुल निकट पहुँच गया था। लीबनिज के चिद्-बिन्दुओं ( Monads ) का प्रतिनिधित्व होवीसन की विचारधारा में आध्यात्मिक इकाइयाँ करती हैं।

होवीसन की विचारधारा में हमें बुद्धिवादी व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था जान पड़ता है। उसका विचार था कि सामाजिक सम्पर्क से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण, जहाँ एक तरफ होवीसन व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा कर सका, वहीं दूसरी तरफ व्यक्तियों की पारस्परिक प्रक्रिया के द्वारा आत्मनिष्ठता से भी बच सका। समय और दिक् सम-सामयिक मनों में विद्यमान रहते हैं। इन सम-सामयिक मनों को होवीसन ने 'ईश्वर की नगरी' और 'सनातन गणतंत्र' की संज्ञा दी है। "इस सनातन समाज में ईश्वर विभिन्न मनों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला बंधन है, जो प्रत्येक मन में, आदर्श के रूप में विद्यमान है।" ईश्वर स्वयं गतिहीन है ; किन्तु वह अन्य सभी को गति प्रदान करता है। सनातन गणतंत्र की एकता से स्वतंत्रता नष्ट नहीं होती, जिस पर निरपेक्ष ईश्वर की कल्पना से होती है। इसके विपरीत, उससे प्रक्रिया में सामंजस्य कायम होता है और सभी सहयोगपूर्वक समान लक्ष्य की तरफ अग्रसर होते हैं। कांट की तरह होविसन का भी विश्वास था कि अनुभवजन्य शृंखला के पीछे अनुभवों से पूर्ववर्ती सिद्धान्त रहते हैं। उसकी मान्यता थी कि इन सिद्धान्तों से संकेत मिलता है कि मन उद्देश्यपूर्ण आध्यात्मिक सत्ता है ; परन्तु होवीसन कांट की इस मान्यता से सहमत नहीं था कि अनुभवों के पीछे वस्तुओं का निजी

रूप है। उसका यह भी विश्वास नहीं था कि मानवीय अनुभव से वस्तुओं की दुनिया छिपी हुई है। उसका विचार था कि बाह्य जगत् व्यक्तियों की पहुंच के बाहर हो सकता है, किन्तु वह अनुभव के परे नहीं हो सकता, क्योंकि मनों के समूह की कल्पना के साथ ही बाह्य जगत् का भी मान लिया जाना आवश्यक है।

१९वीं शताब्दी के अन्त के तथा २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ के अमरीकी अध्यात्मवादियों की तरह डेविड्सन तथा होवीसन ने—और बाउन तथा रोइस ने भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे—नैतिक ( आचार ) भावना से प्रेरित होकर अध्यात्मवादी विचारधारा को अपनाया था। ये लोग 'विचार' तथा 'आदर्श' के भेद की उपेक्षा कर गए थे। विचार सदा मानसिक होते हैं और 'आदर्श' आचरण से सम्बन्ध रखते हैं। एक दार्शनिक फेलिक्स आडलर इस भ्रम में नहीं पड़ा। आडलर कोलम्बिया विश्वविद्यालय का अध्यापक था और उसने नैतिक संस्कृति आन्दोलन का सूत्रपात किया था। उसने अपनी विचारधारा को कांट तथा आचार-शास्त्र की अन्य दार्शनिक प्रणालियों की आलोचना से उठाया। उसने कहा कि ये सभी प्रणालियां विज्ञान, तर्कशास्त्र तथा सौन्दर्य ( ललित-कला ) शास्त्र में अभिरुचि के कारण उत्पन्न हुई हैं। जब ये आचार-शास्त्र के क्षेत्र में पहुंचती हैं, तो इनके दृष्टिकोण अन्य क्षेत्रों से प्रभावित होते हैं। आडलर ने कहा कि कांट के दर्शन में न्यूटन के भौतिक-विज्ञान का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है; परन्तु उसने अपना उद्देश्य आचार-शास्त्र को आचार-सम्बन्धी आदर्श प्रदान करना तथा आचार-सम्बन्धी मान्यताएँ देना बनाया, जिससे आचार-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान सम्भव हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आडलर ने, कांट की नैतिक प्रणाली में तत्त्व-मीमांसा को जो महत्त्व मिला हुआ था, उसके निराकरण का प्रयास किया; किन्तु कांट ने नैतिक धर्म का जो आदर्श रखा था, उसे उसने बना रहने दिया।

परन्तु व्यवहार में औचित्य तथा कर्तव्य-सम्बन्धी आडलर का सार्वभौम धर्म कांट की अपेक्षा अधिक लोकतंत्री नींव पर आधारित था। सबसे मनोरंजक स्थिति यह है कि उसका 'आचार-सम्बन्धी संसार' सामूहिक आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें प्रत्येक आचार-सम्बन्धी इकाई अपनी पृथकता तथा विशेषता को बनाए रहती है। प्रत्येक इकाई के निजी विशेषता रखने के कारण सम्पूर्ण के लिए वह अनिवार्य है। असमान इकाइयों की एकता का मुख्य आधार यही है कि उसके भीतर सभी इकाइयों की अपनी विशेषता बनी रहे। इस प्रकार आडलर ने अपनी नई कल्पना में आचार-सम्बन्धी सामूहिक लोकतंत्री समाज

तथा व्यक्ति दोनों के लिए स्थान बनाए रखा। आडलर ने अपने आचरण-शास्त्र का प्रथम सिद्धान्त यह निर्धारित किया कि व्यक्ति को अपने में विशेषता का विकास करना चाहिए। परन्तु, जहाँ व्यक्ति अपनी विशेषता को सामने लाएगा, वहाँ दूसरे व्यक्तियों की विशेषताओं पर भी प्रकाश पड़ेगा। इसी आधार पर आडलर ने अपना यह आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त निकाला कि प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार कार्य करना चाहिए, जिससे दूसरों की विशेषताओं पर प्रकाश पड़ सके। इस प्रकार, आडलर ने व्यक्ति-विशेष के असाधारण कार्यों में सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की आशा की और इसके लिए 'आध्यात्मिक विश्व' की कल्पना को अपना आदर्श बनाया।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एडाल्फ ट्रेन्डेलेनबर्ग की प्रेरणा से एक और अध्यात्मवादी कल्पना सामने आई, जिसने विचार की व्याख्या को सक्रिय तथा गतिशील रूप में आगे बढ़ाया। इसके लिए ट्रेन्डेलेनबर्ग को डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त हुई। जार्ज सिल्वेस्टर मारिस ने, जो जॉन हापकिन्स तथा मिशिगन विश्वविद्यालयों में अध्यापन-कार्य करता था, ट्रेन्डेलेनबर्ग की विचारधारा से अनुप्रेरित होकर इस सिद्धान्त की स्थापना की कि मन की शक्तियाँ ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ हैं, जो अभिप्राय की सिद्धि की दिशा में संचालित होती हैं। जिस सीमा तक मानसिक शक्तियाँ प्राकृतिक शक्तियाँ हैं, उस सीमा तक उनका अध्ययन एक स्वतंत्र तथा अनुभव-सम्बन्धी प्रयोगवादी विज्ञान हो सकता है। जॉन डिवी ने मारिस के विद्यार्थी के रूप में और बाद में मिशिगन विश्वविद्यालय में उसके सहयोगी के रूप में मारिस के सिद्धान्त का विकास हीगेलवाद से प्रेरणा ग्रहण करते हुए किया। डिवी ने अपने ग्रन्थ 'मनोविज्ञान' (Psychology) में लिखा कि मनुष्य के मानसिक जीवन की एकता का स्पष्टीकरण इस तथ्य से किया जा सकता है कि मनुष्य एक चेतनाशील व्यक्तित्व है। चेतनाशील व्यक्तित्व का सार है संकल्प, जो एक स्वयं प्रेरित तथा स्व-अभिव्यक्तित्व से पूर्ण क्रिया है। संकल्प की आत्माभिव्यक्तिपूर्ण प्रक्रिया ही मन है और मन का उत्पादन ज्ञान है। बाह्य सक्रियता से पूर्ण संकल्प ही विज्ञान है, क्योंकि संकल्प बाह्य सक्रियता के द्वारा अपना सार्वभौमिक प्रस्फुटन करता है। मन संसार में प्रतिनिधि की सत्ता रखता है और इसके परिणामों का अध्ययन इसी प्रकार सम्भव है, जिस प्रकार बाह्य जगत् के अन्य विषयों का अध्ययन किया जाता है। संकल्प की प्रक्रिया की मान्यता पर ही मन को गतिवान माना गया है।

अल्फ्रेड हेनरी लायड जब मिशिगन आया, तब डिवी वहीं था; किन्तु मारिस

की मृत्यु हो चुकी थी। लायड ने संचारणशील अथवा गतिवान अध्यात्मवाद ( Dynamic idealism ) की मान्यता संसार को दी। उसने विकासवादी परम्परा पर अपने सिद्धान्त को अधिक स्पष्टता से आरोपित किया। मारिस ने प्रश्न उठाया कि "आखिर विचार किसी प्रकार का सामंजस्य कायम करने के लिए चेतना के प्रयोग के अलावा और क्या है ?"[1] विचार चेतना का अपने वातावरण मे सम्बन्ध है। परम्परागत भाषा में इसे स्वयं तथा अस्वयं का सम्बन्ध कह सकते हैं, यह सम्बन्ध यांत्रिक अथवा बाह्य नहीं है। यह सम्बन्ध संचारणशील अथवा गतिवान है। चेतना का अस्तित्व विशुद्ध चेतना के रूप में अलग से नहीं है। चेतना का विषय होना आवश्यक है, जिसके प्रति वह चेतन हो सके। साधारण रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्ति की चेतना का विषय वह वातावरण ही है, जिसमें वह रहता है ; परन्तु लायड ने इस प्रसंग में यह मान्यता स्थापित की कि "व्यक्ति की चेतना का विषय वह स्वयं भी है।" चेतना जिसे विषय के गुण कहती है, वह वस्तुतः उसकी अपनी अवस्था है। इस प्रकार, स्वयं तथा अस्वयं में अधिक भेद नहीं है। हम जब उनके भेद पर विचार करते हैं, तो उनके सादृश्य का बोध हमें होने लगता है। स्वयं विश्व का एक विशाल अस्वयं का अंग है। इस प्रकार यह अस्वयं का सामाजिक आधार है। वह उसी यथार्थता के अन्य पहलुओं का प्रतिनिधित्व करता है, जिससे स्वयं बना है। इस प्रकार, स्वयं अपने को अस्वयं से सम्बन्धित कर अपने सिर पर एक सामाजिक जिम्मेदारी उठा रहा है। लायड के मतानुसार द्रव्य की भी सामाजिक सत्ता है।

लायड का विश्व सम्बन्धों पर आधारित है और ये सम्बन्ध निरन्तर बदलते रहते हैं। इस कारण सामान्य रूप में अथवा उसके किसी विशेष अंग के लिए कोई अन्तिम वक्तव्य देना सम्भव नहीं है। इसीलिए जब लायड सम्पूर्ण तथा उसके किसी अंग की बात कहता है, तो उसकी व्याख्या से पता चलता है कि वह अंग सम्पूर्ण सम्बन्धक प्रणाली का एक हिस्सा है और सम्पूर्ण वह सम्बन्धक प्रणाली है। यह विवादहीन उक्ति है ; किन्तु लायड आगे जाकर कहता है कि सभी वस्तुएँ अंग भी हैं और सम्पूर्ण भी हैं। एक प्रणाली में कोई वस्तु सम्पूर्ण है ; किन्तु दूसरी प्रणाली में वह अंग हो सकती है। इस प्रकार संचारणशील सम्बन्धों की बहुलता किसी वस्तु तथा उसकी यथार्थता की परिचायक है। किसी वस्तु की विद्यमानता तथा उसकी सम्बन्धक प्रक्रिया दो पृथक् तथ्य नहीं हैं, बल्कि वस्तुओं

१. Lloyd : Dynamic idealism.

की विद्यमानता ही सम्बन्धक-प्रणाली है। इस प्रकार, हम आन्तरिक दृष्टि से एक बोधगम्य विश्व-प्रणाली के परिणाम पर पहुँचते हैं, क्योंकि "बुद्धिमत्ता सम्बन्धक प्रणाली की प्राकृतिक रूप से गतिमान प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है।" जहाँ तक वस्तुओं की वास्तविकता का ताल्लुक है, वह सम्बन्धक प्रक्रिया ही है, जिसे लायड 'मन' कहता है। इस वास्तविक सम्बन्धों की दुनिया में परिवर्तन केवल सम्भव ही नहीं है, बल्कि आवश्यक और अनिवार्य भी है। सम्बन्धक सम्पूर्ण के लिए सम्बन्धों की रचना अनिवार्य है। इसका सचेतन तथा जीवित होना भी आवश्यक है और सम्बन्धों की सचेतन प्रणाली जीव से अनुप्राणित होती है। इस प्रकार, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वस्तुओं की दुनिया निरंतर परिवर्तनशील स्वयंचालित, एवं सुव्यवस्थित प्रणाली है। इस संचारणशील दुनिया में विचार ही शक्तियों तथा योजनाओं के प्रतिनिधि हैं और चेतना लगातार इस आयोजन में व्यस्त रहती है। इस आयोजन में विभिन्न इकाइयाँ अपने सम्बन्धों की अभिव्यक्ति करती हैं, जिससे उनकी क्रियाशीलता प्रस्फुटित होती है। लायड का अध्यात्मवाद इतना संचारणशील है कि इसके बीच ऐसा बिन्दु खोजना कठिन है, जहाँ से चर्चा आरम्भ की जा सके अथवा उसे समाप्त की जा सके।

अधिक हाल के अमरीकी अध्यात्मवाद पर आने के बाद हमें कोई ऐसा प्रमुख दार्शनिक नहीं दिखाई देता, जिसका अनुसरण अन्य लोग करते हों। इस काल में हमें अनेक अध्यात्मवाद दिखाई देते हैं। यहाँ अध्यात्मवाद हमें दार्शनिक की रचना की प्रकृति में खोजना है। हमें यह नहीं देखना है कि उसने किसी विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है अथवा नहीं; बल्कि हमें मुख्यतः यही देखना है कि मन तथा उसकी क्रिया पर उसने बल दिया है। चेतनवादी अथवा अचेतनवादी इस काल में इस प्रकार अपने विचारों को रखते हैं, जैसे उनके क्षेत्र समान हों। दोनों ही वर्ग अनुभव करते हैं कि उन्हें विश्व की चर्चा करनी है। उनकी दिलचस्पी समान है। डब्ल्यू० एच० शेल्डन का कहना है कि अध्यात्मवाद तथा प्रकृतिवाद के बीच सैद्धान्तिक क्षेत्र में जितना अन्तर जान पड़ता है, उतना जीवन में दिखाई नहीं देता। इसका कारण वास्तव में यह है कि इस काल में अमरीकी दार्शनिक विचारधारा के बीच अध्यात्मवाद तथा प्रकृतिवाद की उग्र मान्यताओं का अभाव रहा। उदाहरण के लिए, पेन्सिल्वानिया विश्वविद्यालय के अध्यापक एडगर ए० सिंगर ने प्रकृति को 'अध्यात्मवादी यथार्थता' कहा है और मत प्रकट किया है कि इस मान्यता के कारण ही वैज्ञानिक उन्नति सम्भव हो सकी है। वैज्ञानिक का कर्तव्य यह है कि वह गलती की सम्भावना को घटाए तथा इस आदर्श अथवा

कल्पना के निकट रहकर कार्य करे, जिससे अध्यात्मवाद तथा प्रकृतिवाद दोनों की चरम परिणति हो सके। सिगर का कहना है कि दर्शन की दोनों प्रणालियाँ एक ही बात के अन्वेषण के लिए दो भिन्न कोटि के प्रमाण चाहती हैं ; किन्तु दोनों प्रणालियों का आदर्श एक होने के कारण उन्हें वस्तुतः एक ही प्रश्न का उत्तर देना है।

नया अध्यात्मवाद १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के मानसवाद तथा एकांगी आत्मनिष्ठता से दूर हटा है और विश्व अथवा बाह्य मानस के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए प्राचीन दार्शनिकों की परम्परा में चल कर, उसने बुद्धिवादी प्रयास आरम्भ कर दिया है। हारवर्ड क्लेरेंस आई० लीविस ने शिकायत की है कि विशुद्ध बुद्धिवादियों तथा विशुद्ध अनुभववादियों ने मन को अनुभव से अलग करने का प्रयास किया है। एक ही मन के बाह्य जगत् से सम्बन्ध को वे ज्ञान कहते हैं और मन की उपस्थिति को वे ज्ञान-सम्बन्धी स्थिति के लिए महत्त्व प्रदान नहीं करते। दोनों ही इस तथ्य की उपेक्षा कर देते हैं कि सत्य सामाजिक है अर्थात् उसका अस्तित्व अन्य तथ्यों की पृष्ठभूमि में है। वास्तविकता यह है कि हमें जितना मानव की बुद्धि पर भरोसा करना है, उतना ही बाह्य सूत्रों से प्राप्त होने वाले संवेदनों का उपयोग कर, हम ज्ञान का क्षेत्र आगे बढ़ा सकते हैं। हमें पहले इन्द्रियों से संवेदन होते हैं और फिर अन्तःप्रेक्षण द्वारा उन संवेदनों का हम परिष्कार करते हैं। मन तथा द्रव्य दोनों की जानकारी अनुभव के विश्लेषण द्वारा सम्भव है। लीविस ने कहा है कि वास्तविक संसार में मन के प्रवेश के कारण तथा दैनिक अनुभव के विश्लेषण के द्वारा ही हम मन के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अन्य किसी भी अध्यात्मवादी दार्शनिक से अधिक लीविस ने अध्यात्मवाद तथा प्रकृतिवाद के मध्य और बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के मध्य संतुलन स्थापित करने की चेष्टा की है।

कोलम्बिया के फ्रेडरिक जे० ई० वुडब्रिज ने भी यही कार्य अपने ढंग से किया है। वुडब्रिज के मत में "मन व्यक्ति का प्रतिनिधि अथवा चिन्तन करने वाला तत्त्व नहीं है, बल्कि वह चिन्तन होने का क्षेत्र है।" इस 'मन के क्षेत्र का ढाँचा' बौद्धिक है और हम उसमें एक तथ्य से दूसरे तथ्य का और एक घटना से दूसरी घटना का सम्बन्ध खोज निकाल सकते हैं। मनुष्य मन के क्षेत्र में रहते हैं और इसलिए वे एकीकृत शृंखलाबद्ध ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। वुडब्रिज एक तरफ इस जड़वादी मान्यता से बचा कि चिन्तन की क्रिया प्रकृति

के परे है और दूसरी तरफ उसने मानसवादियों की इस मान्यता से भी पीठ फेर ली कि प्रकृति विचार का परिणाम है।

हरवार्ड के विलियम ई० होकिंग की कृति में अमरीकी चेतनवाद की विभिन्न प्रवृत्तियों की झलक मिलती है। होकिंग का विश्वास है कि सम्पूर्ण विश्व की वस्तुनिष्ठ मान्यता है, जिसे मनुष्य जान सकता है; परन्तु मनुष्य के इस ज्ञान का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जहां एक तरफ होकिंग सम्पूर्ण विश्व में वस्तुनिष्ठता का आरोप करता है, वहां दूसरी तरफ वह यथार्थता अथवा भौतिक जगत् में मानसिक तत्त्व की भी मान्यता को स्वीकार करता है। वह कहता है कि दर्शनशास्त्र जब वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तो उसका सम्बन्ध मानस जीवन से होना अनिवार्य है। यही होकिंग का अध्यात्मवाद है। परन्तु, वुडब्रिज की तरह, होकिंग के मत में भी मानसिक जीवन में एकता तथा वस्तुनिष्ठता दोनों ही हैं; परन्तु होकिंग वैयक्तिक अध्यात्मवाद तथा रोइस के निरपेक्ष अध्यात्मवाद दोनों से प्रभावित था। उसके मत में मनुष्य की आत्मा भी असीम है; किन्तु वह सम्पूर्ण विश्व का अपूर्ण प्रतिबिम्ब है।

होकिंग के विचार में शरीर मनुष्य के व्यक्तित्व को वास्तविकता प्रदान करने के लिए आवश्यक है। शरीर के बिना प्राणी क्रियाशील, सामाजिक तथा ऐतिहासिक भूमिका अदा नहीं कर सकता। प्रकृति का सम्बन्ध किसी विशेष प्राणी से नहीं है; बल्कि उसका सम्पूर्ण समाज से सीधा सम्बन्ध है। प्रकृति उसी प्रकार समाज की सेवक है, जिस प्रकार शरीर प्राणी का वाहन है और उसका सेवक है। हम कहते हैं कि शरीर अमुक प्राणी का है, यह नहीं कहते कि प्राणी अमुक शरीर का है। होकिंग की मान्यता थी कि विभिन्न प्राणियों की अन्तःचेतना में परस्पर सम्बन्ध होता है और मनुष्यों के संकल्पों में भी सादृश्य रहता है। सम्भवतः मनुष्य इसीलिए एक दूसरे के साथ रहना चाहता है। होकिंग के मत में मनुष्य का मन भूत, भविष्य और वर्तमान, तथ्य तथा मूल्य और वास्तविकता तथा सम्भावना को क्रमबद्ध रूप से संकलित करके रखता है। होकिंग के विचार में मन प्राकृतिक विषय नहीं है; क्योंकि वर्तमान तथ्यों को संकलित रखने के अलावा वह भावी मूल्यों को संकलित रखता है। केवल मन में ही यह क्षमता है। मूल्यों की भावी सम्भावनाओं को यथार्थता का रूप देने के लिए मन एकमात्र माध्यम है।

होकिंग की विचारधारा में विभिन्न प्रकार के अध्यात्मवादों को एक प्रणाली के अन्तर्गत लाने का प्रयास किया गया है। इसके पीछे जो तीन प्रणालियां थीं,

उन पर अधिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। ये हैं—बोर्डेन पार्कर ब्राउन का वैयक्तिक अध्यात्मवाद, जोसिया रोइस का निरपेक्ष अध्यात्मवाद और जेम्स एडविन क्राइटन का परिकल्पनावादी अध्यात्मवाद।

# वैयक्तिक अध्यात्मवाद : बोर्डेन पार्कर बाउन

जार्ज होम्स होवीसन जिस वैयक्तिक अध्यात्मवाद को कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में पढ़ाता था, उसे वह प्रभावशाली ढंग से लिख नहीं सका। इसे सुव्यवस्थित रूप में रखने में बोर्डेन पार्कर बाउन अधिक सफल हुआ। वह बोस्टन विश्वविद्यालय में अध्यापक था। उसने दर्शन की एक परम्परा तथा एक शैली की स्थापना की। बाउन ने पुस्तकों में अपने सिद्धान्त को व्यक्तिवाद ( पर्सनेलिज्म ) कहा है। शिष्यों ने उसकी विचारधारा को आगे बढ़ाया। संयुक्त राज्य अमरीका के कतिपय धार्मिक क्षेत्रों में इस विचारधारा का अभी तक व्यापक प्रभाव है और दक्षिण अमरीका में इसे उत्तर अमरीकी दार्शनिक विचारधारा की चरम परिणति भी माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि बाउन ने अनेक दार्शनिकों की कृतियों का अध्ययन एवं मनन किया था और साथ ही इस बात के भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि उसने हर्मन लोज ( १८१७–१८८१ ) के वैयक्तिक अध्यात्मवाद से प्रेरणा ग्रहण की थी, फिर भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उसने दर्शन की अनेक समस्याओं को इस प्रकार उपस्थित किया, जिस प्रकार इससे पहले वे कभी नहीं की गई थीं।

यदि एक तरफ दार्शनिक के रूप में बाउन के कार्य का श्रीगणेश हर्बर्ट स्पेन्सर के विज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना से हुआ, तो दूसरी तरफ उसकी परिसमाप्ति भी इसी कार्य से हुई। बाउन के समय में ब्रिटिश विचारधारा की लोकवादी परम्परा का प्रमुख प्रतिनिधि स्पेन्सर को माना जाता था और बाउन ने इसी परम्परा पर प्रत्यक्ष और व्यापक आक्रमण किया। इस दार्शनिक परम्परा के अनुसार मनुष्य के 'निष्क्रिय' मन पर परमाणु-सम्बन्धी संवेदनों के प्रभाव से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। बाउन को लगा कि इस संवेदनवाद (Sensationalism) से उस 'आत्मिक सत्ता' की कल्पना पर ही कुठाराघात होता है, जो अपनी उसकी दार्शनिक विचारधारा की सबसे उल्लेखनीय विशेषता थी। बाउन जीवन-भर

इस कल्पना के प्रतिपादन तथा शोषण में लगा रहा। जब विलियम जेम्स ने 'चेतना के स्रोत' (Stream of consciousness) सम्बन्धी अपनी कल्पना को जन्म दिया, तो बाउन ने इसकी भी कटु आलोचना की। उसने कहा कि जेम्स ने आत्मा की क्रियाओं को एक स्रोत का रूप दे दिया और आत्मा की प्रतिनिधिक सत्ता को क्षति पहुँचाई, जो उन क्रियाओं का कर्त्ता है। बाउन ने कांट की जो आलोचनाएँ कीं, जिन पर हम आगे विचार करेंगे, उनका भी वैसा ही आधार था। बाउन ने कहा कि कांट और उसके अनुयायियों ने मन द्वारा अनुभव की उपलब्धि के रूपों को इतना अधिक महत्त्व दिया कि उन्होंने आत्मा की सत्ता को बिल्कुल भुला दिया, जो अपनी क्रियाओं के द्वारा अनुभव की प्राप्ति का संगठनकर्त्ता है और इस प्रकार जानकारी पाने में सफल होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बाउन आत्मा की सत्ता का प्रबल समर्थक था और उसकी दृष्टि में ऐसी किसी भी दार्शनिक प्रणाली में उपयोगिता न थी, जिसमें आत्मा की सत्ता की उपेक्षा की गई हो। दूसरे शब्दों में, बाउन आत्मा की सत्ता को दार्शनिक विचार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मानता था।

जिस प्रकार प्रत्येक वस्तुनिष्ठ अध्यात्मवादी के दृष्टिकोण में यथार्थवाद का पुट रहता है, उसी प्रकार वह बाउन की विचारधारा में भी था। बाउन के मत में उसके द्वारा प्रतिपादित आत्मिक चेतना से बाह्य जगत् का प्रस्फुटन नहीं होता। उसके विचार में मनुष्य की मन की शक्तियाँ विश्वसनीय सूचनाएँ पहुँचाती रहती हैं। इसी प्रकार की सूचनाओं से जब ज्ञात होता है कि हमारे बाहर दृश्य जगत् है, तो मन उस सूचना पर विश्वास करता है। बाउन का विश्वास था कि जब दूसरे मनुष्यों तथा दृश्य-जगत् की अन्य वस्तुओं का बोध हमें होता है, तो हमारा सामना एक ऐसी दुनिया से होता है, जिसके निर्माता हम नहीं हैं और जिसके अस्तित्व का केवल ज्ञान ही हमें होता है। हमारे मन को एक यथार्थता का ज्ञान होता है। बाउन ने कहा कि इस बाह्य जगत् से हमारा सम्बन्ध सन्तुलित रूप में होता है। समस्या का विश्लेषण करते हुए बाउन ने यह तो स्वीकार किया कि जो कुछ ज्ञान हम प्राप्त करते हैं, वह हमारी मानसिक अवस्था का प्रतिबिम्ब होता है, किन्तु उसकी मान्यता थी कि इस प्रतिबिम्ब में हमें बाह्य जगत् के दृश्य भी दिखाई देते हैं और परिस्थिति के इस पहलू की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हम यह कह सकते हैं कि यदि बाहरी संसार का ज्ञान हमको अपनी मानसिक अवस्था से होता है, तो इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता ; क्योंकि हमारा मन बाहरी विषयों पर विचार कर इस परिणाम पर पहुँचता है। परन्तु,

आधारभूत तथ्य यह है कि हमारा मन बाहरी दुनिया के अस्तित्व पर हमें आस्था दिलाने में समर्थ हो जाता है और ऐसा करते हुए वह हमें गलत मार्ग पर नहीं ले जाता। बाह्य जगत् के पृथक् अस्तित्व को मानने के बावजूद बाउन ने इस बाह्य व्यवस्था की जो व्याख्या की, उसके कारण उसे अध्यात्मवादी ही कहा जा सकता है। इस व्याख्या का सार यही है कि बाह्य जगत् की शक्तियाँ विचारों की अभिव्यक्ति हैं। भौतिक संसार विचार की साकार अभिव्यक्ति है। वह एक ऐसा विचार है, जिसे किसी प्रकार शक्ति से प्रेरित कर दिया गया है।

बाउन की विचारधारा की सबसे बड़ी विशेषता उसके द्वारा आत्मिक सत्ता पर बल दिया जाना है। बाउन की आत्मा की मान्यता को अच्छी तरह समझने के लिए उसके द्वारा की गई कांट की आलोचना को समझना आवश्यक है। बाउन ने कहा कि आत्मा अथवा मन की ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति पर बल देने के बाद कांट कहता है कि वस्तुओं के निजी स्वरूप को हम नहीं जान सकते। इस अज्ञात तत्त्व की कल्पना से कांट ने मन की ज्ञान-अर्जन की शक्ति को सीमित कर दिया। बाउन ने कहा कि कांट से यह गलती इसलिए हुई कि उसने संकल्प-तत्त्व तथा आत्मप्रेक्षण में भेद नहीं किया। बाउन ने कांट तथा उसके अनुयायियों का दूसरा दोष यह बताया कि उन्होंने मानसिक क्रिया के रूपों (मूल धारणाओं) पर अत्यधिक ध्यान देकर मन अथवा आत्मा की उपेक्षा कर दी। ज्ञान प्राप्त करने की यांत्रिक प्रक्रिया में उलझ कर उन्होंने ज्ञाता का महत्त्व कम कर दिया। बाउन ने कहा कि आत्मा का प्रश्न उठाते समय, हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वही हमारे अध्ययन का मुख्य विषय है। आत्मा जो कुछ करता है, उसे देखकर ही हम उसके विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। आत्मा अथवा मन की प्रक्रियाओं के वर्ग हमने केवल अपनी सुविधा के लिए किए हैं और वे सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं के अन्वेषण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस उक्ति के कारण बाउन अपने गुरु तथा मित्र लोज ( Lotze ) की, जिसे उसने अपना ग्रन्थ तत्त्व-मीमांसा ( Metaphysics ) समर्पित किया था, सीमाओं से आगे बढ़ गया। यद्यपि लोज ने मन अथवा आत्मा के अध्ययन पर बाउन के समान ही बल दिया था; किन्तु जर्मन दार्शनिक मानसिक प्रक्रिया के क्रमबद्ध अध्ययन से आगे प्रगति नहीं कर सकता, इसके विपरीत बाउन ने विशेषकर अपनी बाद की कृतियों में मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन को गौण स्थान दिया और उसने आत्मा की समस्या को ही अपने दार्शनिक विश्लेषण का मुख्य विषय बनाया।

बाउन ने अपने आत्मा-सम्बन्धी सिद्धान्त का नामकरण 'सर्वातिशायी

अनुभववाद' किया। इस सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता यही है कि चेतनामय अनुभूति के अलावा वास्तविकता अथवा यथार्थता कोई दूसरी नहीं है। यथार्थता आत्मा अथवा आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्वों में ही निहित है। ऐसी कोई भी चेतन सत्ता, जो परिवर्तन के बीच अपरिवर्तित रहती है, वही आत्मा है। वह सक्रिय है; किन्तु उससे भी अधिक वह नित्य है। उसकी अवस्थाएँ विभिन्न हैं; किन्तु प्रत्येक अवस्था में वह समान तथा एक जैसा ( Identical ) बना रहता है। सक्रियता तथा असाधारण विशेषता के ये गुण केवल आत्मा में ही रहते हैं। इन गुणों अथवा विशेषताओं के साथ जब हम आत्म-चेतना तथा स्मृति को जोड़ देते हैं ( जिससे चेतना के स्तर पर वर्तमान और अतीत एकाकार हो जाते हैं ), तो आत्मा ( अथवा पुरुष ) का चित्र पूर्ण हो जाता है। चेतना के बीच आत्मा वर्तमान और अतीत का एकीकरण कर अपनी विशेष सत्ता अथवा व्यक्तित्व का निर्माण करता है। इस प्रकार क्रियाओं से ही चेतना के विशिष्ट रूप का उसके व्यक्तित्व का सर्जन होता है। यथार्थ तत्त्व यदि कुछ है, तो वह आत्मा ही है, क्योंकि परिवर्तनशील अवस्थाओं के साथ एकमात्र वही अपरिवर्तित है। हम भ्रम में पड़कर परिवर्तनशील वस्तुओं को सत्य तथा नित्य मान बैठते हैं और यह भ्रम हमें इसलिए होता है; क्योंकि हम भूल जाते हैं कि आत्मा परिवर्तित अवस्थाओं से निकल कर भी स्वयं अपरिवर्तनशील रहता है। बाउन ने कहा कि इस प्रकार का विचार भ्रमपूर्ण है, क्योंकि परिवर्तन वस्तुओं के केन्द्र तक को स्पर्श कर लेता है और यदि कुछ भी अपरिवर्तनशील है, तो वह परिवर्तन का नियम है। अस्तु, वास्तविक सत्ता केवल वैयक्तिक सत्ता है; क्योंकि किसी भी वास्तविक सत्ता के गुण परिवर्तनशीलता तथा अपरिवर्तनशीलता और एकता तथा अनेकता दोनों हैं।

बाउन ने अपने शिष्यों में से एक ए० सी० नुडसन को लिखा था—"मेरे सर्वातिशायी अनुभववाद का प्रश्न रहस्यमय नहीं है। मेरा उद्देश्य केवल इतना ही रहा है कि चेतना को मानसिक क्रिया के वर्गों ( मूल भावनाओं ) के द्वारा नहीं समझा जा सकता; बल्कि ये वर्ग ही चेतना के द्वारा जाने जा सकते हैं। चेतना समस्या के मूल में है और उससे सभी समस्याओं का—अपने सिवा—समाधान हो सकता है।" यह उक्ति जितनी चेतना के वर्गों पर लागू है, उतनी ही वह ज्ञान की प्रक्रिया के वर्गों पर भी लागू है। इस तरह व्यक्तित्व समस्या के मूल में है और उससे चेतन सत्ता की मूल भावनाओं का स्पष्टीकरण होता है। बाउन का तर्क यह है कि जो कुछ भी ज्ञान हम प्राप्त करते हैं, उसका

वास्तविक कारण आत्मा है। आत्मा के कार्यों की चेतना में ही कारण निहित है ; परन्तु हम आत्मा की उपेक्षा कर जाते हैं।

यदि हम बाउन तथा अन्य व्यक्तिवादियों के साथ यह स्वीकार कर लेते हैं कि चरम तत्त्व वैयक्तिक है और यदि हम इस तथ्य पर भी जोर देते हैं, जैसा कि बाउन ने दिया है, कि हमारे सिवा अन्य व्यक्तियों का ( चेतन सत्ताओं का ) अस्तित्व है, तब हमें वैयक्तिक अनेकवाद ( Personal pluralism ) का आधार मिल जाता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना कानून है। ससीम सत्ताओं ( व्यक्तियों ) की अराजकता को निखिल विश्व के रूप में परिणत करने के लिए कुछ साधन ऐसा होना चाहिए, जिससे सभी इकाइयाँ सुनिश्चित नियमों के अन्तर्गत रह कर कार्य कर सकें। यदि प्रत्येक इकाई अथवा व्यक्ति स्वतंत्र रूप से निश्चय करता है, तब आन्तरिक प्रक्रिया परस्पर विरोधी हो सकती है और उस हालत में सामूहिक व्यवस्था रखना असम्भव हो जायगा। ऐतिहासिक दृष्टि से इस समस्या का समाधान निकालने के अनेक प्रयत्न किए गए ; किन्तु वे सभी प्रयत्न असफल रहे। बाउन ने समस्या का समाधान निकालने के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता का परित्याग कर अन्योन्य प्रक्रिया को कायम रखा। उसने कहा कि अन्योन्य प्रक्रिया ( Interaction ) और स्वतंत्रता परस्पर विरोधी मान्यताएँ हैं और इसलिए हमें स्वतंत्रता का परित्याग कर देना चाहिए। सीमित क्षेत्र में जो कार्य अनेक व्यक्तियों की परस्पर विरोधी प्रक्रिया के रूप में प्रकट होते थे, वही असीम, निरपेक्ष, स्वतंत्र एवं महान् सत्ता की अन्योन्य प्रक्रिया में परिणत हो जाते हैं—उसी असीम सत्ता की अन्योन्य प्रक्रिया के रूप में, जिसकी ससीम सत्ताएँ अभिव्यक्ति मात्र हैं। ये अभिव्यक्तियाँ एक दूसरी पर प्रभाव डाल कर उनके स्वरूप को स्थिर कर सकती हैं ; क्योंकि सभी ससीम सत्ताओं में असीम सत्ता का वास है और वह उनका समान आधार है।

असीम तत्त्व भी एक वैयक्तिक सत्ता है। बाउन के मतानुसार इससे परम पुरुष की सत्ता सीमित नहीं होती ; क्योंकि उसके विचार में व्यक्तित्व की स्थापना के लिए आत्म-चेतना ही आवश्यक है। दूसरे शब्दों में अपने तथा अपनी क्रियाओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना और फिर इस आत्मज्ञान के प्रकाश में अपना स्वरूप निर्धारित करना। बाउन के विचार में सम्पूर्ण विश्व का चेतनामय होना वैयक्तिक सत्ता के रूप में ईश्वर की मान्यता के पक्ष में सब से बड़ा तर्क है। हम विचार के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को जान सकते हैं, यह इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि विश्व की स्थापना विचार के रूप में हुई थी। यदि ऐसा नहीं

होता, तो हमारे मनों और वस्तुओं के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं रहता। असीम सत्ता एक चेतनापूर्ण परमपुरुष है, इस बात के बाउन ने कई तर्क दिए। इनमें से एक तर्क यह है कि हम एक सक्रिय सत्ता की प्रकृति को उसके कार्यों का निरीक्षण कर जान सकते हैं। यह नियम सामान्य रूप से माना जाता है, किन्तु मन पर तो वह और भी अधिक लागू है। हम अन्य व्यक्तियों में मन की सत्ता को निरीक्षण के द्वारा नहीं जान सकते ; किन्तु उन व्यक्तियों के कार्यों से जो नियमबद्धता प्रकट होती है, हम उनमें मन की उपस्थिति मानते हैं। इससे प्रकट होता है कि उद्देश्यपूर्ण तथा सुव्यवस्थित क्रियाशीलता ही मन के लक्षण हैं। सम्पूर्ण विश्व की प्रणाली में मानवीय कार्यों से भी अधिक उद्देश्यपूर्ण तथा सुव्यवस्थित क्रियाशीलता मिलती है। यदि हम मनुष्य में मनकी स्थापना करते हैं, तो उस परमसत्ता में मन की स्थापना करने का हमारे लिए और भी अधिक कारण है, जिसकी कृतियाँ हमें प्रकृति में परिलक्षित होती हैं। इसके अलावा, यदि हम दृश्य जगत् की प्रणाली में मन की सत्ता से इनकार करते हैं, तो हमें ससीम सत्ताओं ( व्यक्तियों ) में भी मन की सत्ता से इन्कार करना होगा ; क्योंकि ससीम सत्ताएँ परमपुरुष की अभिव्यक्तियाँ हैं और ससीम तथा असीम के मध्य अन्योन्य क्रिया ( Interaction ) होती है। यही नहीं, जो सिद्धान्त विश्वप्रणाली की नियंत्रक चेतन सत्ता से इनकार करता है, वह ससीम मन में भी आस्था स्थापित नहीं कर सकता। बाउन इस तरह निम्न परिणाम पर पहुँचता है। चूँकि दर्शनशास्त्र को आत्महत्या नहीं करने दिया जा सकता ; इसलिए उसे अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार करना होगा। इससे यह परिणाम भी निकलता है कि यदि दर्शन को अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है, तो उसे आस्तिकवादी विचारधारा को स्वीकार करना होगा।

बाउन ने जो अध्यात्मवादी स्थिति ग्रहण की, उसके पक्ष में ये तर्क स्वाभाविक रूप से आते हैं। उसने इस बात पर बल दिया कि वास्तविकता का स्वरूप स्थिर करने के लिए हम चाहे जो दृष्टिकोण ग्रहण करें ; किन्तु यदि हम वास्तविकता को मानसिक नहीं मानते, तो हमारी विचारधारा दोषपूर्ण रह जायगी। हम जिस दुनिया को जानते हैं, वह विचारों की दुनिया है, जिसका मूल चेतना में है और वही उसकी आधार है। विचार वस्तुओं का निर्माण नहीं कर सकता, किन्तु वह वस्तुओं के सम्बन्धों की बौद्धिक प्रणाली का अवश्य निर्माण कर सकता है। अध्यात्मवादियों का सम्बन्ध सदा बौद्धिक प्रणालियों से रहता है ; किन्तु बाउन की विचारधारा की विशेषता यह थी कि वह इन प्रणालियों को उनके वैयक्तिक पहलुओं

से अलग नहीं मानता था। बाउन ने मत प्रकट किया कि "इन प्रणालियों की रचना मन करता है और वहीं उन्हें कायम रखता है और मन से अलग उनके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।" वस्तुएँ किसी प्रणाली में प्रत्ययों के रूप में जानी जाती हैं और प्रणालियों का आधार मन में है।

सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न भाग हमारे मनों के लिए बोधगम्य हैं, इस मान्यता से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विश्व मन के लिए बोधगम्य है, यद्यपि यह निर्विवाद है कि हमारे ससीम मन सम्पूर्ण विश्व के सभी भागों की जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते। विश्व अपनी सम्पूर्णता में और अपनी सम्पूर्ण प्रणालियों के रूप में हमें एकाएक बोधगम्य नहीं हो सकता और शायद हमें सृष्टि के अन्त तक इसमें सफलता नहीं मिल सकती। विश्व के कुछ रहस्य हमारे मन के ससीम क्षेत्र से सदा ही परे रह सकते हैं; किन्तु आंशिक रूप में विश्व के रहस्यों का उद्‌घाटन करने में हमें जो सफलता मिलती है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पूर्ण विश्व की कोई प्रणाली है। बाउन इस आधार पर जिस मान्यता पर पहुँचता है, वह यही है कि हमें अपने मनों की शक्ति पर विश्वास करना चाहिए और इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिए कि हमारा मन ज्ञान उपलब्ध करने में समर्थ है। इसी प्रकार, बाह्य वस्तुओं के प्रति हमारा मन जानकारी उपलब्ध करता है। यदि हम इन वस्तुओं को उनके सम्बन्धों से अलग कर एक-एक कर लें, तो प्रकट हो जायगा कि इन पृथक् इकाइयों के एकीकरण का ही नाम हमारा दृश्य जगत् है; परन्तु यदि हम इन वस्तुओं को उनके सम्बन्धों के साथ सामूहिक रूप में लेते हैं, तो किसी मन में विचारों की एक सुगठित प्रणाली के रूप में उनका प्रतिबिम्ब पड़ेगा; परन्तु वस्तुओं की सामूहिक एकता से मानसिक जगत् की एक ऐसी एकता की सृष्टि होगी, जिसे हमारा मन अपनी सीमित शक्तियों के कारण ठीक तरह नहीं समझ सकेगा। बाउन ने इसी आधार पर अपनी असीम मन की कल्पना को प्रतिष्ठित किया।

परन्तु बाउन ने अनुभव किया कि इस तर्क से वह सब सिद्ध नहीं किया जा सकता, जो वह सिद्ध करना चाहता था। यह स्मरण रखने की बात है कि अपना दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित करने में बाउन का प्रधान उद्देश्य उस धार्मिक विचारधारा का समर्थन करना था, जिसे वह पहले ही स्वीकार कर चुका था। असीम मन के चेतनामय होने के तर्क के आधार पर यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि असीम मन की कोई नैतिक स्थिति है। असीम मन को चेतनता प्रदान करने से यह परिणाम नहीं निकलता कि वही आस्तिकों का ईश्वर

है। ब्राउन ने कहा कि केवल बौद्धिक आधार पर आस्तिकवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। आस्तिकवादी आस्था के लिए अन्य मान्यताएं भी आवश्यक हैं ; परन्तु बौद्धिक आधार पर एक आस्तिक अपनी यात्रा का आरम्भ कर सकता है, जो अन्ततः उसे ईश्वर की मान्यता की तरफ ले जायगी। ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया से व्यक्ति के मन अथवा आत्मा की मान्यता यथार्थ होती है। इसी प्रकार, व्यक्ति के मन अथवा आत्मा की रचनात्मक प्रक्रिया से अपने परे किसी सत्ता का आभास मिलता है। आत्मा अथवा मन की शक्ति अनिवार्य हो सकती है ; किन्तु है वह सीमित शक्ति ही। एक व्यक्ति का मन दूसरे व्यक्तियों के मन को सक्रिय होते देखता है और इस तरह दूसरे व्यक्तियों के अस्तित्व को वह स्वीकार कर लेता है। सभी मन एक ही तरह सक्रिय होते हैं। इस तरह हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सभी मनों को प्रेरणा प्रदान करने वाली एक ऐसी परम सत्ता भी है, जिसे परमात्मा अथवा विश्व-आत्मा कहा जा सकता है। ससीम सत्ताएँ विश्व-सत्ता की अभिन्न अंग हैं। विश्व-आत्मा की समान रूप से अंग होने के कारण आत्माएं एक दूसरी से सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित हैं।

व्यक्ति का ससीम मन जानता है कि वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है और अन्य मन भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इससे यह मान्यता सामने आती है कि मनुष्य का मन एक ऐसे विश्व में अवस्थित है, जिसे जाना जा सकता है। इस प्रकार, मन बुद्धि को वस्तुओं के मध्य में रख देता है। वस्तुएँ स्वयं बुद्धि नहीं रख सकतीं और इस तरह हम इस मान्यता को पहुँचते हैं कि बुद्धि ईश्वर में निहित है। चूँकि हम सत्य को भी मानते हैं ; इसलिए कहा जा सकता है विश्व में सत्य का प्रतीक भी ईश्वर ही है। ईश्वर शिवं और सुन्दरं का भी प्रतीक है। हम अपने तथा अन्य व्यक्तियों के मनों में शिवं तथा सुन्दरं के प्रति आकृष्ट होने की प्रवृत्ति पाते हैं। इस तरह सत्यं का ईश्वर शिवं तथा सुन्दरं का भी ईश्वर है। अस्तु, इस प्रकार ईश्वर की कल्पना सम्पूर्ण होती है। असीम मन की बौद्धिक कल्पना आस्तिकवादी ईश्वर की कल्पना का रूप धारण कर लेती है। यह मान्यता उपस्थित कर ब्राउन ने मानवीय आदर्शों के चरम उत्कर्ष का रूप ही ईश्वर की कल्पना को नहीं दे डाला ; बल्कि उसने यह संकेत भी कर दिया कि सत्यं, शिवं, सुन्दरं के आदर्श मानव-मन के बाहर उपस्थित हैं। उसने अपना यह विश्वास इस मान्यता के द्वारा प्रकट कर दिया कि परम-पुरुष सत्यं, शिवं, सुन्दरं के उन आदर्शों की चरम अभिव्यक्ति है, जिनकी

केवल हलकी छाया मानव की सर्वोत्तम प्रज्ञा में दिखाई देती है। विभिन्न मूल्यों को प्राप्त करने वाली सत्ता वैयक्तिक सत्ता है और जिस सत्ता में सभी मूल्यों की चरम अभिव्यक्ति है, वही परमपुरुष अथवा परमात्मा है।

# निरपेक्ष अध्यात्मवाद : जोसिया रोइस

हारवर्ड विश्वविद्यालय के दर्शन के अध्यापक जोसिया रोइस की विचारधारा इसलिए विशेष रूप से मनोरंजक है कि उसने तत्कालीन विभिन्न अध्यात्मवादी दार्शनिक प्रवृत्तियों को एक सामान्य प्रणाली के अन्तर्गत उपस्थित किया। रोइस ने चरम-आत्मनिष्ठ स्थिति से बचने का संकल्प किया। सभी वर्गों के अध्यात्मवादी इस स्थिति से परिचित रहे हैं। इसकी मान्यता यह है कि संसार में यदि किसी वस्तु के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है, तो वह विचारक का मन है और अन्य सभी वस्तुओं की सत्ता मन की स्वीकृति पर निर्भर है। यदि हम एक बार यह सिद्धान्त मान लेते हैं कि जिसे द्रव्य अथवा जड़तत्त्व कहा जाता है, वह केवल आभास मात्र है और वास्तविकता केवल मानसिक है, तो हमारे सामने बाह्य जगत् के वास्तविक अस्तित्व को प्रमाणित करने की कठिनाई उपस्थित हो जाती है और साथ ही दूसरे मनों के अस्तित्व को प्रमाणित करने की समस्या भी हमारे आगे उपस्थित हो जाती है। तब हम आत्मज्ञानवाद के द्वार पर पहुँच जाते हैं और इस मान्यता से हमारा सामना होता है कि केवल ज्ञाता का ही अस्तित्व है। रोइस ने आत्मनिष्ठता की इस चरम स्थिति से बचने के लिए 'निरपेक्ष पुरुष' ( Absolute Person ) की कल्पना रखी। इस निरपेक्ष पुरुष के मन में विचार की शृंखला के रूप में समस्त विश्व अवस्थित है और विचारों की इस शृंखला में ससीम मन भी भागीदार है। रोइस इस तरह ईश्वर की मान्यता पर पहुँच गया और साथ ही धार्मिक सम्प्रदायों के विवादों से भी बच गया। रोइस अपनी दार्शनिक विचारधारा के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रवृत्तियों से प्रभावित हुआ, विभिन्न मार्गों से इस परिणाम पर पहुँचा और विभिन्न शब्दों में उसने इसे प्रकट किया ; किन्तु परिणाम प्रत्येक अवस्था में एक ही रहा।

इमेनुअल कांट ने दर्शन-शास्त्र की चार भौतिक समस्याओं की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है—( १ ) मैं क्या जानता हूँ ? ( २ ) मुझे क्या करना चाहिए ? ( ३ ) मैं क्या आशा कर सकता हूँ और ( ४ ) मनुष्य क्या है ?[१] रोइस ने अपने दार्शनिक ग्रन्थ[२] में इनमें से दो प्रश्नों का ज्ञान के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में उत्तर देने का प्रयास किया है। अपने ग्रन्थ की भूमिका में रोइस ने धर्म के दो भेद किए हैं—( १ ) नैतिकता-सम्बन्धी सिद्धान्त जिसमें 'मुझे क्या करना चाहिए' प्रश्न का उत्तर दिया जाता है और ( २ ) आस्था-सम्बन्धी सिद्धान्त जिसमें 'मैं क्या जानता हूँ' प्रश्न का उत्तर दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, रोइस ने धर्म के आचार-सम्बन्धी तथा ईश्वर-ज्ञान-सम्बन्धी क्षेत्रों को अलग कर दिया। उसने धर्म पर इन दो विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया। रोइस ने इन प्रश्नों के अध्ययन के लिए संशयवाद का आश्रय लिया। रोइस ने कहा कि दार्शनिक को अन्य क्षेत्रों की तरह धार्मिक क्षेत्रों में भी संशयालु आलोचना के तरीके का प्रयोग पूर्णता तथा निर्भयता से करना चाहिए। उसको स्मरण रखना चाहिए कि वह सत्य के सम्बन्ध में—यदि कोई सत्य है—कुतर्क नहीं करता, बल्कि वह केवल मानवीय विचारों तथा मानवीय प्रयासों को लेकर सत्य के निकट पहुँचने की चेष्टा कर रहा है। धर्म के क्षेत्र में सत्य के अन्वेषक के लिए सच्चे सन्देह को लेकर आगे बढ़ना उसका अधिकार ही नहीं ; बल्कि कर्त्तव्य भी है। जहाँ तक दार्शनिक सम्बन्ध है, उसके लिए सन्देह का सहारा लेना और भी आवश्यक है, क्योंकि संशयवाद ने दार्शनिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। रोइस ने एक स्थल पर कहा कि दार्शनिक के मन में निश्चयात्मकता की भावना सन्देह की प्रक्रिया के विश्लेषण करने के बाद ही पहली बार उठती है। उसका कहना है कि दार्शनिक क्षेत्र में सन्देह का अनुसरण करते हुए हम निराशा के निकट पहुँच जाते हैं और फिर पता चलता है कि इस सन्देह के अन्तर्तम कोने में वह सत्य छिपा हुआ है, जिसे खोजने के लिए हम चले हैं।

अब हम उस परिणाम पर पहुँचते हैं, जिस पर रोइस नैतिक क्षेत्र में अपने प्रारम्भिक शोध के बाद पहुँचा था। हम उसे एक नैतिक आदर्शवाद की स्थिति पर पहुँचा हुआ पाते हैं, जिसमें हमारा सबसे बड़ा कर्त्तव्य परस्पर विरोधी संकल्पों

---

१. Immanuel Kant : Critique of Pure Reason.

२. Josiah Royce : The Religious Aspect of Philosophy.

के बीच सामंजस्य कायम करना रहा है। रोइस ने आचार-शास्त्र-सम्बन्धी अपने अध्ययन के बीच चाहे जिस भी मार्ग में प्रगति की हो, उसका लक्ष्य सदा सामंजस्य स्थापित करने की नैतिकता ही रहा है। उसने अपने ग्रन्थ में इस सामंजस्य पर पहुँचने के लिए एक सार्वभौम सिद्धान्त के निर्माण की चेष्टा की। इस सिद्धान्त को कांट के शब्दों में पूर्णनिरपेक्ष विधि ( Categorical imperative ) कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में इसे सरल भाषा में बाइबिल की एक शिक्षा का पुनर्कथन कहा जा सकता है—"अपने पड़ोसी से तुम अपने ही समान प्रेम करो।" रोइस ने इसे निम्न शब्दों में बदल दिया—"जहां तक तुम्हारे लिये सम्भव हो, इस प्रकार कार्य करो, जैसे तुम और तुम्हारे पड़ोसी एक ही हैं। इन दो प्राणियों को एक ही प्राणी मानो।" रोइस ने व्यष्टि को समष्टि में अन्तर्हित करने के स्थान पर व्यष्टि ( व्यक्ति ) को अधिक व्यापक आधार देने का प्रयास किया है। आचार-शास्त्र का लक्ष्य एक सामान्य स्थिति तक पहुंचने का रहता था। इसमें हमारा सम्बन्ध कांट की तरह आचार-सम्बन्धी कार्य के अभिप्राय से ही नहीं होता ; बल्कि उसके परिणाम पर भी हमारी दृष्टि रहती है, जो एक उपयोगितावादी स्थिति है। दूसरे शब्दों में, रोइस की विधि किसी आचार-सम्बन्धी कार्य के अभिप्राय और उसके परिणाम के बीच सामंजस्य स्थापित करने की एक चेष्टा है और साथ ही उसमें एक सामान्य स्थिति पर पहुंचने की भी चेष्टा की गई है।

यदि हम विरोधी संकल्पों के एकीकरण की बात करते हैं, तो ऐसा तभी सम्भव है जब कि आन्तरिक एकता पहले से हो। नैतिक जीवन की आवश्यकताओं का ज्ञान उसी व्यक्ति को सम्भव है, जिसे विरोधी संकल्प रखने वाले व्यक्तियों की प्रकृति की आन्तरिक एकता की अनुभूति है। केवल सामान्य नियम का ज्ञान रखने से नैतिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा नहीं मिलती ; बल्कि ऐसा तभी सम्भव है जब कि 'आन्तरिक एकता' की स्वीकृति हो। जिन लोगों में इस प्रकार की नैतिक वृत्ति मौजूद है, वे केवल दो विरोधी संकल्प रखने वालों में ही सामंजस्य स्थापित नहीं कर देते ; बल्कि वे संसार-भर में विरोधी संकल्पों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं। रोइस ने अपने सिद्धान्त की पृष्ठभूमि का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"मैं अपने पड़ोसी तथा अपने को एक महान् सत्ता का अभिन्न अंग मानूँगा और फिर इस प्रकार कार्य करूँगा, जैसे एक व्यापक सत्ता को अपने उद्देश्य की पूर्त्ति करनी है।"

अभी तक हमने विशेष संकल्पों के एकीकरण की चर्चा की है ; किन्तु व्यापक

क्षेत्र में जन-समुदायों की आचरण-संहिता का निर्माण भी इसी आधार पर हो सकता है। इस नैतिक संहिता के अनुसार किसी समूह के सभी व्यक्तियों के संकल्पों का एकीकरण इस प्रकार किया जा सकता है, जैसे वे एक महान् सत्ता के अंग हैं और उनके उद्देश्य भी समान हैं। इस प्रकार अनेक विरोधी उद्देश्यों के संश्लेषण की चेष्टा की जा सकती है। इस प्रकार हम एक निरपेक्ष नैतिक पुरुष की मान्यता की तरफ बढ़ते हैं। इसके अलावा रोइस की विचारधारा में हमें कार्य की उपयोगिता के मूल्यांकन का भाव भी मिलता है। यदि दो व्यक्तियों के संकल्पों में विरोध है और एक व्यक्ति के नैतिक दृष्टिकोण के परिणाम-स्वरूप विरोधी संकल्पों के एकीकरण की चेष्टा की जाती है, तो वह व्यक्ति अपने कार्य का अपने पड़ोसी के जीवन पर प्रभाव का मूल्यांकन करेगा। यदि किसी व्यक्ति की भावना पूर्णतः नैतिक है, तो वह अपने कार्य की जिम्मेदारी का भार पूर्णतः तथा सदा के लिए उठाने को तैयार रहेगा और वह यह भी ध्यान रखेगा कि उसके इस एक कार्य का अन्य सभी व्यक्तियों के उद्देश्यों पर कैसा असर पड़ेगा।

इस प्रकार, यह प्रकट है कि नैतिक अन्तर्दृष्टि रोइस की आचार-सम्बन्धी प्रणाली की आधार रही है। एक अर्थ में नैतिक अन्तर्दृष्टि नैतिक रूढ़िवादिता तथा नैतिक संशयवाद के मध्य की अवस्था है।

नैतिक संशयवाद में परस्पर विरोधी संकल्पों तथा उद्देश्यों को स्वीकृति प्रदान की गई है। उसमें अनेकता की पृष्ठभूमि बना कर एक नैतिक सार्वभौम सिद्धान्त को स्वीकृति प्रदान की गई है। संशयवाद द्वारा घोषित इस विविधता के अध्ययन को आधार बनाकर रोइस ने आन्तरिक एकता की निश्चयात्मकता अर्थात् नैतिक अन्तर्दृष्टि की घोषणा कर डाली। इस प्रकार उसके सिद्धान्त से इस मान्यता की पुष्टि होती है कि सन्देह के बीच निश्चयात्मकता का ज्ञान दार्शनिक विकास की एक मध्यवर्ती अवस्था है।

नैतिक रूढ़िवादिता का दावा है कि नैतिक जीवन का लक्ष्य एक तथा अभिन्न है और इस दृष्टिकोण के मुकाबले में नैतिक अन्तर्दृष्टि विविधता पर बल देती है। यही नहीं, रोइस ने यह विश्वास भी प्रकट किया कि नैतिक रूढ़िवादिता भी नैतिक उद्देश्यों की विविधता को ( अधूरे रूप से ) स्वीकार करती है। चूंकि रूढ़िवादिता अधूरे रूप से विविधता की यथार्थता का अनुभव करती है; इसलिए वह अपने पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल देने की प्रवृत्ति दिखाती है और भिन्न स्थितियों की अनावश्यक जोश से निन्दा करती है। रोइस ने कहा कि नैतिक रूढ़िवादिता अविचारपूर्ण, अबुद्धिमत्तापूर्ण तथा सनकी प्रवृत्तियों से ओत-

प्रोत है। यदि कोई नैतिक रूढ़िवादी विवेक पर अपनी स्थिति को आधारित करने की चेष्टा करे, तो नैतिक अन्तर्दृष्टि के अलावा अन्य किसी परिणाम पर वह नहीं पहुँच सकेगा। नैतिक संशयवाद अन्तःप्रेक्षण के रास्ते पर बढ़ कर और नैतिक रूढ़िवादिता अन्तःप्रेक्षण की शुरुआत कर दोनों ही नैतिक अन्तर्दृष्टि की ओर प्रगति करते हैं। नैतिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि आप में सत्य को जानने की लालसा हो ; क्योंकि तभी आप परस्पर विरोधी दो या अधिक सिद्धान्तों के मध्य किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं। इस प्रकार संशयवाद का अंतिम परिणाम नैतिक अन्तर्दृष्टि ही होता है।

दार्शनिक अध्ययन के इस प्रारम्भिक काल में ही रोइस नैतिक जीवन को संघटित करने की आवश्यकता का अनुभव करने लगा था। उसका आचार-शास्त्र वैयक्तिक से कहीं अधिक सामाजिक था। व्यक्ति का अलग से कोई अधिकार नहीं होता। 'सार्वभौम जीवन' के अंश के ही रूप में मेरा पड़ोसी मुझ पर और मैं अपने पड़ोसी पर कुछ दावा कर सकता हूँ। यदि मैं अपने पड़ोसी की कुछ सेवा करता हूँ, तो मेरी यह सेवा उस 'जीवन-सागर' की सेवा है, जिसमें मेरी स्थिति एक बूँद के समान है और जिसके लिए मुझे अपने को तथा अपने स्वार्थों की बलि चढ़ाने को तैयार रहना चाहिए। किसी पड़ोसी की सेवा यह नहीं है कि उसके वैयक्तिक सुख को बढ़ाया जाय, क्योंकि इससे मानव-समाज के सामूहिक सुख में वृद्धि नहीं होगी। नैतिक जीवन का उद्देश्य एकीकरण तथा एकरसता लाना है। परस्पर सेवा उसी कार्य को कहा जा सकता है, जिसके करने से मानव-समाज की एकता तथा सहयोग में वृद्धि हो। रोइस ने साथ ही यह भी कहा कि यह इस प्रकार होना चाहिए, जिससे हममें से किसी के गुण की बाढ़ रुके नहीं। नैतिक अन्तर्दृष्टि का कार्य कला, विज्ञान, सत्य तथा राज्य की सेवा द्वारा परस्पर मधुर सम्बन्धों तथा एकता का विकास करना है। वैयक्तिक स्वतंत्रता एक अस्थाई अवस्था है, जो हमें सार्वभौम संकल्प की तरफ ले जाती है। इस 'एक संकल्प' की विजय होनी चाहिए। यह 'एक संकल्प' विविधता के प्रति असहनशील नहीं है ; बल्कि इसमें सभी संकल्पों का समावेश है। यह एकांगी संकल्प नहीं होता। यह विशिष्ट उद्देश्यों तथा विशिष्ट संकल्पों की एकता है और इसमें केवल उन्हीं संकल्पों को छोड़ दिया जाता है, जिनमें एकता में योग देने की क्षमता का अभाव रहता है। 'एक संकल्प' अपने में उन सभी उद्देश्यों तथा भावनाओं का समावेश करना चाहता है, जिसमें जीवन के सभी अंगों की सिद्धि सम्भव हो सके। रोइस कहता है कि इसका युद्ध कभी

असहनशीलता में परिणत नहीं होता, इसके आत्मसमर्पण का आग्रह कभी निरंकुशता का रूप नहीं धारण करता और एकता के प्रति उसकी आस्था कभी उद्दंडता का रूप नहीं धारण करती। इस प्रकार, रोइस की आचार-सम्बन्धी विचारधारा के शीर्ष पर निरपेक्ष संकल्प अवस्थित रहता है।

इसके उपरान्त रोइस 'मुझे क्या करना चाहिए' प्रश्न को छोड़कर 'मैं क्या जानता हूँ' प्रश्न का उत्तर देने की समस्या में व्यस्त हो गया। इस तरह, जब उसने धार्मिक सत्य के निरूपण की समस्या को हाथ में लिया, तब सन्देह में निश्चयात्मकता और विभ्रम में सत्य प्राप्त करने की जो प्रवृत्ति आचार-शास्त्र में अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण थी, उसने असाधारण महत्त्व धारण कर लिया। रोइस ने कहा कि बौद्धिक दृष्टि से संशय तथा संदेह की दुनिया में बने रहने से हम प्रमाणित सिद्धान्तों की ओर प्रगति कर सकते हैं। यद्यपि इस बात को स्वीकार करना कठिन है कि कोई भी सिद्धान्त पूर्ण रूप से निश्चयात्मक तथा आवश्यक हैं, फिर भी अनेक क्षेत्रों में व्यावहारिक जीवन जारी रखने के लिए कतिपय मान्यताओं को स्वीकार कर लेना आवश्यक है। इन मान्यताओं तथा स्वीकृत प्रणालियों के अन्तर्गत विज्ञान तथा धर्म की वे मान्यताएँ तथा सिद्धान्त हैं, जिनके योग से मनुष्य को कार्य का आधार मिलता है। वैज्ञानिक कार्य होने के लिए सादगी तथा बौद्धिक दृष्टिकोण आवश्यक हैं। जिस सिद्धान्त के कारण धार्मिक कार्य सम्भव है, वह यही है कि संसार के प्रति जिस दृष्टिकोण से मनुष्य की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है वह सत्य है। इन दो स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर एक ऐसी अध्यात्मवादी प्रणाली का निर्माण किया गया, जिसके शीर्ष पर असीम ज्ञाता अथवा निरपेक्ष मन है। यहाँ तक मान्यता का ढाँचा पूर्णतः बौद्धिक है। यह मान्यता ऐसे ही सिद्धान्तों पर आधारित है, जो मानव-विचार की आवश्यकताओं को तो प्रकट करते हैं; किन्तु उनकी सहायता से जिस वाह्य सत्य का भवन खड़ा किया गया, उसके सम्बन्ध में वे मौन हैं। रोइस ने मत प्रकट किया कि इस सैद्धान्तिक प्रणाली का प्रमाणीकरण इस प्रकार सम्भव है कि संशयवाद के भीतर से ही निरपेक्ष तथा आवश्यक सत्यों को निकाला जाय।

रोइस ने इसे प्रमाणित करने के लिए कहा कि गलती अथवा भ्रम की सम्भावना की स्वीकृति से ही सत्य की आवश्यकता प्रमाणित होती है। जिन परिस्थितियों से भूल की सम्भावना प्रकट होती है, वे स्वयं निरपेक्ष सत्य हैं। रोइस को इस सत्य का ज्ञान बहुत सरलता से हुआ। वाह्य जगत् के सम्बन्ध में अपने विश्वास के प्रति सन्देह करने का यही तात्पर्य है कि हमारे निर्णय में कोई गलती हुई

है। सन्देह का मतलब यही हुआ कि प्रकृति के सम्बन्ध में सही और गलत उक्तियों में अन्तर है। यदि अपने विश्वास की पुष्टि में हमें कोई दावा करना पड़ता है, तो इससे यही परिणाम निकलता है कि वह अन्तर वास्तविक है। यदि हम उस विश्वास से इनकार करते हैं, तो भी यह निष्कर्ष निकलता है कि हम एक दूसरे दावे की पुष्टि करते हैं। यह एक आवश्यक सत्य है। भावात्मक तथा निषेधात्मक दोनों ही विधियों से इसकी पुष्टि हुई है। यह भी प्रमाणित हो चुका है कि संसार के सत्य और असत्य विवरणों में एक मौलिक अन्तर है। रोइस का यह भी विश्वास था कि उसके सिद्धान्त से इस स्थिति का खंडन होता है कि सत्य सापेक्ष है; क्योंकि किसी स्थिति के सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा तथा विभिन्न समयों में किए गए मूल्यांकन समान नहीं होते। इन मान्यताओं के आधार पर गलती की सम्भावनाओं से निरपेक्ष तथा आवश्यक सत्यों पर प्रकाश पड़ता है, रोइस ने निरपेक्ष अध्यात्मवाद के वस्तुनिष्ठ सत्य की स्थापना बौद्धिक आधार पर की, जिसे पहले उसने स्वयंसिद्ध मान्यताओं के आधार पर खड़ा करने की चेष्टा की थी।

रोइस की बाद की कृतियों में भी इन विषयों की चर्चा की गई है और बाह्य स्वरूप भिन्न होते हुए भी उनका हृदय अपरिवर्तित है। उसने अपने ग्रन्थ 'दि स्पिरिट आफ माडर्न फिलोसफी' में १९वीं शताब्दी के जर्मन दार्शनिकों की विचारधारा का परिचय देने के बाद अपनी मुख्य मान्यता के सम्बन्ध में कई अध्याय लिखे हैं। जिस तर्क-शैली के द्वारा वह सत्य की आवश्यकता पर पहुँचा, उसी शैली का अनुसरण कर ज्ञान की सम्भावना पर विचार करते हुए उसने वस्तुनिष्ठता के महत्त्व पर जोर दिया; परन्तु यहाँ उसने संशयवाद से बचने की समस्या पर जोर दिया। रोइस ने प्रश्न उठाया कि आखिर मनुष्य अपने आंतरिक जीवन के कारागार से किस प्रकार बच सकता है। उसने कहा कि क्या वह स्वयं अपने विचारों की दुनिया के बीच ही नहीं भटक रहा है? यदि हम इस बात पर बल देते हैं कि संसार केवल वास्तविक ही नहीं है, बल्कि बौद्धिक आधार पर निर्मित है और ऐसा आधार होने के कारण ज्ञातव्य है, तो हम वास्तविक संसार को मन अथवा मनों का संसार बता रहे हैं। रोइस ने स्वीकार किया कि इस दृष्टि से हम अपने के अलावा किसी सत्य पर नहीं पहुँचते। परन्तु, यह ठीक ही है, क्योंकि सभी मनों की एकता भी मानी हुई है। हमसे अलग जो मन हैं, वे वास्तविक तथा बाह्य जगत् हैं और उनसे हमारा अभिन्न सम्बन्ध है। हममें से प्रत्येक के एक आत्मा है; किन्तु वह एक परमात्मा का अंग है। रोइस का विचार है कि परमात्मा

असीम ज्ञान का भंडार है। जब आत्मा कुछ जानना चाहता है, तो परमात्मा का अभिन्न अंग होने के कारण, उस ज्ञान को प्राप्त करने में वह समर्थ हो जाता है। जब मेरे विचार में कोई बाह्य विषय आता है और चाहे उस विषय के सम्बन्ध में मुझे संदेह अथवा भ्रान्ति ही क्यों न हो, तो मेरा विचार और वह विषय अनिवार्य रूप से एक व्यापक विचारधारा के अंग होते हैं। किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक आत्मा उस परमात्मा का अंग है, जिसके पास वह विषय है। इस दृष्टिकोण से देखने पर हमारा छोटे-से-छोटा विचार भी हमें उस पूर्ण निरपेक्ष सत्ता की ओर ले जाता है, जो सर्वज्ञ है और जिसके मानस में समस्त संसार विचारों की श्रृंखला के रूप में वर्तमान है। रोइस ने कहा कि यदि ऐसा न हो, तो किसी बाह्य वस्तु की उचित अथवा अनुचित कैसी भी कल्पना हम नहीं कर सकते और यहां तक कि उसके अस्तित्व पर संदेह तक नहीं उठा सकते।

ईश्वर के सम्बन्ध में भी रोइस की अपनी मान्यता रही है। उसका कहना था कि हमारे आंशिक अनुभव की व्याख्या के लिए निरपेक्ष तथा सर्वग्राही अनुभव का रहना आवश्यक है। यह निरपेक्ष तथा सर्वज्ञ सत्ता ही ईश्वर है। निरपेक्ष अथवा पूर्ण सत्य ससीम सत्ता को नहीं स्वीकार कर सकता और न ससीम सत्ता ही अपने आंशिक अनुभव को महत्त्व प्रदान कर सकती है। ससीम के आंशिक अनुभव की बात को स्वीकार कर हम अप्रत्यक्षरूप से निरपेक्ष अथवा पूर्ण अनुभव पर बल देते हैं। पूर्ण सत्ता भी अपनी पूर्णता के ज्ञान से मानव अनुभव की आंशिकता का अनुभव करती है। रोइस ने 'जगत् और जीव' ( The World and the Individual ) नामक अपने एक व्याख्यान में अधिक विस्तार से इस विषय पर प्रकाश डाला। उसने कहा कि आत्मचेतनायुक्त एक ऐसा ज्ञाता है, जो अपूर्णता में पूर्णता लाता है और इसलिए वही सत्य तथा वास्तविकता है।

अभिप्राय तथा प्रयोजन पर बल दिये जाने से भी ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया में सहायता मिलती है। ज्ञान प्राप्त करने की असीम प्रक्रिया में किसी विशेष तथ्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना सम्भव नहीं है ; क्योंकि यह पूर्ण ज्ञान तो सभी ससीम तथ्यों का सम्मिलित ज्ञान ही हो सकता है। असीम ज्ञाता को ही पूर्ण प्रणाली का ज्ञान हो सकता है। किसी तथ्य का अस्तित्व तभी सम्भव है, जब उसका सम्बन्ध किसी चेतना से रहता है। इसी प्रकार से सम्पूर्ण संसार का अस्तित्व तभी सम्भव है, जब महान् चेतना को उसका ज्ञान रहे। इस महान् सत्ता का उद्देश्य ही चरम उद्देश्य है, और शेष ससीम उद्देश्य इस एकीकृत उद्देश्य के अंग हैं। हमारे ससीम उद्देश्यों

की पृथकता ही उस महान् सत्ता की उपस्थिति का सब से बड़ा प्रमाण है, जिसका कार्य ससीम उद्देश्यों की एकता में भी उनकी विशिष्टता को बनाए रखना है।

यदि हम रोइस के शुरू के आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त पर पुनः दृष्टि डालें, तो हमें स्मरण हो उठेगा कि उसने विरोधी संकल्पों के संघर्ष को मिटाने के लिए संकल्प की एकता पर बल दिया था और इस प्रकार नैतिकता के एक सिद्धान्त का विकास किया था। इस प्रसंग में उसने आचार-सम्बन्धी प्रयास तथा ज्ञान-अर्जन-सम्बन्धी प्रयास में भेद किया था। फिर उसने 'जगत् और जीव' नामक अपने व्याख्यान में संकल्प अथवा अभिप्राय पर बल दिया। इस प्रकार, वह ज्ञान से कर्म को महत्त्व देने की स्थिति की ओर क्रमशः बढ़ता गया। रोइस की अंतिम कृतियों में ज्ञान की अपेक्षा नैतिकता-सम्बन्धी विचारधारा और भी अधिक स्पष्ट होती गई।

रोइस की विचारधारा में नैतिक तथा व्यावहारिक पहलुओं का महत्त्व लगातार बढ़ते रहने के कारण उसके आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त को बाद में होने वाले विकास को मनोरंजक कहा जा सकता है। चार्ल्स सेंडर्स पीयर्स की प्रेरणा से रोइस ने मनुष्यों के जीवन को अनन्त सत्ता के जीवन में एकाकार करने के अपने सिद्धान्त को सामाजिक सिद्धान्त के रूप में परिणत कर दिया। पहले निरपेक्ष सत्ता की कल्पना आस्तिकवादी ईश्वर के रूप में की गई थी; किन्तु नई विचारधारा के अंतर्गत उसे समाज की चेतनसत्ता का रूप मिल गया। शुरू में ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया का रूप १९वीं शताब्दी की जर्मन-विचारधारा की परम्परा के अनुसार था; किन्तु रोइस के अंतिम दिनों में उसने सामाजिक व्याख्या का रूप धारण कर लिया। पहले विश्व को अध्यात्मवादी शैली पर विचारों की दुनिया कहा गया था; किन्तु बाद में इसे मनों के समाज के एक अंग के रूप में देखा गया।

रोइस ने १९०८ में एक पुस्तक लिखी—निष्ठा का दर्शन ( Philosophy of Loyalty )। इस पुस्तक में रोइस ने इस बात पर जोर दिया कि किसी भी निष्ठावान व्यक्ति के लिए निष्ठा रहना आवश्यक है, चाहे इस निष्ठा का विषय कुछ भी क्यों न हो। रोइस ने विचार प्रकट किया कि निष्ठा के विषयों का चुनाव कुछ सावधानी से होना चाहिए। निष्ठा का विषय ऐसा होना चाहिए, जिससे कितने ही व्यक्तियों में समान जीवन की तरफ अग्रसर होने की प्रेरणा हो; परन्तु रोइस ने यह भी कहा कि 'निष्ठा के प्रति निष्ठा' सब से बड़ा नैतिक आदर्श है। इस सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों के बीच एकता कायम हो सकती है।

रोइस ने पियर्स के कथन पर गणित-सम्बन्धी तर्कशास्त्र का अध्ययन किया और इस प्रकार अपने व्याख्या समुदाय ( The community of interpretation ) सिद्धान्त का विकास किया। उसने कहा कि दो पक्षों का सम्बन्ध सुखद नहीं रह सकता ; क्योंकि इनमें परस्पर संघर्ष की सम्भावना बनी रती है। रोइस ने मत प्रकट किया कि किसी समाज में सामंजस्य बने रहने के लिए तीन पक्ष आवश्यक हैं। इस अवस्था में तीन में से किन्हीं दो में मतभेद होने पर तीसरा अपने दोनों साथियों का दृष्टिकोण एक दूसरे को समझाने के लिए उपस्थित रहता है। रोइस ने इसे व्याख्या समुदाय कहा। उसने हेग के अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय को भी एक प्रकार का व्याख्या-समुदाय कहा। प्रत्येक अदालती कारंवाई की रोइस यही व्याख्या करता था, जिसमें विरोधी पक्षों के बीच सुलह-सफाई अथवा निर्णय करा कर विवाद को समाप्त करने का प्रयास किया जाता है।

रोइस बीमा को भी व्याख्या-समुदाय का ही एक उदाहरण मानता था। इस क्षेत्र में रोइस इतना आगे बढ़ा कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय बीमा के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की एक योजना बनाई। शान्ति-योजना पर विस्तार से विचार किए बिना, यह जान लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि बीमा-कम्पनी किस प्रकार एक विरोध की स्थिति में 'व्याख्या-समुदाय' कायम करने में सफल होती है। मान लीजिए कि 'क' ऐसे काम करता रहता है, जिनमें उसे निरंतर खतरों से सामना करना पड़ता है। 'ख' उस पर निर्भर है। यदि 'क' को सफलता मिलती है, तो 'ख' को लाभ होता है, किन्तु 'क' की असफलता से उसे क्षति होती है। यदि एक तरफ 'क' खतरा उठाने की अपनी प्रवृत्ति पर कायम रहना चाहता है, तो दूसरी तरफ 'ख' हानि उठाने को तैयार नहीं है। 'ग' एक बीमा-कम्पनी है। वह खतरा अपने सिर पर उठा कर 'क' और 'ख' के बीच सामंजस्य कायम रखती है। रोइस कहता है कि इस 'ग' की सहायता से 'क' और 'ख' एक दूसरे के प्रति सहयोग करना सीखते हैं। रोइस ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में 'व्याख्या-समुदाय' पर अधिक बल देना आरम्भ किया और इस प्रकार जीवन की एकता का आदर्श सामने रखा। 'व्याख्या-समुदाय' रोइस की दार्शनिक विचारधारा की चरम परिणति थी।

# परिकाल्पनिक अध्यात्मवाद : जेम्स एडविन क्राइटन

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में अमरीका के दार्शनिक क्षेत्र में कई परिवर्तन हुए। अमरीकी विद्यालयों में दर्शन तथा धर्म-शास्त्र के बीच जो घनिष्ट संबंध था, वह क्रमशः भंग होता गया। इसके कई कारण थे। पहला कारण यह था कि विकासवादी विचारधारा को लेकर जो विवाद उठा, उसमें धर्म-शास्त्र का पक्ष प्रतिपादित करने वालों की निर्णयात्मक पराजय हुई। दूसरे, अमरीकी विद्यालयों में जर्मन विचारधारा का प्रभाव बढ़ता गया। तीसरे, अमरीकी विद्यालयों के अध्यापकों की दिलचस्पी विशुद्ध दर्शन में केन्द्रित होती गई। इन सब प्रवृत्तियों का परिणाम यह हुआ कि संयुक्त राज्य अमरीका के प्रमुख विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में दर्शन को एक ऐसा स्वतंत्र विषय माना जाने लगा, जिसकी पठन-पाठन की अपनी सामग्री थी और जिसके अपने तरीके थे। यह सच है कि देश के कुछ भागों में अभी तक दर्शन को धर्म-शास्त्र के प्रभाव से पूर्ण मुक्ति नहीं मिली है ; किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के साथ ही यह प्रवृत्ति काफी आगे बढ़ गई। इसका परिणाम यह हुआ कि दर्शन को चिन्तन के द्वारा विकास की एक ऐसी स्वतंत्रता मिल गई, जो पहले प्रायः असम्भव ही थी।

इस पृथक्करण के परिणामस्वरूप धार्मिक क्षेत्र के बाहर ऐसी पत्रिकाओं का प्रकाशन अधिकाधिक आवश्यक होता गया, जिनमें अमरीका के लौकिक दार्शनिक अन्य दार्शनिकों को सूचना के लिए अपने विचार प्रकाशित कर सकें। इस दिशा में पहला कदम 'दी सेन्ट लुई जनरल ऑफ स्पेकुलेटिव फिलॉसफी' के द्वारा उठाया गया ; परन्तु पेशेवर दार्शनिकों की पत्रिका १८१९ ई० में ही प्रकाशित हो सकी। इसका नाम था 'इन्टरनेशनल जरनल ऑफ इथिक्स' जिसने अब केवल 'इथिक्स' का नाम धारण कर लिया है। इसके अलावा 'फिलॉसफिकल रिव्यू' नामक पत्रिका की भी स्थापना हुई। इनके अलावा, कुछ ऐसी पत्रिकाएँ भी थीं, जो दार्शनिक अभिरुचि के लेख प्रकाशित करती थीं। इनमें से एक थी फ्रांसिस एलिंगवुड एबट

की 'दी इंडेक्स', जिसका स्वत्वाधिकार बाद पाल कारुस ने ले लिया और उसका नाम बदल कर 'दी ओपन कोर्ट' रखा। कारुस ने एक अन्य उच्चकोटि की दार्शनिक पत्रिका 'दी मोनिस्ट' भी निकाली। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में इस सूची में 'दी जरनल ऑफ फिलॉसफी' का नाम भी जुड़ गया। इन सब तथा बाद की अन्य पत्रिकाओं के प्रकाशन से दार्शनिक विषयों पर विचार-विनिमय का खुला मंच उपलब्ध हो गया। इन प्रकाशनों ने बीसवीं शताब्दी में अमरीकी दार्शनिक विचारधारा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

बीसवीं शताब्दी के शुरू में ही अमरीकी दार्शनिकों की प्रमुख संस्था, अमरीकी फिलॉसफिक असोसिएशन की स्थापना हुई। इससे पूर्व अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी; किन्तु दार्शनिकों के मन में इस प्रकार के संघटन की कोई बात नहीं उठी थी। शुरू में अमरीका के प्रमुख दार्शनिकों ने इस विचार का विरोध भी किया और विरोधियों में विलियम जेम्स भी था; फिर भी असोसिएशन की स्थापना हुई। यह संस्था अपने जन्मकाल से अब तक दार्शनिकों तथा दर्शन के अध्यापकों के मध्य सामाजिक तथा बौद्धिक सम्पर्क की मुख्य माध्यम रही है। कार्नेल विश्वविद्यालय का दर्शन का अध्यापक, जेम्स एडविन क्राइटन इस संस्था का पहला प्रधान निर्वाचित हुआ। क्राइटन ने मार्च, १९०२ में अपना जो अध्यक्षीय भाषण किया, उसमें उसने इस प्रकार की संस्था की आवश्यकता और उसके उद्देश्यों पर प्रकाश डाला। क्राइटन ने विशेषकर दार्शनिकों के निजी सम्पर्क के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला और कहा कि विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के प्रतिनिधियों के मध्य मिलन की विशेष उपयोगिता है। क्राइटन ने विचार व्यक्त किया कि यदि किसी एक ही क्षेत्र में कार्य करनेवाले लोग एक दूसरे का वैयक्तिक परिचय प्राप्त करते हैं, तो इससे पता चलता है कि उनका लक्ष्य समान है, और वे एक दूसरे के सहायक हैं और उनके बीच एकता का एक आधार है। दार्शनिकों के मध्य वैयक्तिक सम्बन्धों के विकास से वे एक दूसरे के दृष्टिकोण को अधिक उत्तमता से समझ सकते हैं। क्राइटन ने कहा कि एक दार्शनिक दूसरे दार्शनिक की प्रकाशित विचारधारा की उपेक्षा कर सकता है; किन्तु जब एक दार्शनिक दूसरे दार्शनिक को अपनी बात समझाने के लिए स्वयं उपस्थित होता है, तो एक दूसरे के विचारों की न उपेक्षा की जा सकती है और न उन्हें गलत ही समझा जा सकता है। क्राइटन ने मजाक में यहाँ तक कह डाला कि दार्शनिकों का मानसिक सन्तुलन कायम रखने के लिए समय-समय पर उन्हें एक दूसरे का विचार जानने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। यद्यपि क्राइटन के इस सुझाव को बाध्यता की सीमा तक कभी

नहीं पहुँचाया गया, फिर भी यह सच है कि अमरीकी दार्शनिक सम्मेलनों में, जिनमें से अनेक 'अमेरिकन फिलॉसफिकल एसोसिएशन' के तत्त्वावधान में होते रहे हैं, विचारों का आदान-प्रदान करने के अभ्यस्त हो गए हैं। अब अपने पक्ष के लिए उनमें हठ पहले से कम है और सहानुभूतिपूर्वक दूसरे के विचारों को जानने और समझने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

एसोसिएशन के प्रथम अध्यक्ष के रूप में दार्शनिक समाज की सेवा करने के अतिरिक्त क्राइटन अनेक वर्ष तक 'फिलॉसफिकल रिव्यू' का सम्पादक अथवा सहायक सम्पादक रहा। स्थापना के समय से ही इस पत्रिका का संबंध कार्नेल की 'सेज' दार्शनिक प्रणाली से सम्बद्ध रहा, जिसका साठ वर्ष तक अमरीकी दर्शन पर उल्लेखनीय प्रभाव रहा। इस प्रणाली का प्रथम अध्यक्ष जैकब गोल्ड शुरमान था, जो कांटीय दर्शन का अनुयायी था। शुरमान ने कार्नेल स्थित इस संस्था को ऐसी विशेषता प्रदान की, जो काफी समय तक जारी रही। शुरमान ने इस दार्शनिक प्रणाली को समीक्षात्मक अध्यात्मवाद का रूप दिया, जिसके परिणामस्वरूप वह बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के मध्य अपना स्थान बना सकी। उसने धर्म के प्रभाव से दर्शन की मुक्ति का स्वागत किया और 'फिलॉसफिकल रिव्यू' की स्थापना में भी सहयोग प्रदान किया, जिससे दर्शन की विशेष खोजों को प्रकाशित किया जा सके। शुरमान ने लिखा—"दर्शन के क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त करने की भावना घर कर गई है और अमरीका में विभिन्न क्षेत्रों में जो विशेष अनुशीलन चल रहे हैं तथा विशेष प्रकाशन हो रहे हैं, इनके लिए हम अपने को बधाई दे सकते हैं ; परन्तु परस्पर सहयोग के बिना दार्शनिक क्षेत्र का विभाजन लाभहीन रहेगा। शुरमान स्वयं बहुत कम लिखता था ; किन्तु उसने जितना भी लिखा, उसमें उसने दर्शन को अन्य क्षेत्रों से स्वतंत्र रखने का दावा उपस्थित किया। उसने डार्विन की विचारधारा के प्रभाव से दर्शन और विशेषकर आचार-शास्त्र को मुक्त रखने के अपने दावे पर विशेष जोर दिया।

अमरीकी विद्यालयों के अध्यक्ष केवल पादरी बनाए जाने का काल क्रमश: समाप्त हुआ और दार्शनिकों को अध्यक्ष बनाने की प्रथा चल पड़ी। १८९२ में शुरमान कार्नेल विद्यालय का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और 'सेज' दर्शन-प्रणाली की अध्यक्षता उसके एक विद्यार्थी जेम्स एडविन क्राइटन को प्राप्त हुई। क्राइटन के नेतृत्व में 'सेज' संस्था की ख्याति को चार चाँद लग गए। १९२४ में मृत्यु के समय तक ३० से अधिक वर्षों की अवधि में क्राइटन और उसके अन्य सहयोगियों ने दर्शन के अनेक श्रेष्ठ अध्यापक तैयार किए। इन अध्यापकों का

प्रभाव देश में चारों तरफ फैल गया। क्राइटन को सेज संस्था के प्रशासनिक कार्य, 'फिलॉसफिकल रिव्यू' के सम्पादन तथा विद्यार्थियों के अध्यापन में उलझे रहने के कारण स्वयं अधिक लिखने का समय न मिल सका। उसने जो कुछ लिखा, उसमें से अधिकांश अन्य दार्शनिक प्रणालियों की आलोचना ही थी। यहाँ हम क्राइटन की दार्शनिक विचारधारा की केवल रूपरेखा ही देंगे ; क्योंकि रूप-रेखा से आगे वह स्वयं ही नहीं बढ़ सका, फिर भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अध्यापक, सम्पादक और प्रशासक के रूप में उसने जो व्यावहारिक कार्य किया, उससे मन, विचार और प्रयोजन-संबंधी उसकी सैद्धांतिक विचारधारा पर सुनिश्चित प्रक श पड़ता है। क्राइटन की दार्शनिक विचारधारा और उसके जीवन में विरोध न था ; किन्तु वे उसके एक ही प्रयास, विचार के समाजीकरण के दो विभिन्न अंग थे।

क्राइटन अपनी प्रणाली को 'परिकाल्पनिक दर्शन' कहता था। अपने दृष्टिकोण की यह व्याख्या कर क्राइटन अपनी विचारधारा का आणविक वस्तुवाद ( Atomic Realism ) अथवा अनुभववादी परम्परा से भेद करता था। उसके मतानुसार आणविक वस्तुवाद में जिन सत्ताओं को मिलाकर दृश्यजगत् बना है, वे स्वयं निरर्थक हैं। इस प्रकार 'आणविक वस्तुवाद' से यह प्रकट है कि कतिपय मान्यताओं के आधार पर किस प्रकार दृश्यजगत् की रचना की जाती है। इन तत्त्वों के मध्य के सम्बन्ध आन्तरिक नहीं हैं, बल्कि उनकी स्थापना बाहर से लाकर की जाती है और फिर बताया जाता है कि इन तत्त्वों का योग संसार की रचना के लिए किस प्रकार किया जाता है। इस प्रकार, प्रकट है कि जितने अर्थ लगाए जाते हैं, वे गोण होते हैं, उन्हें अन्तर्निष्ठ मन द्वारा बाह्य जगत् पर रोपा जाता है। इसके विपरीत परिकाल्पनिक अध्यात्मवाद का दावा यह है और शुरू से यह रहा है कि वस्तुओं की सत्ता तथा उनके अर्थ अविभाज्य हैं। जिस किसी का भी अस्तित्व है, यह सम्बन्धों तथा मूल्यों की एक प्रणाली का अंग है। इस प्रणाली के बाहर किसी का रहना पृथकता के बीच रहना है। यह एक ऐसी कल्पना है, जिसका अनुभव किया जाना कठिन है। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से परिकाल्पनिक अध्यात्मवाद ने मूर्तिमती वास्तविकता के आधार पर स्थिति ग्रहण की और वस्तुओं तथा उनके सम्बन्धों को एक साथ रख कर उन्हें समझने का यत्न किया। हमारा जो भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह 'अर्थपूर्ण संसार' का होता है और परिकाल्पनिक अध्यात्मवाद सत्ता तथा उसकी सार्थकता को कायम रखता है। दूसरे शब्दों में इसका यही अर्थ हुआ कि हम सत्ता से अधिक उसकी सार्थकता

अथवा मूल्य को महत्त्व देते हैं ; क्योंकि सत्ता उसकी सार्थकता में सन्निहित है और किसी वस्तु का आंशिक मूल्य उसकी सत्ता ही है। परन्तु, यदि हम सत्ता से शुरू करें, तो हम मूल्यों का निर्माण नहीं कर सकते और क्राइटन के शब्दों में—"यदि हम सत्ताओं से शुरू करें, तो सार्थकता के पथ पर नहीं पहुंच सकते।"

यद्यपि बर्कले के दर्शन को अध्यात्मवाद कहा गया है ; किन्तु क्राइटन के मत में वह 'आणविक वस्तुवाद' का ही एक मानसवादी रूप है। इसमें यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार मानसिक तत्त्वों से विश्व का निर्माण हुआ है, और दृश्यजगत् के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास नहीं किया गया। बर्कले की विचारधारा का सार यही है कि जिस किसी की भी सत्ता है, वह मानसिक है अथवा मानसिक तत्त्व से निर्मित है। बर्कले का दर्शन वास्तविक अध्यात्मवाद नहीं है, क्योंकि जिस बाह्य वस्तुजगत् को हम अपनी अनुभूति से जानते है, उसकी वास्तविकता को अंतःप्रेक्षण द्वारा समझने का प्रयास करने के स्थान पर, और मानव को होने वाले संसार के अनुभव का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के स्थान पर वह रूढ़िवादी ढंग से अनुभव को मौजूदा प्रत्ययों के रूप में परिवर्तित कर देता है। यह नहीं माना जाता कि वस्तुओं का बाह्य अस्तित्व है ; बल्कि कहा जाता है कि उनका निवास विचारों की दुनिया के बीच है। इस प्रकार, सत्ता को भौतिक-जगत् से उठा कर मानसिक जगत् में ले जाया जाता है ; परन्तु मन तथा उसके विषयों का सम्बन्ध बाह्य तथा यांत्रिक ही माना जाता है। वस्तुओं को बाह्य के स्थान पर आंतरिक कह देने से, सत्ता को भौतिक क्षेत्र से मानसिक जगत् में ले आने से सत्ता को अर्थ में नहीं बदला जा सकता। बर्कले के मत से अनुभव प्रत्ययों का समूह है और प्रत्येक प्रत्यय एक प्रकार की सत्ता है, जब कि परिकाल्पनिक अध्यात्मवाद में अनुभव को अर्थों के विकास की एक प्रणाली माना गया है।

कांट की दार्शनिक स्थिति से यह भ्रम उत्पन्न होता है कि वह भी परिकाल्पनिक प्रयास की ओर झुका था ; किन्तु क्राइटन ने कांट के दर्शन का मूल्यांकन करते हुए कहा कि वास्तव में कांट का झुकाव बर्कले-जैसे वस्तुवाद की ओर था, न कि अध्यात्मवाद की ओर। क्राइटन ने कहा कि कांट ने असम्बद्ध आंतरिक प्रभावों के आधार पर वस्तुनिष्ठ वास्तविकता के निर्माण का प्रयास किया था। क्राइटन का कांट की इस मान्यता से मतभेद था कि ज्ञान के विषय से ज्ञाता का महत्त्व अधिक है। क्राइटन का परिकाल्पनिक अध्यात्मवाद वस्तुतः वस्तुनिष्ठ अध्यात्मवाद था। उसका विचार था कि दर्शन की शुरुआत असम्बद्ध मानसिक अवस्थाओं से न होकर विषयी के विषय के प्रति संबंध से अर्थात् विषयी-विषय-संबंध ( Subject-

object relationship ) के आधार पर होनी चाहिए। विषयी और विषय, मन और प्रकृति दो विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। वस्तुतः अनुभव करने वाले और अनुभव के विषय में अनुभव की एक प्राथमिक द्वैधता है ; क्योंकि अनुभव करने वाले विषयी में संवेदनों ( Sensation ) को ग्रहण करने की एक निष्क्रिय क्षमता ही नहीं है ; बल्कि उसमें विषय को ग्रहण करने की एक सक्रिय भावना भी है। क्राइटन ने राल्फ बार्टन पैरी द्वारा उठाए गए तर्क का उत्तर देते हुए अपनी स्थिति के इस पहलू पर विशेष बल दिया था। परिकाल्पनिक अध्यात्मवाद ने प्रकृति की बाह्य व्यवस्था को कभी पृथक् नहीं माना; क्योंकि वह मन के अहंभाव को स्वीकार नहीं करता। परिकाल्पनिक अध्यात्मवाद इस प्रश्न को निरर्थक समझता है कि मन यथार्थता का ज्ञान किस प्रकार करता है। ज्ञान-मीमांसा के झगड़े में पड़े बिना ही वह मान लेता है कि मन की प्रकृति यथार्थता से संबन्ध बनाए रखने की है। मन और प्रकृति में आंतरिक संबन्ध है। मन का स्वभाव प्रकृति से संबन्ध रखना है। इस पथ पर आगे बढ़ कर क्राइटन ने इस मान्यता पर अधिक बल नहीं दिया कि प्रकृति को भी मन के प्रति सम्बन्ध रखना चाहिए ; किन्तु उसने यह अवश्य कहा कि बाह्य जगत् की प्रकृति ही ऐसी है कि मन उसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वस्तुओं का ज्ञान का विषय होना एक आकस्मिक संयोग नहीं है ; बल्कि यह उनकी मूल प्रकृति में ही निहित है।

इस प्रकार क्राइटन विषयी ( Subject ) और विषय ( Object ) के अन्योन्य सम्बन्ध का कायल था। यदि हम इनमें से एक के प्रति गलत दृष्टिकोण ग्रहण करते हैं, तो दूसरे के प्रति हमारी मान्यता में वैसी ही त्रुटि आ जायगी। क्राइटन ने विषय शब्द का अर्थ बताते हुए लिखा है कि" यह प्रत्ययों तथा सार्वभौम सम्बन्धों के क्षेत्र में व्याख्या की एक प्रक्रिया है। " अनुभव आत्मचेतनायुक्त विषयी की अभिव्यक्ति है। विषयी, जिन मूल्यों तथा उद्देश्यों को स्वीकार करता है, उनसे ही अनुभव को अपनी राह मिलती है और वह निर्दिष्ट दिशा की ओर बढ़ता है। ज्ञाता या विषयी जिन मूल्यों, उद्देश्यों, लक्ष्यों तथा आदर्शों को स्वीकार करता है और जो उसके अनुभव का निर्धारण करते हैं, वे असम्बद्ध ढंग से उठी हुई उसकी आशाएँ अथवा इच्छाएँ ही नहीं हैं। इसके विपरीत वे ऐसी सार्वभौम माँगें हैं, जो सभी ज्ञाताओं को बाध्य करती हैं और जो क्रमबद्ध रूप से एक दूसरी से सम्बन्धित हैं। दूसरे शब्दों में वे एक बौद्धिक व्यवस्था पर आधारित हैं। उसी अनुभव को वास्तविक कहा जा सकता है, जो विवेक और बुद्धि पर आधारित है। इस प्रकार, अनुभव जीवन तो है ही ; किन्तु जीवन से कुछ अधिक भी है।

वह एक ऐसा जीवन है, जिसमें मनुष्य को वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयास निहित है। विषयी-विषय-सम्बन्ध की पृष्ठभूमि बुद्धिवाद की सहायता से तैयार की गई है। बुद्धि और विवेक का प्रवेश होने से यह सिद्ध होता है कि ज्ञाता को जिसका ज्ञान प्राप्त करना है, वह सुव्यवस्थित है।

किसी व्यक्ति का अनुभव जितना विषयी-विषय-सम्बन्ध पर आधारित है, उससे कम आधारित वह अन्य विषयियों ( Subjects ) के प्रति हमारे सम्बन्ध पर नहीं होता। इन दो प्रकार के सम्बन्धों के मध्य सबसे बड़ा भेद यही है कि दूसरे विषयी अथवा ज्ञाता कभी हमारे साधन नहीं बन सकते। वे हमारे साथ समान अनुभव के भागीदार हैं और समान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे हमारे साथ सहयोग करते हैं। दूसरे विषयियों के प्रति इस प्रकार के सम्बन्ध की स्थापना के बिना बुद्धि और विवेक से युक्त जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार विवेकयुक्त जीवन व्यतीत करने के लिए सामाजिक जीवन भी आवश्यक है। इस प्रकार अनुभव आंतरिक होता हुआ भी वस्तुनिष्ठ है। यह अनुभव न क्षणिक होता है और न किसी की मानसिक अवस्था से ही पूर्णतः सीमित रहता है। अनुभव एक विवेकयुक्त व्यवस्था है और इसमें अनेक व्यक्ति भागीदार होते हैं। वस्तुतः अनुभव के तीन रूप होते हैं। अनुभव यथार्थता का प्रकाशन होता है, उससे दूसरे व्यक्तियों के मन का ज्ञान होता है और उससे व्यक्ति को अपनी चेतना का बोध होने में सहायता मिलती है। अनुभव के इन तीन वर्गों में दूसरे का विशेष महत्त्व है। यह बौद्धिक जीवन के सामाजिक अंग का विकास है। क्राइटन की विचारधारा में इसे अधिक प्रधानता दी गई है। क्राइटन का विश्वास था कि बौद्धिक जीवन दूसरों से अलग रह कर नहीं व्यतीत किया जा सकता। इसे एक सामाजिक समुदाय की सदस्यता से ही सफलता मिल सकती है। व्यक्तियों के मन विचारों तथा अर्थों के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। चिन्तन किसी भी अवस्था में एक वैयक्तिक प्रक्रिया नहीं हो कर एक सामाजिक प्रयास है। चिन्तन की सफलता तभी सम्भव है, जब दूसरे मनों से सम्पर्क स्थापित कर उनका सहयोग प्राप्त किया जाय। चिन्तन की परिपक्वता के लिए विचार-विनिमय परम आवश्यक है। क्राइटन के मत में किसी सत्य के प्रमाणीकरण के लिए अनेक मनों का योग जरूरी है।

जिस प्रकार, व्यक्ति के नैतिक तथा सामाजिक रूप का हमने नए सिरे से मूल्यांकन किया है, उसी प्रकार व्यक्ति के दार्शनिक रूप पर भी पुनर्विचार आवश्यक है। हमें यह मान लेना है कि व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए दूसरे व्यक्तियों से आंतरिक सम्बन्ध कायम रखना आवश्यक है। हमें पृथक् व्यक्तित्व के

भाव का भी परित्याग कर देना है और यह स्वीकार करना है कि मनुष्य की पूर्णता व्यापक सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करने पर ही निर्भर है। समाज के बिना व्यक्ति नहीं रह सकता। क्राइटन ने कहा कि किसी के निजी व्यक्तित्व का विचार अस्पष्ट है ; किन्तु उसके सामाजिक व्यक्तित्व का विचार एक ठोस तथ्य है। पृथक् व्यक्तित्व की मान्यता के आधार पर सहयोग के सिद्धान्त का विकास नहीं किया जा सकता। नई मान्यता से व्यक्ति को सामुदायिक सहयोग का अंग बनाया जा सकता है। इस सिद्धान्त के द्वारा व्यक्ति में केन्द्रित मान्यता के आधार पर सामाजिक व्यवस्था का निर्माण नहीं किया जाता ; बल्कि सहयोग के आधार पर ही सहयोग का निर्माण किया जा सकता है।

क्राइटन ने विचार की प्रक्रिया के तीन भाग किए—किसी समस्या का सूत्रपात, प्रत्ययों का एकीकरण तथा प्रमाणीकरण की प्रक्रिया। उसने दावा किया कि यदि हम छानबीन करें, तो इनमें से प्रत्येक क्रिया किसी-न-किसी रूप में अपना सामाजिक पहलू रखती है। प्रत्येक अवस्था में चिन्तन करने वाला अन्य लोगों के मन का उपयोग करता है। समस्याएँ सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम होती हैं। सामाजिक परिस्थिति के कारण हम किसी समस्या का विरोध करते हैं और किसी दूसरी समस्या का महत्त्व अन्य लोगों के मत के कारण हमारे मन में बढ़ जाता है। जब हम किसी समस्या का समाधान निकालने की चेष्टा करते हैं, तो अन्य लोगों ने उस समस्या के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण ग्रहण किए, उनसे मदद मिलती है। समस्या पर जो अंत:प्रेक्षण अथवा मौलिक विवाद होते हैं, उनका भी उसके समाधान पर प्रभाव पड़ता है। इसके उपरान्त, अन्तिम अवस्था अर्थात् प्रमाणीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति से अधिक व्यापक पृष्ठभूमि में परीक्षण के बाद समाप्त होती है। प्रमाणीकरण एक विशुद्ध सामाजिक प्रक्रिया है। चिन्तन की शुरुआत होने पर व्यक्ति का अपने दूसरे साथियों से सम्पर्क कायम होता है। क्राइटन ने चिन्तन के सामाजिक पहलू का इस प्रकार प्रतिपादन किया।

'अमरीकन फिलॉसफिकल असोसिएशन' के प्रथम अध्यक्ष के रूप में क्राइटन को इस आदर्श को प्रतिपादित करने का अवसर मिला था। क्राइटन ने कहा कि यह एक ऐसी विवेकशील संस्था का नमूना है, जिसमें विचारों के आदान-प्रदान के द्वारा स्फूर्तिमय चिन्तन की परम्परा को आगे बढ़ाया जा सकता है। उसने उपस्थित विद्वानों से अनुरोध किया कि उन्हें मिलजुलकर विचार करने की आदत डालनी चाहिए ; क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में बौद्धिक सहयोग के कारण ही

उन्नति सम्भव हो सकी। दार्शनिक क्षेत्र में यह सहयोग दोहरा रूप धारण कर सकता है। प्रथम, दार्शनिकों को विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्तियों द्वारा किए गए कार्यों पर भी विचार करना पड़ता है। इस प्रकार, पिछली दार्शनिक प्रणालियों के अध्ययन से हमें तात्कालिक समस्याओं को समझने में मदद मिलती है। क्राइटन ने यह नहीं कहा कि जो कुछ अतीत में कहा अथवा लिखा गया है, उसे आँख मूँद कर मान लिया जाय ; किन्तु उसने कहा कि " यदि अतीत मृतक है, तो वह जीवित भी है।" उसने यह भी कहा कि हम 'जीवित अतीत' की उपेक्षा नहीं कर सकते। वर्तमान समस्याओं के प्रकाश में ही हम अतीत के 'मृतक तथा जीवित' के मध्य भेद कर सकते हैं। इसके अलावा, दार्शनिक एक पीढ़ी के विद्वानों के मध्य विचार-विनिमय को प्रोत्साहन प्रदान कर, सहयोग के तरीके से लाभ उठा सकते हैं। क्राइटन ने कहा कि किसी पीढ़ी के सभी दार्शनिक एक ही जैसी समस्याओं में व्यस्त नहीं रहते ; किन्तु जिन समस्याओं पर अलग-अलग विचार करते होते हैं, उनके मध्य सम्बन्ध अवश्य रहता है और प्रत्येक पीढ़ी में विचारों की प्रवृत्तियां भी होती हैं। यदि हम इन प्रवृत्तियों के भीतर रह कर कार्य नहीं करते, तो हमें सफलता नहीं मिलती। क्राइटन ने कहा कि दार्शनिक क्षेत्र में निश्चित सिद्धान्तों से परिणामों पर पहुँचने की प्रणाली का जितना ही त्याग किया जाता है और अनुभव से प्राप्त तथ्यों के परीक्षण से परिणामों पर पहुँचने की प्रणाली को जितना ही अपनाया जाता है, उतनी ही दार्शनिकों के एक साथ कार्य करने की आवश्यकता प्रकाश में आती है। किसी एक व्यक्ति के लिए जो कार्य कठिन जान पड़ता है, वही एक समुदाय के लिए अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। 'अमरीकन फिलॉसफिकल असोसिएशन' से क्राइटन को ऐसी बौद्धिक संस्था होने की आशा थी।

क्राइटन की आलोचना की गई कि मन के सामाजिक पहलू तथा अनुभव का बटवारा. हो सकने पर उसने अत्यधिक बल दिया और व्यक्ति के आन्तरिक जीवन की कोटि को उसने पर्याप्त महत्व नहीं दिया। क्राइटन ने इस बात पर बल दिया कि दर्शन और विज्ञान के मध्य एक बहुत बड़ा अंतर यह है कि दर्शन के क्षेत्र में व्यक्ति के अनुभव का सम्बन्ध उसकी चेतना से रहता है ; परन्तु, क्राइटन के विचार में किसी ज्ञाता का आन्तरिक जीवन केवल आत्मनिष्ठ नहीं होता ; बल्कि उसका सम्बन्ध बाहर की वस्तुओं तथा दूसरों के मनों से भी होता है। वास्तविक आन्तरिक जीवन विवेक पर आधारित है, जिसमें अन्य वस्तुओं तथा अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध भी सम्मिलित है। क्राइटन की विचारधारा ज्ञान के

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से प्रभावित नहीं थी, जिसमें पृथक् मानसिक अवस्थाओं की मान्यता दी जाती थी।

क्राइटन के विचार में मनुष्य में ज्ञान अर्जित करने की जो पिपासा है, वह परोक्ष रूप से विवेकपूर्ण जीवन की ही माँग है और अनुभव वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा यह मांग तुष्ट होती है। उसने कहा कि ज्ञानमय जीवन की प्राप्ति चिन्तन तथा अर्जित ज्ञान की व्याख्या द्वारा हो सकती है। क्राइटन के विचार में ज्ञान का जीवन भावना के जीवन से कहीं उत्तम है ; क्योंकि मनुष्य जो ज्ञान अर्जित करता है, वह उसके सार्वभौम ज्ञान का अंग होता है। मनुष्य विवेकपूर्ण जीवन-सम्बन्धी अपनी माँग को बौद्धिक निर्णय से पूरी करता है। निर्णयात्मक बुद्धि तथा चेतना प्रायः एक-जैसी ही कल्पनाएँ हैं। इस मान्यता के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि चेतनामय जीवन एक सतत जारी रहने वाली निर्णयात्मक प्रक्रिया है, जो तात्कालिक मानसिक अवस्थाओं को केवल सार्थक ही नहीं बनाती ; बल्कि हमारे ज्ञान को परिमार्जित भी करती है। परन्तु, कोई भी निर्णय सुसम्बद्ध तथा पूर्ण नहीं होता और इस प्रकार विश्लेषण तथा निर्णय की प्रक्रिया आगे भी जारी रहती है। हम एक समय जो निर्णय कर डालते हैं, वह कभी असम्बद्ध अथवा अपने में पूर्ण नहीं होता, बल्कि वह एक ऐसा साधन होता है, जिससे हम बौद्धिक जीवन के अपने चरम लक्ष्य की तरफ बढ़ते हैं। इस प्रकार, क्राइटन ने अपनी दार्शनिक विचारधारा में अभिप्राय अथवा प्रयोजन को महत्त्व प्रदान किया।

क्राइटन आधुनिक अध्यात्मवाद की परम्परा में रोइस तथा अन्य-अन्य विचारकों के साथ सामाजिक आदर्श में विश्वास करता था। उसका बाउन तथा अन्य उन लोगों से मतभेद था, जो वैयक्तिक सादृश्य को यथार्थता का आधार मानते थे। परन्तु, क्राइटन का अध्यात्मवाद प्रकृतिवाद के बिल्कुल निकट पहुँच गया था। क्राइटन के दृष्टिकोण में फिर भी यह भेद था कि वह मन की विशेष स्थिति को तथा सत्ता तथा मूल्यों से उसके सम्बन्ध को मान्यता प्रदान करता था। ऐसा आंशिक रूप से 'सेज' प्रणाली के कारण और आंशिक रूप से क्राइटन की लौकिक विचारधारा के कारण था। मुख्य कारण चाहे जो रहा हो, क्राइटन की मान्यताओं से प्रकट हो गया कि २०वीं शताब्दी के अमरीकी अध्यात्मवाद ने एक ऐसा मोड़ लिया, जिसे परिकाल्पनिक दर्शन के विकास का पूर्व लक्षण कहा जा सकता है।

# ७

# व्यवहारवाद का क्षेत्र

# पद्धति अथवा मानसिक प्रवृत्ति

हमने यहां जितने दर्शनों पर विचार किया है, उनमें से व्यवहारवाद (Pragmatism) का दृष्टिकोण बहुतों को विशिष्ट अमरीकी दृष्टिकोण प्रतीत हो सकता है। यह मत व्यवहारवाद अथवा व्यवहारवादी दृष्टिकोण की प्रशंसा के रूप में शायद ही कभी प्रकट किया जाता रहा है। यह मत विशेष रूप से इसलिए प्रकट किया जाता रहा है कि व्यवहारवाद में परम्परागत दार्शनिक मान्यताओं से सम्बन्ध-विच्छेद करने का आग्रह होता है और उसमें विश्लेषण कर परिणाम तक पहुँचने का धैर्य नहीं रहता। यही नहीं, उसमें शताब्दियों की परम्परा को भंग कर मानव के मन का महत्त्व कम कर दिया गया है और डार्विन के बाद विकसित होने वाली जीव-विज्ञान-सम्बन्धी परिवर्तन तथा विकास की मान्यताओं को प्रमुख स्थान दिया गया है।

जॉन्स हपकिन्स विश्वविद्यालय में दर्शन के अध्यापक, आर्थर ओ० लवजॉय ने, जो समीक्षावादी वस्तुवाद ( Critical realism ) पर आस्था रखता था, व्यवहारवाद की सब से उल्लेखनीय आलोचना लिखी है। उसने बताया है कि 'प्रैग्मैटिज्म' शब्द का इतने विवेकहीन ढंग से प्रयोग किया गया है कि १९०८ में ही उसे १३ विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता था। यह सच है कि लवजॉय ने इस शब्द के अर्थों में जिन अनेक भेदों का उल्लेख किया, उनमें से अनेक महत्त्वपूर्ण नहीं थे ; फिर भी इस प्रकार की आलोचना होना इस तथ्य का प्रमाण है कि व्यवहारवादी लेखक इस शब्द का प्रयोग करने में बहुत सावधान नहीं थे।

हम व्यवहारवाद को एक दृष्टिकोण से विशुद्ध अमरीकी विचारधारा भी कह सकते हैं और ऐसा करते समय हमारा इरादा उसकी निन्दा अथवा स्तुति करने का नहीं रहता। इस तथ्य को विस्तार से प्रकट करने के लिए हमें अमरीकी संस्कृति के मूल तत्त्वों की बहस में पड़ना होगा और इस मान्यता पर

भी बल देना होगा कि व्यवहारवाद अमरीका के सांस्कृतिक ढांचे का दार्शनिक प्रतीक है। इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में जाना, हमारे लिए आवश्यक नहीं है; किन्तु इस विचार की पुष्टि के लिए एक उदाहरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा। अमरीका का समाज सुनिश्चित वर्गों में नहीं बँटा है। यह एक ऐसा समाज नहीं है, जिसमें किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अपने पुरखों की सामाजिक स्थिति से भिन्न नहीं रह सकती हो। अमरीका में किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसकी अपनी सफलताओं अथवा असफलताओं का परिणाम होती है, उसके पुरखों की स्थिति का परिणाम नहीं होती। अमरीका के सामाजिक जीवन में बौद्धिक तथा शारीरिक कार्यों के बीच सुनिश्चित दीवार भी नहीं मिलती। प्रत्येक व्यक्ति को कम या अधिक मात्रा में शारीरिक तथा मानसिक दोनों कार्यों के लिए तैयार किया जाता है। मताधिकार के विस्तार का राजनीतिक परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने तथा अपने समाज के कल्याण के हित में निश्चय कर सकता है। इस परम्परा में 'स्पॉइल'[1] प्रणाली के कारण कुछ दोष आ गया था; क्योंकि उसके अन्तर्गत यह मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति किसी भी सरकारी पद के लिए समान रूप से योग्यता रखता है। फिर भी कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अमरीका के जीवन में बौद्धिक तथा व्यावहारिक पहलू एक दूसरे से घुले-मिले ही रहे हैं।

इस प्रकार प्रकट है कि किसी अमरीकी दार्शनिक की विचारधारा के शास्त्रीय होने का यह मतलब नहीं कि वह साधारण जीवन से अलग अपने दार्शनिक ग्रन्थों के ही बीच रहा है। उसका सम्पर्क साधारण जीवन से कम नहीं रहा और वह खेत, कारखाने तथा बाजार से भी परिचित रहा है। उसकी खेत, कारखाने तथा बाजार की जानकारी केवल कृषि-उद्योग अथवा वाणिज्य-सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन पर ही आधारित नहीं रही। इसलिए, यदि व्यवहारवादी दार्शनिक अपने विचारों को व्यावहारिक जीवन के निकट रखते हैं, तो ऐसा कर वे अमरीकी व्यवहार-बुद्धि से कहीं अधिक अपनी दार्शनिक विचारधारा में व्यावहारिक तथा बौद्धिक जीवनों के समन्वय का परिचय देते हैं।

सच तो यह है कि अमरीकी दार्शनिकों में व्यवहारवाद का विकास उनकी

---

१. स्पॉइल-प्रणाली ( Spoil system ) अमरीकी राजनीति में किसी राजनीतिक दल द्वारा सत्ता प्राप्त होने के बाद अपने अनुयायियों में सरकारी पदों के बँटवारे को कहा जाता रहा है। —अनुवादक

विशेष मानसिक प्रकृति के कारण हुआ, जो एक सीमा तक उस संस्कृति का परिणाम थो, जिसमें वे हुए थे। एक नर्म विचार वाले व्यवहारवादी एच० हीय वावडेन ने लिखा था—"आखिर लोकतंत्र की भावना ने दार्शनिकों को स्पर्श ही कर लिया। नया दर्शन व्यवहारवाद इस बात का लक्षण है कि लोकतंत्री आदर्श हमारी विचारधारा तथा हमारे आचरण दोनों में परिवर्तन करके रहेगा।" हम ऐसे दार्शनिकों के वक्तव्यों में व्यवहारवादो उक्तियां पाते हैं, जो अपने को व्यवहारवादी कहे जाने पर आपत्ति करते। ऐसे एक दार्शनिक केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के जोसेफ ली कोंटे थे, जो जोसिया रोइस के गुरु थे। इन्होंने कहा था —"मानव-प्रगति के इतिहास में जिसकी मान्यता अथवा सिद्धान्त ने मानव-समाज की उन्नति में हाथ बटाया, उसमें उस के उपयोगी होने के कारण सत्य का अंश अनिवार्य रूप से वर्तमान था।" हमें व्यवहारवाद की झलक जोनेथन ऐडवर्ड्स, बेंजामिन फ्रैंकलिन, राल्फ वाल्डो इमर्सन तथा अन्य अमरीकी विचारकों के मतों में भी एक हद तक मिलती है। हम यह भी कह सकते हैं कि व्यवहारवाद का विकास अमरीका में हुआ और अमरीका के बाहर इस विचारधारा को बहुत ही कम समर्थन प्राप्त हुआ।

जॉन डिवी ने अमरीका में व्यवहारवाद के विकास के सम्बन्ध में लिखा है। इसमें उसने विलियम जेम्स के मत का उल्लेख किया है कि व्यवहारवाद वस्तुतः एक पुरानी विचारधारा का नाम है। जेम्स ने यहां व्यवहारवाद के जिस पुरानेपन की चर्चा की, वैसा करते समय उसने अंग्रेज दार्शनिक फ्रांसिस बेकन ( १५६१–१६२६ ) की ब्रिटिश अनुभववाद की देन को स्मरण किया था। जहां तक बेकन की देन का सम्बन्ध है, हम निश्चित रूप से कुछ भी कहने में असमर्थ हैं ; परन्तु डिवी के इस मत की सत्यता से इनकार नहीं किया जा सकता कि ब्रिटिश अनुभववाद ने अमरीकी व्यवहारवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है। परन्तु, अनुभववाद तथा व्यवहारवाद के दृष्टिकोणों में एक मूल भेद है। जब कि ब्रिटिश अनुभववाद का सम्बन्ध मुख्यतः इस बात से रहा है कि अनुभवों के परीक्षण से सामान्य सिद्धान्तों का विकास किया जाय, वहां व्यवहारवाद का सम्बन्ध सामान्य सिद्धान्तों के विकास से कहीं अधिक इन सिद्धान्तों में हमारे विश्वास के परिणामों से रहा है। ब्रिटिश अनुभववाद हमारे मानसिक जीवन के मूल तत्त्वों से सम्बन्ध रखता है। ब्रिटिश अनुभव-वादियों की मुख्य समस्या यह रही है कि हमारी मानसिक अवस्थाओं का बाह्य यथार्थता से क्या सम्बन्ध है। उनकी धारणा रही है कि हमारे प्रत्ययों

में इस यथार्थता का चित्र उतर आता है और प्रत्ययों पर मानसिक क्रिया के प्रभाव के परिणामस्वरूप हम बाह्य जगत् का नियंत्रण करने में समर्थ हो जाते हैं। फ्रांसिस बेकन ने कहा है कि ज्ञान ही शक्ति है ; किन्तु ज्ञान और शक्ति के बीच सम्बन्ध का विकास किस प्रकार होता है और हमारे प्रत्ययों तथा दृश्य-जगत् के बीच किस प्रकार सम्बन्ध कायम होता है—यह हमारी एक चिरन्तन समस्या है। यदि यह माना जाय कि हमारे प्रत्ययों के बाहरी दुनिया से सम्बन्ध का ही नाम सत्य है और यदि हम वस्तुओं के प्रति अपने विचार को ही जान सकते हैं और उन वस्तुओं की वास्तविकता को नहीं, तो हम यह किस प्रकार जानेंगे कि हमारे विचार वास्तविक हैं ? यदि कतिपय प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर बनाए गए सामान्य सिद्धान्तों का परिणाम भी अनिश्चयात्मक ही कहा जायगा, तो हमारी निश्चयात्मकताएँ, तथा हमारे पूर्ण सत्य आखिर कहाँ मिलेंगे ? ब्रिटिश अनुभव-वादी दार्शनिक विचारधारा में इस प्रकार की समस्याएँ अनेक रही हैं।

विचार के कुछ क्षेत्र ऐसे हैं कि ज्ञान के आधार के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण चाहे जो क्यों न हो, हम इस सम्बन्ध में उठे सन्देहों को अपने कार्य की दिशा को अवरुद्ध नहीं करने देना चाहते। आचार-शास्त्र इसी प्रकार का एक क्षेत्र है। आचार-सम्बन्धी ज्ञान के सम्बन्ध में चाहे जो सन्देह उठे हों ; किन्तु हमें अपने आचरण अथवा कार्य की दिशा के सम्बन्ध में निर्णय कर लेना चाहिए। यदि ब्रिटिश दार्शनिकों ने एक तरफ ज्ञान के एक संशयवादी सिद्धान्त का विकास किया, तो दूसरी तरफ उन्होंने उपयोगितावादी दृष्टिकोण को अपनाया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने नैतिक कार्य के आधार के विश्लेषण का स्थान उस कार्य के परिणाम के मूल्यांकन को दिया। इसी प्रकार, ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने अपनी बौद्धिक प्रक्रियाओं के औचित्य तथा उनकी निश्चयात्मकता के प्रश्न को अधिक महत्त्व नहीं दिया, और जिन मान्यताओं पर वे प्रक्रियाएँ आधारित थीं, उनके प्रमाणीकरण में वे लग गए। अमरीका के व्यवहारवादी अनुभववादियों ने एक तरफ उपयोगितावादियों के तरीके को मान्यता प्रदान की, तो दूसरी तरफ उन्होंने वैज्ञानिकों के प्रयोग के तरीके को स्वीकार कर ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त अर्थात् यथार्थता-सम्बन्धी विचारधारा के मार्ग में पड़े रोड़े को हटाने का प्रयास किया। व्यवहारवादियों ने निरपेक्ष सत्य की खोज के मार्ग पर भटकने अथवा ज्ञान के आधार के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं अनुभव की। उन्होंने ब्रिटिश अनुभव-वादियों के समीक्षात्मक तरीके का परित्याग कर अपना ध्यान नियंत्रण के साधन के रूप में विचारों पर तथा विश्वास के परिणाम पर केन्द्रित किया। एडीसन

डब्ल्यू० मूर ने, जो चिकागो विश्वविद्यालय में जॉन डिवी के विद्यार्थियों में था, कहा कि व्यवहारवाद पुरानी विचारधारा के लिए नया नाम अवश्य है ; किन्तु वह दार्शनिक क्षेत्र की नहीं, बल्कि वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक क्षेत्र की पुरानी चिन्तन-प्रणाली है। परिणाम की चिन्ता वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक क्षेत्र में शुरू से की जाती रही है ; किन्तु दर्शन के क्षेत्र में यह उतनी पुरानी अथवा सार्वभौम नहीं रही है।

अमरीका में व्यवहारवाद के विकास के इतिहास में चार व्यक्तियों के नाम प्रसिद्ध रहे हैं—चार्ल्स सेंडर्स पियर्स, विलियम जेम्स, जार्ज हर्बर्ट मीड और जॉन डिवी। डिवी ने 'प्रयोगवादी प्रकृतिवाद' की व्यापक विचारधारा में व्यवहार-वादी तरीके का समावेश किया। डिवी की देन पर हम विस्तार से आगे ( अध्याय ९, प्रयोगात्मक प्रकृतिवाद : जॉन डिवी ) विचार करेंगे और यहाँ पर हम उसके कार्य की केवल प्रसंगवश चर्चा करना चाहते हैं। पियर्स, जेम्स तथा मीड की भी चर्चा आगे होगी। जेम्स ने, जिसे 'प्रैग्मैटिज्म' शब्द को लोकप्रिय बनाने का श्रेय प्राप्त है और जो अपनी विचारधारा को 'उग्र अनुभववाद' बताता था, कहा था कि व्यवहारवाद का मुख्य सिद्धान्त पियर्स ने निश्चित किया था। पियर्स ने यह श्रेय चांसी राइट को दिया और कहा कि बेन ने जो व्याख्या की, उससे भी व्यवहारवाद का स्वरूप निश्चित करने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

व्यवहारवाद का जन्म कुछ लोगों के विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप हुआ, जो बोस्टन तथा केम्ब्रिज में १८७० में बहुधा, किन्तु निजी तौर पर मिला करते थे। पियर्स ने इस समुदाय को मेटाफिजिकल ( तत्त्व-मीमांसा-सम्बन्धी ) क्लब का नाम दिया ; किन्तु बाद के लोगों का कहना है कि इस नाम के अनुरूप क्लब का संघटन नहीं किया गया। पियर्स का कहना था कि इस क्लब का सब से उत्साही सदस्य राइट था। उसके बाद स्वयं पियर्स और तब फ्रैंक एबट, विलियम जेम्स तथा अन्य लोग आते हैं। फ्रैंक एबट से मतलब फ्रांसिस एलिंगवुड से है, जो वैज्ञानिक यथार्थवादी था। ( देखिए अध्याय ५, वैज्ञानिक वस्तुवाद : फ्रांसिस एलिंगवुड ) इनके अलावा कुछ अन्य लोग भी थे। निकोलस सेंट जॉन ग्रीन के सिवा इनमें जॉन फिस्क था, जिसने स्पेन्सर की विचारधारा पर चलकर ब्रह्मांडीय सिद्धान्त का विकास किया था। ( देखिये अध्याय ५, ब्रह्मांडदर्शन : जॉन फिस्क ) ओलीवर वेंडेल होम्स भी गृहयुद्ध से लौटने के बाद इस समुदाय में सम्मिलित हुआ था, जिसे आगे जाकर मैसेचुसेट्स के उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश तथा अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश होना था। इन

सभी युवकों को यश के उच्च शिखर पर आगे जाकर पहुँचना था ; किन्तु समुदाय में सम्मिलित होने के समय उनकी बौद्धिक प्रखरता प्रकट होने लगी थी। पियर्स का कहना है कि इसी समुदाय में 'प्रैग्मैटिज्म' शब्द का जन्म हुआ।

कहा जा सकता है कि व्यवहारवाद में अन्य अनुभववादी प्रणालियों की कठिनाइयों से बचते हुए, चिन्तन तथा ज्ञान के स्थानों के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया। उपयोगितावादी आचार-शास्त्र तथा वैज्ञानिकों की सामान्य प्रणाली के अलावा व्यवहारवादियों को चार्ल्स डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त से भी प्रेरणा मिली। जैसा कि हम बता चुके हैं, डार्विनवाद का एक परिणाम यह हुआ कि उससे रचना की अपेक्षा रचना की प्रक्रिया की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। विकासवादी वैज्ञानिक के लिए विचार-क्रिया एक ऐसा आचरण था, जो मनुष्य के लिए अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए आवश्यक था। दार्शनिक विचारधारा की प्रगति के लिए यह बहुत ही आवश्यक था, क्योंकि इस तरह चिन्तन एक प्राकृतिक प्रक्रिया मानी गई और शुरू के दार्शनिकों को ज्ञान की प्रकृति के निर्धारण में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, उनसे छुटकारा हो सका।

परन्तु, चिन्तन के विकासवादी स्वरूप में एक बहुत बड़ी कमी थी। यदि विचारक्रिया अथवा चिन्तन का उद्देश्य अपना अस्तित्व बनाए रखना था और चिन्तन मनुष्य के लिए वैसी ही स्वाभाविक प्रक्रिया थी, जैसी उड़ना पक्षियों के लिए, तो यह मान्यता हमें इस परिणाम पर ले जाती है कि चिन्तन का उद्देश्य प्रकृति का उद्देश्य है और चिन्तन की प्रक्रिया मानव मन के भीतर अवचेतन के रूप में होती है। दूसरे शब्दों में मनुष्यों का अपनी विचार-शक्ति पर कोई नियंत्रण नहीं है और वे प्रकृति के इशारे पर नाचते हैं। डार्विन की विकासवादी विचारधारा के परिणामस्वरूप परिवर्तन की महत्ता सिद्ध हुई ; किन्तु यदि मनुष्यों का अपने उद्देश्यों पर नियंत्रण नहीं है, तो इसका यही मतलब हुआ कि डार्विन द्वारा निर्दिष्ट परिवर्तन पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं।

व्यवहारवादियों ने एक ऐसा रास्ता निकाला, जिस पर चल कर उद्देश्यपूर्ण चिन्तन की मान्यता से इनकार न करते हुए और उस पर मानव का नियंत्रण स्वीकार करते हुए डार्विन की स्थिति पर कायम रहा जा सकता है। एडीसन मूर ने प्रश्न उठाया कि विकासवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत हम ऐसे चिन्तन की मान्यता पर पहुँच सकते हैं, जिसका परिणाम उद्देश्यपूर्ण हो सकता है। इतना तो माना ही जा सकता है कि अस्तित्व के लिए संघर्ष करने वाली जातियों में कम-से-कम एक जाति तो ऐसी अवश्य बचेगी, जिसका चिन्तन उद्देश्यपूर्ण

होगा और जो संसार में नवीनता की सृष्टि कर सकेगी। यदि उद्देश्यपूर्ण चिन्तन को स्वीकृति मिल जाती है, तो यह भी कहा जा सकेगा कि चिन्तन प्रतिनिधिक नहीं होकर रचनात्मक होगा। इस चिन्तन अथवा विचार का विकासवादी परिस्थिति में विशेष महत्त्व होना अनिवार्य है। विचारों का रचनात्मक पहलू इस तथ्य से प्रकट होता है कि किसी विशेष परिस्थिति के मूल तत्त्वों में परिवर्तन से एक ऐसी नई परिस्थिति का जन्म होता है, जो मानवीय आवश्यकता की तुष्टि में अधिक समर्थ होती है। आदर्श परिस्थिति का विकास अनेक परीक्षणों के बाद होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी अनुभव की गई परिस्थिति के मूल तत्त्वों को मिला कर चिन्तन एक नई परिस्थिति को जन्म देता है, जिससे हमारे अनुभव में नवीनता आती है। उद्देश्यपूर्ण चिन्तन प्रक्रिया के बीच की एक अवस्था होती है और व्यवहारवादी विचारकों के मत में इसे समस्या का समाधान निकालने वाली अर्थात् अन्वेषण की अवस्था कहा जा सकता है।

व्यवहारवादियों ने इस बात पर जोर दिया कि विचार सक्रिय है। हमारे प्रत्यय ज्ञान के विषय को निष्क्रिय रूप में प्रतिविम्बित नहीं करते। व्यवहार-वादियों के मतानुसार तथ्य अपने ज्ञात होने की प्रक्रिया के बीच ही तथ्य का रूप धारण करते हैं। ज्ञाता तथा उसके ज्ञान के विषय की एक विशेष अन्योन्य क्रिया का नाम ही तथ्य है। परन्तु, यह मतलब नहीं कि मन शून्य से तथ्यों को उत्पन्न कर देता है। व्यवहारवादी चरम अध्यात्मवादी स्थिति से दूर रहे। उनका तात्पर्य केवल इतना ही था कि एक सीमा तक तथ्य ज्ञात होने की क्रिया में परिवर्तित होते हैं। इस स्थल पर व्यवहारवादियों तथा 'नव्य वस्तुवादियों' के बीच विवाद उठ खड़ा हुआ (देखिए अध्याय ८)। नव्य वस्तुवादियों का कहना था कि तथ्यों में प्रत्ययों के कारण इतना ही परिवर्तन होता है कि किसी विशेष परिस्थिति में विचार का योग हो जाता है। परन्तु, जिन वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार होता है, उनके स्वरूप में विचार की प्रक्रिया से कोई परिवर्तन नहीं होता। इस तर्क का व्यवहारवादियों ने बावडेन के शब्दों में इस प्रकार उत्तर दिया—"यदि (तथ्यों के) ज्ञान से तात्पर्य तथ्यों से सम्पर्क स्थापित करने तथा उनका व्यावहारिक उपयोग करने से कुछ अधिक है, तो कहा जा सकता है कि ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया ज्ञान प्राप्त करने से कुछ अधिक है—उसकी भूमिका तथ्यों की रचना करने तथा उन्हें सुनिश्चित रूप देने में रहती है।" तथ्यों की पुनः रचना करने तथा उन्हें विशेष मूल्य देने की प्रक्रिया का ही विचार एक अंग है।

वस्तुवादी का तर्क है कि यथार्थता का अस्तित्व उसके ज्ञान पर निर्भर नहीं है। अध्यात्मवादी उत्तर देता है कि किसी-न-किसी रूप में ज्ञान से परे यथार्थता का अस्तित्व नहीं है। यदि वह आत्मनिष्ठ अध्यात्मवादी है, तो वह कहेगा कि मन से परे कुछ यथार्थता नहीं है। यदि वह निरपेक्ष अध्यात्मवादी है, तो कहेगा कि निरपेक्ष मन से परे कुछ भी यथार्थता नहीं है। यदि वह वस्तुनिष्ठ अध्यात्मवादी है तो यथार्थता मनों के समुदाय के बाहर नहीं हो सकती। व्यवहारवादी का उत्तर है कि यथार्थता न तो पूर्णतः एक भौतिक तथ्य है और न पूर्णतः मानसिक तथ्य ; किन्तु उसमें दोनों का ही समावेश है। यथार्थता ( व्यवहारवादी इसके लिए अधिकतर परिवर्तन शब्द का प्रयोग करते हैं ) परिवर्तन है। यथार्थता गति, प्रक्रिया तथा परिवर्तन में निहित है। भौतिक तथ्य व मानसिक तथ्य और ज्ञान का विषय व ज्ञान दोनों का प्रक्रिया में योग रहता है। विषय को ज्ञान के क्षेत्र में लाकर चेतना ला देना ही यथार्थता है। चूँकि प्रत्यय प्राप्त करने अथवा विचार का सम्बन्ध व्यवहारवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत किसी समस्या के उठने अथवा अवरोध से है ; इसलिए व्यवहारवादियों ने विषय (Object) को उसका शब्द-विज्ञान-सम्बन्धी अर्थ 'अवरोध' प्रदान किया। हमें जो कुछ भी अवरोधक अथवा वाह्य जान पड़ता है, वही हमारे नियंत्रण के परे है। व्यवहारवादियों में अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध हेनरी वाल्डग्रेव स्टुअर्ट ने कहा कि यह विचार हमारे अनुभव में कुछ असंतोषप्रद है, उससे ज्ञाता तथा ज्ञान के विषय में भेद करना आवश्यक हो जाता है और उसी से इस मान्यता की भी पुष्टि होती है कि विषय विषयी से भिन्न है और इसीलिए वह असंतोष को जन्म देता है। जान डिवी ने कहा है कि विषय में चेतना की स्थापना करने अथवा उसे जानने का मतलब यही हुआ कि विषय विषयी से प्रभावित हुआ है और उसमें चेतना का संचार हुआ है। दूसरे शब्दों में ज्ञान असंतोषजनक यथार्थता से संतोषजनक यथार्थता में परिवर्तन का एक साधन है।

सत्य तो यह है कि व्यवहारवाद ने दर्शन को दार्शनिकों का विषय नहीं रहने दिया और उसे मनुष्यों की समस्याओं के समाधान का साधन बना दिया। व्यवहारवादी दृष्टिकोण के अनुसार किसी भी सिद्धान्त का परीक्षण उसके परिणामों का मूल्यांकन करने से ही सम्भव है। इस पृष्ठभूमि में व्यवहारवाद के कुछ ऐसे परिणामों पर विचार करना आवश्यक है, जो मनुष्यों की समस्याओं पर लागू होते हैं। इस तरह, हमें व्यवहारवाद की सफलता का मूल्यांकन उसे एक ऐसी कसौटी पर कस कर करना है, जो स्वयं व्यवहारवादियों को मान्य

हो। हमें देखना है कि बीसवीं शताब्दी की समस्याओं का समाधान निकालने में व्यवहारवाद से क्या मदद मिलती है और अमरीका के जीवन के किन क्षेत्रों में व्यवहारवाद की कार्यान्विति सफलतापूर्वक हो चुकी है।

शिक्षा के क्षेत्र में व्यवहारवाद के उपयोग पर हम विशेष रूप से विचार करेंगे। इसका एक कारण यह है कि इस क्षेत्र में डिवी ने विशेष अध्ययन किया और दूसरे यह कि शिक्षा को व्यवहारवाद की जो देन रही है, उसका व्यापक रूप से प्रचार हुआ है। परन्तु, इस प्रसंग में यह बता देना उचित होगा कि अमरीका की प्रगतिशील शिक्षा के सभी अंग डिवी के विचारों अथवा व्यवहारवाद से प्रभावित नहीं हैं। शिक्षा के क्षेत्र में व्यवहारवाद से प्रभावित होने का मतलब यही है कि शिक्षा की किसी विशेष प्रणाली को न तो बालक पर ऊपर से लादा जायगा और न बालक को शिक्षा के क्षेत्र में अपना मार्ग स्वयं खोजने के लिए निर्द्वन्द्व छोड़ दिया जायगा। शिक्षा के क्षेत्र में एक पुराना सिद्धान्त यह था कि शिक्षार्थियों पर ऊपर से कड़ा नियंत्रण रखा जाय। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विद्यालय अपने को एक विशेष ढांचे में ढालने के लिए विवश हो जाते थे। दूसरा सिद्धान्त, जिसे प्रगतिशील कहा जाता रहा है, यह है कि बालक के व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर मिलना चाहिए और शिक्षा के क्षेत्र में नियंत्रण को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। इन परस्पर विरोधी शिक्षा-प्रणालियों के मध्य में व्यवहारवादी प्रकार की प्रगतिशील शिक्षा-प्रणाली है, जिसका झुकाव उपर्युक्त दोनों प्रणालियों में से दूसरी की ओर कुछ अधिक है। व्यवहारवादी शिक्षा में बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का ध्यान रखते हुए उसकी अनुभूति को पथ-निर्देश करने की चेष्टा की जाती है। जब बाह्य नियंत्रण को अवांछनीय समझ कर त्याग दिया जाता है, तो उन तत्त्वों को जानने का प्रयास किया जाता है, जो अनुभव के भीतर निहित होते हैं। बालक की उन्नति के लिए उस पर वयस्कों का मापदंड लादने के स्थान पर बाह्यजगत् के प्रति बालक के सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए, उसके व्यक्तित्व के विकास की चेष्टा की जाती है; किन्तु यह सावधानी रखी जाती है कि बालक की उम्र तथा उसके मानसिक विकास के अनुरूप ही उसके व्यक्तित्व का विकास किया जाय। ऊपर से अनुशासन लादने के स्थान पर मुक्त प्रक्रिया को अधिक उत्तम माना जाता है; किन्तु 'मुक्त' से तात्पर्य यह नहीं है कि अराजकता का विकास होने दिया जाय। उद्देश्य यह है कि अध्यापक के निर्देशों पर चलने के स्थान पर स्व-संचालित प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया जाय और अध्यापक इस प्रक्रिया का नियंत्रण न कर, केवल उसे प्रोत्साहित करे।

व्यवहारवादी शिक्षा-प्रणाली में दूसरों से व्याख्यान सुनने अथवा पाठ्य-पुस्तकें रखने के स्थान पर अनुभव के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने को प्रोत्साहित किया जाता है। परन्तु, इसका यह मतलब नहीं कि सभी प्रकार का अनुभव समान रूप से शिक्षाप्रद होता है। कुछ अनुभव आगे के अनुभव को प्रेरित करते हैं और कुछ उन्हें रोकते हैं और केवल उन्हीं अनुभवों को शिक्षाप्रद कहा जा सकता है, जो आगे के अनुभव की ओर प्रेरित करते हैं। अनुभव की आवश्यकता अथवा केवल उसकी प्रक्रिया ही महत्त्वपूर्ण नहीं है; किन्तु सब कुछ प्राप्त अनुभव की कोटि पर निर्भर करता है। अनुभव की कोटि दो प्रकार की डिवी ने बताई है। यह कोटि तत्काल सुखद अथवा दुःखद हो सकती है और इसका निर्णय स्वयं बालक कर सकता है। अनुभव की कोटि का प्रभाव अगले अनुभव को प्रोत्साहित करने अथवा अवरुद्ध करने के रूप में पड़ सकता है। इसका मूल्यांकन अध्यापक को करना है। इस प्रकार, शिक्षाविद् की समस्या अनेक प्रकार के ऐसे सम्भाव्य अनुभवों का चुनाव करना है (जिनमें अतीत से सम्बन्ध रखने वाले अनुभव भी शामिल हैं), जिनका बालक के भावी अनुभव के क्षेत्र में कल्याणकर परिणाम निकलने की सम्भावना है और जिनके प्रति बालक के आकृष्ट होने की भी आशा है। बालक को विद्यालय में यदाकदा अनुभव नहीं होना चाहिए। कक्षा में बालक का अनुभव योजनाक्रम के अनुसार होना चाहिए और यह योजना अनुभव प्राप्त करने वाले बालकों की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए तैयार की जानी चाहिए। यही नहीं, शिक्षा-सम्बन्धी अनुभव के द्वारा बालक को जो ज्ञान होता है, वह कोई ऐसा असम्बद्ध तथ्य नहीं होना चाहिए, जो आवश्यकता पड़ने तक संगृहीत रहे; बल्कि तात्कालिक परिस्थिति में भी बालक के लिए उसकी उपयोगिता रहनी चाहिए। इस प्रकार, जहाँ शिक्षा बालक के तात्कालिक जीवन का निर्माण करती है, वहाँ दूसरी तरफ वह उसे उसके वयस्क जीवन के लिए भी तैयार करती है।

जिस एक अन्य क्षेत्र में व्यवहारवाद का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, वह कानूनी क्षेत्र है। व्यवहारवाद के आदिकाल से इसका कानूनी दुनिया से सम्बन्ध रहा है। जैसा कि हम बता चुके हैं, पियर्स, राइट तथा जेम्स के 'मेटाफिजिकल क्लब' में जो साथ थे, उनमें अनेक वकील तथा कानून के शिक्षक भी थे। इनमें एक था ओलीवर वेंडेल होम्स। होम्स आर्थिक तथा राजनीतिक यथार्थताओं को विशेष महत्त्व प्रदान करता था और वह व्यवहारवाद को शुरू में एक मजाक से अधिक नहीं समझता था। उसने विचार-विनिमय के मध्य जेम्स से सामाजिक शक्तियों का महत्त्व स्वीकार करने का अनुरोध किया। होम्स डार्विनवाद

से प्रभावित था और वह 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' को 'शानदार साहसिक प्रक्रिया' कहता था। होम्स पक्का अनुभववादी था। उसका कहना था कि कानून के अनुसार जीवन की व्यवस्था पूर्णतः तर्क के अनुरूप नहीं कही जा सकती, इसे एक अनुभव ही कहा जा सकता है। उसने कहा कि अनुभव के द्वारा जाना जा सकता है कि एक विशेष परिस्थिति में किसी आचरण का इतना खतरा है या नहीं कि उसे करने वाले पक्ष पर संकट माना जाय। होम्स ने कहा कि इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी न्यायाधीश कानून की व्याख्या उसके शब्दों के अनुसार नहीं; बल्कि उसके सामाजिक परिणामों के अनुभव से कर सकता है।

होम्स ने सामाजिक दृष्टि से कानून की जो व्यवहारवादी व्याख्या की, उसके अनुसार यह मान्यता स्वीकार की गई कि अदालतों के द्वारा सार्वजनिक शक्तियों का प्रभाव पड़ता है। हारवर्ड विश्वविद्यालय के कानून-विभाग के प्रधान, रोस्को पाउन्ड ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाया। उसने कहा कि न्यायाधीश विशेष मामलों में सिद्धान्तों तथा नियमों का प्रयोग कर वास्तविक कानून का निर्माण कर सकते हैं। अपने इन प्रयोगों के व्यावहारिक परिणामों का अध्ययन कर, वे न्याय के प्रशासन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अमरीका के राज्यों के न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालयों के कितने ही न्यायाधीशों ने अपने निर्णयों में इस कानूनी व्यवहारवाद का परिचय दिया है।

अमरीका के कानून के विद्यालयों तथा अदालतों में एक उग्र व्यवहारवाद का भी विकास हुआ है, जिसे कानूनी वस्तुवाद कहा गया है। होम्स तथा पाउन्ड ने कानून के जिस सामाजिक दृष्टिकोण को महत्त्व दिया, उसका समावेश कानून की व्यापक सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में कर लिया गया। कोलम्बिया विद्यालय के प्रोफेसर कार्ल लिलविन ने इसका संक्षेप इस प्रकार किया है—कानून स्थिर नहीं, बल्कि परिवर्तनशील है। समाज भी परिवर्तनशील है। कानून का लक्ष्य सामाजिक माना गया है; इसलिए जो कुछ है तथा जो होना चाहिए, इन दोनों के भेदों को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इस विचारधारा के अन्तर्गत परम्परागत कानूनी नियमों तथा दृष्टिकोणों पर अविश्वास प्रकट किया जाता है। सुनिश्चित नियमों को ध्यान में रखते हुए अदालती निर्णय देने की जो परम्परा है, उसमें सन्देह रखने को इस विचारधारा के अन्तर्गत महत्त्व प्रदान किया गया है। कानूनी वस्तुवादियों का कहना है कि विभिन्न अदालती मामलों को, जो अनेक वर्गों में बाँटा जाता है, इन वर्गों को अधिक संकुचित बनाया जाना आवश्यक है। इनके विचार से परिणामों को ध्यान में रखकर मूल्यांकन होना चाहिए। इस मत

के लोगों ने अभी तक कानून के पुराने सिद्धान्तों की आलोचना करने तथा वकीलों की विचार-प्रणालियों तथा तरीकों के अध्ययन पर ही अधिक ध्यान दिया है। इन्होंने व्यवहारवादी दृष्टिकोण को ठोस रूप देने तथा उसके तरीकों को आगे बढ़ाने की तरफ अभी उतना ध्यान नहीं दिया है।

राजनीति तथा राजनीतिक क्षेत्र में व्यवहारवाद ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अनेक रूप धारण कर लिए हैं। इस क्षेत्र में सब से मनोरंजक विभिन्न समुदायों की क्रिया-प्रक्रियाओं का अध्ययन है, जिसे आर्थर एफ० बेंटली ने आगे बढ़ाया है। बेंटली ने अपनी पुस्तक की भूमिका एक वाक्य में लिखी है—"यह पुस्तक एक यंत्र को तैयार करने का प्रयास है।" इस प्रकार, बेंटली ने एक शब्द में अपने यंत्रवाद का प्रतिपादन किया है। बेंटली का विचार है कि समाज में प्रचलित विचारों तथा भावनाओं के रूप में हम जब किसी विषय की व्याख्या करते हैं, तो हमारी यह व्याख्या ठीक नहीं होती। बेंटली ने मनुष्य की आदि भावनाओं का हवाला देकर विषयों की इस व्याख्या को 'पाशविक' कहा है। उसका विचार है कि जब तक समाज की पाशविकता का परित्याग नहीं कर दिया जाता, तब तक राजनीति विज्ञान उन्नति नहीं कर सकता। हमारे सभी सिद्धान्त मूल भावनाओं से प्रेरित होकर तैयार किए गए हैं। इस परिणाम पर पहुँचने के लिए कि वैज्ञानिक दृष्टि से उनका कुछ मूल्य है अथवा नहीं, उनका सामाजिक जीवन तथा सामाजिक क्रिया-कलाप में परीक्षण होना चाहिए। तभी ज्ञात होगा कि व्यावहारिक दृष्टि से उनकी कुछ भी उपयोगिता है अथवा नहीं। बेंटली का दृष्टिकोण यह है कि सामाजिक तथा राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या करने के लिए भावनाओं, विचारों तथा आदर्शों को जो सिद्धान्तों के रूप में उपस्थित किया जाता है वह ठीक नहीं। ये भावनाएँ, विचार तथा आदर्श सुनिश्चित सिद्धान्त नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ये तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था के ही परिणाम हैं। इस तरह, हम इन भावनाओं, विचारों तथा आदर्शों का उल्लेख कर कारणों पर प्रकाश नहीं डालते; बल्कि अपनी समस्याओं को दूसरे रूप में पुनः उपस्थित कर देते हैं। उदाहरण के लिए, 'क्रोध' तथा 'स्वाधीनता' का उल्लेख जब हम करते हैं, तो ऐसा एक विशेष पृष्ठभूमि में करते हैं। वास्तव में 'क्रोध' तथा 'स्वाधीनता' सुनिश्चित तथ्य नहीं हैं, जिन पर हम अपने सिद्धान्तों को आधारित कर सकें। यदि कोई व्यक्ति क्रुद्ध होता है, तो इसका यही मतलब है कि वह व्यक्ति एक विशेष परिस्थिति में क्रुद्ध हुआ है। हम किसी मनुष्य के तात्कालिक दृष्टिकोण को तब तक महत्त्व नहीं प्रदान कर सकते, जब तक कि हम उस

दृष्टिकोण का निर्माण करने वाले सभी तत्त्वों पर विचार समाप्त नहीं कर लेते।

यदि इन अस्थाई कारणों को महत्त्व नहीं दिया जाय, तो हम सरकार पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण प्रशासन प्रक्रिया के अध्ययन से कर सकते हैं। हम विभिन्न समुदायों तथा सरकारों की क्रिया-प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं। हमें मनुष्यों के आचरण में होने वाले परिवर्तनों तथा इन परिवर्तनों के प्रति होने वाले अवरोधों और समुदायों के संघटन तथा विघटन का भी अध्ययन करना है। वाद-विवाद तथा लेखन भी राजनीतिक प्रक्रिया के स्वरूप हैं और उन पर भी विचार करना आवश्यक है। जब हम इस प्रकार प्रशासन के क्षेत्र में प्रतियोगिता करने वाले व्यक्तियों तथा समुदायों के कार्यों पर विचार करते हैं, तो प्रकट हो जाता है कि प्रशासन के क्षेत्र में जो कुछ भी कार्य होता है, वह दबाव डालने से सम्बन्ध रखता है। विभिन्न समुदायों का यह घात-प्रतिघात कभी संतुलित और कभी असंतुलित समाज की वर्तमान व्यवस्था का स्वरूप है। सरकार इन विरोधी प्रतिक्रियाओं के संतुलन का स्थान है, जहाँ विभिन्न स्वार्थों के मध्य सामंजस्य कायम होता है। कानून प्रशासनिक यंत्र का परिणाम नहीं है ; बल्कि प्रशासनिक प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। कानून विरोधी प्रवृत्तियों के मध्य सामंजस्य कायम करने के आदर्श की घोषणा है, जो वस्तुतः कभी होता नहीं है। आदर्श की यह घोषणा लगातार बदलती रहती है, क्योंकि समाज निरंतर परिवर्तनशील है। कानून दलगत स्वार्थों को क्रमबद्ध स्वरूप देने की एक निरंतर संघर्षशील प्रक्रिया है। इस प्रकार, बेंटली का राजनीतिक सिद्धान्त, कानून की व्याख्या करने में कानूनी व्यवहारवादियों के बिल्कुल निकट पहुँच जाता है।

इन तीन उदाहरणों से प्रकट हो गया होगा कि अनेक क्षेत्रों में व्यवहारवादी विचारधारा के लाभप्रद परिणाम निकले। इसके परिणामस्वरूप पिछली मान्यताएँ नष्ट हो गईं, जिनके कारण समस्याओं के उचित मूल्यांकन में बाधा पड़ती थी। जहाँ नई व्याख्या करना सम्भव नहीं हो सका, वहाँ नए विचारों के लिए कम-से-कम भूमि तैयार हो गई। व्यवहारवाद का मुख्य दावा यही था कि वह विचारधारा का नव-निर्माण करना चाहता है, जिससे दर्शन को नया आधार मिल सके। इस प्रारम्भिक कदम के आगे जो भी प्रगति हुई, उसमें एक व्यवहारवादी का दूसरे व्यवहारवादी से गहरा मतभेद था। इस अध्याय के शेषांश में हम चार्ल्स सेंडर्स पियर्स, विलियम जेम्स तथा जार्ज हर्बर्ट मीड की व्यवहारवादी विचारधाराओं पर कुछ अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

# व्यवहारवादी अर्थ : चार्ल्स सेंडर्स पियर्स

व्यवहारवाद के दो पहलू हैं। एक पहलू है दार्शनिकों की मानसिक प्रवृत्ति, जो विलियम जेम्स की विचारधारा में विशेष रूप से दिखाई देती है। दूसरा पहलू ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में दिखाई देता है, जिसमें व्यवहारवाद विशेष प्रश्नों के विशेष उत्तर उपलब्ध करता है। व्यवहारवादी अनुभववाद ने जिस मुख्य प्रश्न का इस क्षेत्र में उत्तर उपलब्ध करने का प्रयास किया, वह था कि विचार अथवा प्रत्यय ( Idea ) क्या है? हम ऊपर देख चुके हैं कि व्यवहारवादियों ने वस्तुवादियों की इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया कि प्रत्यय यथार्थता का प्रतिनिधित्व करता है और चेतनवादियों अथवा प्रत्ययवादियों की इस मान्यता को भी उन्होंने ठुकरा दिया कि प्रत्यय यथार्थता अथवा बाह्य जगत् की प्रतिच्छाया है। व्यवहारवादियों तथा प्रत्ययवादियों दोनों ने ही विचार की सार्वभौमता को सामान्यीकरण का रूप दिया। परन्तु, व्यवहारवादियों ने एक ऐसा प्रश्न भी उठाया, जिसमें प्रत्ययवादियों को दिलचस्पी नहीं थी। व्यवहारवादियों ने कहा कि हम विचार का सामान्यीकरण क्यों करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने अपने ढंग से देते हुए बताया कि अनुभव के बीच विचार अथवा प्रत्यय का क्या स्थान है! विचार अथवा प्रत्यय के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने जो उत्तर दिया, उसमें विचार अथवा प्रत्यय की क्रिया को उसके स्वरूप से अधिक महत्त्व दिया गया। व्यवहारवादियों के मतानुसार प्रत्यय का अस्तित्व जीवन में कार्य की एक योजना के रूप में होता है। प्रत्यय का महत्त्व यही है कि किसी विशेष परिस्थिति में हम अपने उस लक्ष्य तक पहुँच सकें, जिस तक हम पहुँचना चाहते हैं।

जिन लोगों ने व्यवहारवाद को किसी दार्शनिक उद्देश्य की पूर्ति के साधन अथवा तरीके के रूप में महत्त्व प्रदान किया, उनमें चार्ल्स सेंडर्स पियर्स मुख्य है। यद्यपि अमरीकी विचारधारा के मध्य पियर्स का दृष्टिकोण उसकी असाधारण मौलिकता को प्रकट करता है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उसमें अपनी मौलिक

प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाने की क्षमता नहीं थी। १८९७ में पियर्स ने जेम्स के नाम अपने एक पत्र में लिख कर कहा कि उसके लिए अपने मूल लक्ष्य से अलग होना कितना कठिन है। उसने कहा कि उसका दर्शन किसी विचार का बोध नहीं है ; बल्कि वह कंटकाकीर्ण पथ पर लक्ष्य को प्राप्त करने का एक प्रयास-मात्र है। पियर्स की दूसरी कठिनाई यह थी कि किसी विषय के प्रतिपादन के समय उसका तरीका पूरी तरह गम्भीरता नहीं लिए रहता था ; बल्कि उसमें गम्भीरता तथा व्यंग-विनोद का संमिश्रण रहता था। अनेक बार वह किसी विषय को गम्भीरता से उठाता था ; किन्तु विचार के समाप्त होते-होते उसकी चित्तवृत्ति बदल कर विनोदपूर्ण हो जाती थी। इस कठिनाई के कारण पियर्स के व्याख्यान को समझना कठिन हो जाता था और इसी कारण उसकी कृतियों को समझना अभी तक कठिन है।

यही नहीं, अपनी गम्भीर तथा विनोदपूर्ण चित्तवृत्तियों के कारण पियर्स तरह-तरह के शब्दों को गढ़ने के मर्ज से भी पीड़ित था। नए शब्दों को गढ़ने के लिए वह यह कारण देता था कि यदि साधारण शब्दों का प्रयोग पारिभाषिक उद्देश्यों के लिए किया जाय, तो शब्दों के प्रचलित अर्थों से सम्बद्ध रहने के कारण भ्रम फैलने की गुंजाइश रहती थी। पियर्स का विचार था कि गम्भीरतापूर्ण विषयों के विवेचन के लिए ऐसे शब्द होने चाहिएँ, जिनके दुरुपयोग की सम्भावना नहीं हो। प्रैग्मैटिज्म ( व्यवहारवाद ) शब्द की रचना पियर्स ने ही की थी, किन्तु जब उसे अनुभव होने लगा कि इस शब्द को बोलचाल में भ्रष्ट किया जा रहा है, तो उसने 'प्रैग्मैटिज्म' शब्द का आविष्कार इस आशा में किया कि इस शब्द का दुरुपयोग नहीं किया जायगा। इसके अलावा पियर्स तर्कशास्त्र का ऐसा पंडित था, जैसा कि अमरीका में उस समय शायद ही कोई था। परन्तु, इस अगाध विद्वत्ता के कारण जितना आदर उसे मिलना चाहिए था, उतना मिल नहीं सका।

शुरू में शेलिंग की रोमान्टिक विचारधारा से और बाद में डार्विनवाद से प्रभावित होने के कारण पियर्स की दिलचस्पी इस विषय में हुई कि आदत किस तरह पड़ती है। इस प्रसंग में उसे एक विकासवादी विचारक कहा जा सकता है। पियर्स की आदत सम्बन्धी विचारधारा का सार यही है कि प्रत्यय का सामान्यी-करण एक मानसिक व्यवस्था की प्रेरणा प्रदान करता है। मानसिक प्रक्रिया की प्रवृत्ति यह है कि चिन्तन हमें सामान्यीकरण की ओर ले जाता है। विचारों के घात-प्रतिघात से उनके क्षेत्र का विस्तार होता है। सुख अथवा कष्ट की

अनुभूति पहले शरीर के एक अंग में होती है ; किन्तु क्रमशः उसका विस्तार दूसरे अंगों में भी होने लगता है। अनुभूतियों तथा विचारों के पारस्परिक सम्बन्धों से नवीन अनुभूतियों तथा विचारों का जन्म होता है। इस प्रकार, सामान्यीकरण की प्रवृत्ति से मानसिक विकास होता है। इस प्रवृत्ति में व्यवधान पड़ने से नए सम्बन्धों का तथा नई अनुभूतियों व नए विचारों का जन्म होता है। नई अनुभूतियां तथा विचार मिलने से अनुभव होता है, जैसे हमें कोई लाभ हुआ है और इस प्रकार ये अनुभूतियां तथा विचार भी पुरानी अनुभूतियों तथा विचारों से आत्मसात् हो जाते हैं। इस प्रकार, एक नई आदत हमें पड़ती है, एक बार अनुभूति होने पर वैसी ही अनुभूति साधारण प्रेरणा से होने लगती है और इस प्रकार एक नई आदत हमें पड़ जाती है।

ऊपर जिस सामान्यीकरण की चर्चा हुई है, वह तंतुओं तथा मांसपेशियों से असम्बद्ध अथवा मानव शरीर से पृथक् सत्ता रखने वाले मन में नहीं होती। जब एक समुदाय के तंतुओं को उत्तेजना मिलती है, तो शरीर के जिस भाग में तंतुओं का वह समुदाय है, वह उद्दीपित अथवा सक्रिय हो उठता है। इस तरह, शरीर के अंगों में गति उत्पन्न हो जाती है। यदि तंतु-समुदायों का उद्दीपन कुछ समय तक जारी रहे, तो उद्दीपन शरीर के एक भाग तक ही कायम नहीं रहता, बल्कि शरीर के केन्द्र से दूसरे केन्द्र तक पहुंच जाता है और प्रसार के साथ उसकी तीव्रता भी बढ़ जाती है। एक जगह का प्रदाह शरीर के दूसरे भाग में पहुंच जाता है और वहां भी अंग-संचालन होने लगता है। यह भी सम्भव है कि शरीर के सभी तंतुओं तथा मांसपेशियों में प्रतिक्रिया व्याप्त हो जाय। इस अवस्था में जिस भाग में प्रक्रिया पहले हुई, वहां वह थकान के कारण पहले रुक सकती है और अन्य भागों में जो अभी थके नहीं, वह देर तक चलती रह सकती है। यदि किसी वजह से उद्दीपन समाप्त हो जाता है, तो उसकी प्रतिक्रिया भी प्रायः तत्काल रुक जाती है। उद्दीपन की शरीर पर होने वाली क्रिया से पियर्स इस परिणाम पर पहुंचा कि तंतुओं के उद्दीपित होने पर उनकी प्रतिवर्ती क्रिया यदि प्रदाह को समाप्त करने में समर्थ नहीं होती, तो वह शारीरिक अभिव्यक्ति में परिवर्तन का तब तक प्रयास करती रह सकती है, जब तक कि वह प्रदाह को पूर्णतः समाप्त करने में सफल नहीं हो लेती।

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार प्रक्रियाएं पुनरावृत्ति के बाद अधिक सहूलियत से होने लगती हैं। यदि किसी निर्दिष्ट मार्ग पर स्नायविक शक्ति प्रवाहित होने लगती है, तो उस मार्ग पर वैसा ही दूसरा प्रवाह होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

कल्पना कीजिए कि उद्दीपन लगातार होता है। इस उद्दीपन की जितनी प्रतिवर्ती क्रियाएँ होती हैं, उनमें से प्रदाह को समाप्त करने वाली प्रक्रिया का लगातार होना आवश्यक है। इस प्रक्रिया के बारम्बार होने का परीणाम यह होता है कि वह शीघ्र समाप्त हो जाती है। प्रदाह को समाप्त करने की इस तीव्र प्रतिक्रिया को आदत कहा जा सकता है। जब इस प्रकार की आदत का विकास हो जाता है, तो कहा जाता है कि उद्दीपन के बाद होने वाली प्रतिवर्ती प्रक्रिया का सामान्यीकरण हो गया है। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रतिवर्ती प्रक्रिया किसी विशेष घटना का परिणाम न होकर उसके सम्भाव्य परिणाम का अनुमान होती है। उद्दीपन का यह विचार अथवा यह अर्थ हमारे आचरण में निहित रहता है। ये विचार अथवा अर्थ वस्तुओं में वाह्य रूप से निहित रहते हैं। उन्हें प्रकृति की आदतें कहा जा सकता है। पियर्स ने कहा कि जिसे हम जड़तत्त्व कहते हैं, वह आदतों से घिरे मन का ही दूसरा रूप है। पियर्स को अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में एक सीमा तक मध्ययुगीय वस्तुवादी डंस स्काटस से प्रेरणा मिली।

जब भी किसी उद्दीपन का परिणाम विश्वास होता है, तो इसमें एक विचार अथवा अर्थ निहित रहता है। इस प्रकार उद्दीपन अथवा घटना किसी अर्थ की परिचायक होती है। विचार का विस्तार जब कार्यक्षेत्र तक हो जाता है, तो वह विश्वास का रूप धारण कर लेता है। पियर्स की ज्ञान-संबंधी विचारधारा का प्रारम्भ डेस्कार्टीस तथा उसके अनुयाइयों की तरह संशय के साथ नहीं होता और न वह लॉक की परम्परा में संवेदन के साथ ही होता है। इसका प्रारम्भ विश्वास से होता है और विश्वास का निकटतम सम्बन्ध आचरण से है। विश्वास तथा अर्थ की चर्चा करते हुए हम पियर्स के व्यवहारवाद के केन्द्रस्थल पर पहुंच जाते हैं, क्योंकि उसके लिए व्यवहारवाद अर्थ की समस्या के समाधान का ही एक तरीका था। पियर्स का कहना था कि किसी विचार की ठीक तरह जानकारी संवेदन के रूप में नहीं; बल्कि आचरण के रूप में ही हो सकती है। यदि हमें किसी वस्तु-सम्बन्धी अपने विचार का अर्थ जानना है, तो हमें उस वस्तु के विचार के सम्भाव्य परिणामों को जान लेना होगा। इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन परिणामों की कल्पना ही हमारी वस्तु-सम्बन्धी सम्पूर्ण कल्पना है। पियर्स जिन परिणामों की बात कहता है, वे इन्द्रिय-ग्राह्य परिणाम नहीं थे, जिनकी चर्चा जेम्स ने १८९८ में अपने केलिफोर्निया के भाषण में की थी। पियर्स के परिणाम अधिक सक्रिय तथा सामान्य थे।

पियर्स इस तथ्य से बहुत अधिक प्रभावित था कि मानवीय ज्ञान की प्रगति होने पर कतिपय बौद्धिक समस्याओं का समाधान हो जाता है ; किन्तु अन्य का कभी भी समाधान नहीं हो पाता। जिन समस्याओं का स्थाई हल नहीं निकलता, उनमें से कुछ हैं—"क्या मन और द्रव्य तात्विक दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं ?", "क्या आत्मा अमर है ?" तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रश्न भी। पियर्स ने प्रश्न उठाया कि आखिर इन समस्याओं का समाधान क्यों नहीं निकलता ? दोष समाधान निकालने के तरीके की अपूर्णता का है अथवा समस्याओं की प्रकृति ही ऐसी है कि उनका समाधान असम्भव है। पियर्स ने निर्णय किया कि ये समस्याएँ ही ऐसी हैं कि उनका समाधान सम्भव नहीं है। इसके बाद उसने प्रश्न उठाया कि यदि इन समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है, तो क्या इन्हें समस्या माना भी जाना चाहिए ? समस्या वही है जिसका अभी नहीं, तो आगे जाकर समाधान निकलने की आशा हो। यदि किसी प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता है, तो मतलब यह है कि वह महत्त्वपूर्ण नहीं है और अर्थपूर्ण नहीं है। पियर्स ने ऐसे प्रश्नों को 'मिथ्या समस्या' कहा। इस प्रकार की समस्या का समाधान निकलना सम्भव नहीं है और कम-से-कम वह मानव अनुभव के लिए अज्ञेय है। इस प्रकार की समस्याओं का जेम्स ने मानसिक क्षेत्र में समाधान का जो वैयक्तिक तरीका निकाला, उसे सामान्य अथवा सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। पियर्स ने कहा कि यह तो समस्याओं के समाधान का 'प्राइवेट' तरीका है और इस प्राइवेट समाधान को समाधान नहीं कहा जा सकता।

पियर्स के व्यवहारवादी दृष्टिकोण का अर्थ यह हुआ कि किसी विषय की व्याख्या इस प्रकार की जाय, जिससे अनुभव के द्वारा उसकी पुष्टि की जा सके। व्यवहारवादी दृष्टि से सार्थक उसी को कहा जा सकता है, जिसकी पहचान अनुभव के द्वारा की जा सके। यदि ऐसा कर सकें, तो हम स्वीकृति का एक मानदंड कायम करते हैं और सार्वभौमिक सुबोधता का एक स्तर निर्धारित करते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय, तो 'स्वाधीनता', 'आक्रमण' तथा 'लोकतंत्र' जैसे शब्दों की सार्वभौमिक व्याख्या हमारे काल में बहुत ही लाभकर हो सकती है। पियर्स की इस विचारधारा के परिणामस्वरूप शब्दों के अर्थों के विकास की एक नई दिशा भी निकल सकी है। पियर्स ने कहा कि यदि उक्तियों तथा वाक्यों को सार्थक बनना है, तो शब्दों में अर्थ-गाम्भीर्य की स्थापना आवश्यक है। यही नहीं जो कुछ कहा जाय उसका वैज्ञानिक पद्धति में प्रमाणीकरण भी कुछ कम आवश्यक नहीं है। किसी उक्ति के अर्थ का उसके ऐसे परिणामों से अविच्छेद्य सम्बन्ध

रहता है, जिनका वैज्ञानिक तरीकों से प्रमाणीकरण सम्भव हो। अब हम अपने मूल प्रश्न पर आते हैं कि कोई समस्या किस प्रकार महत्त्वपूर्ण होती है? पियर्स के मत में वही समस्या वास्तविक, महत्त्वपूर्ण तथा सार्थक है, जिसका वैज्ञानिक ढंग से प्रमाणीकरण सम्भव हो।

पियर्स के व्यवहारवाद के अन्तर्गत ज्ञान के जिस सिद्धान्त का निरूपण होता है, वह क्रियात्मक है, जब कि पियर्स की व्याख्याएं सैद्धान्तिक हैं। उसके मत में किसी शब्द का ठीक अर्थ इस बात पर निर्भर रहेगा कि मनुष्य के जीवन पर उसका क्या असर होता है। यदि किसी वाक्य के द्वारा यह अर्थ प्रकट किया जाता है कि किसी प्रयोग के द्वारा किसी तथ्य की यथार्थता अथवा अयथार्थता को सिद्ध किया जा सकता है, तो इससे यह अर्थ भी निकलता है कि यदि प्रयोग के लिए अमुक सामग्री तथा अमुक विधि का उपयोग किए जाने पर उसका अमुक परिणाम निकलेगा। इस प्रकार, विशेष परिस्थितियों से सामान्य ज्ञान की प्राप्ति होती है।

पियर्स ने कहा कि एक साधारण-से-साधारण वाक्य से अनेक प्रयोगात्मक परिणामों का अनुमान किया जा सकता है। यदि केवल यह कहा जाय कि पत्थर कड़ा है, तो इससे यही भाव प्रकट होगा कि उस पर किसी वस्तु को चाहे जितनी बार भी घिसा जाय, निशान नहीं होगा। चूंकि किसी वाक्य में अनेक क्रियात्मक प्रयोगों का विचार निहित रहता है; इसलिए किसी भी उक्ति का पूर्ण अर्थ भविष्य के गर्भ में छिपा रहता है। यदि दो उक्तियों का प्रयोगात्मक परिणाम एक जैसा है, तो तार्किक दृष्टि से उनका अर्थ समान है, चाहे दोनों उक्तियां शाब्दिक दृष्टि से एक दूसरी से भिन्न ही क्यों न जान पड़ती हों। इसी प्रकार, यदि दो उक्तियों का प्रयोगात्मक परिणाम भिन्न है, तो उनके अर्थ भी भिन्न हैं और तार्किक दृष्टि से वे असमान हैं। पियर्स ने अपने अर्थ-सम्बन्धी व्यवहारवादी सिद्धान्त का निर्देश कई पहलुओं से किया। परन्तु, अपनी इस व्याख्या में उसने अपने सिद्धान्त के भविष्य से सम्बन्ध रखने वाले पहलू में कुछ परिवर्तन नहीं किया। पियर्स की कुछ उक्तियां अस्पष्ट हैं, जिनमें वह जेम्स के दृष्टिकोण के निकट पहुँच जाता है; किन्तु अपनी अधिकांश उक्तियों में वह उस मान्यता के अनुसार चलता है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। पियर्स के अनुसार विचार आदत पड़ने की प्रक्रिया के पीछे रहता है। किसी भी वस्तु का अर्थ अपने से सम्बन्धित आदत पर निर्भर रहता है। ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका सार यही है कि पियर्स के अर्थ-सम्बन्धी सिद्धान्त का निकटतम सम्बन्ध आदत पड़ने की विकासोन्मुख प्रक्रिया से है।

पियर्स यह स्पष्ट करना नहीं भूला कि उसके व्यवहारवाद में विचारों के अर्थ की चिन्ता अधिक रहती है, सत्य की नहीं। मेरी मोटरगाड़ी की बैटरी मर चुकी है—यह एक सार्थक उक्ति है, जिसमें कतिपय परीक्षणों की पूर्वकल्पना निहित है। परन्तु, यह आवश्यक नहीं कि उपर्युक्त उक्ति सत्य हो, क्योंकि परीक्षणों के बाद ज्ञात हो सकता है कि बैटरी मोटरगाड़ी चलाने की क्षमता रखती है। हमें किसी उक्ति के अर्थ तथा उसकी सत्यता में भेद करना चाहिए, क्योंकि विलियम जेम्स का व्यवहारवाद हमें निश्चित रूप से सत्य के सिद्धान्त की तरफ ले जाता है। जेम्स ने अपनी पुस्तक का नाम ही 'सत्य का अर्थ'[1] रखा है। जेम्स ने पियर्स के अर्थ-सम्बन्धी सिद्धान्त को सत्य पर लागू किया। पियर्स तथा जेम्स की विचारधाराओं में मुख्य भेद यह है कि जहाँ पियर्स किसी उक्ति के क्रियात्मक परिणाम को महत्त्व देता है, वहाँ जेम्स उसके इन्द्रियग्राह्य परिणाम को महत्त्व प्रदान करता है।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा कि पियर्स का कोई सत्य-सम्बन्धी सिद्धान्त नहीं था। विश्वास-सम्बन्धी चर्चा के बीच यह प्रकट हो जाता है। पियर्स ने कहा कि मनुष्य अपने तर्क का विस्तार, जिस क्षेत्र से हम परिचित हैं, उससे आगे बढ़ाकर उस क्षेत्र तक करते हैं, जिससे हम अपरिचित हैं। तर्क तभी अच्छा कहा जाता है, जब वह सच्ची मान्यताओं से हमें सच्चे परिणामों की ओर ले जाता है; परन्तु, मनुष्य तर्कशील प्राणी नहीं है। कभी मनुष्य ठीक तरह तर्क करता है और ऐसे परिणामों पर पहुँचता है, जो सत्य होने के साथ संतोषजनक भी हैं। परन्तु, अधिकांश अवसरों पर विशेष परिणामों की सत्यता यह सिद्ध नहीं करती कि मनुष्य का तर्क भी अच्छा है। मनुष्य में प्राकृतिक रूप से अथवा विकसित होने के परिणामस्वरूप एक ऐसी आदत रहती है, जिससे वह सुनिर्धारित मान्यताओं से एक विशेष प्रकार के परिणाम पर पहुँचता है, दूसरे परिणाम पर नहीं पहुँचता। इस आदत को हम इस आधार पर अच्छी अथवा बुरी कहते हैं कि उसके कारण हम सही परिणामों पर पहुँचते हैं अथवा नहीं। यदि मन की आदत ऐसी है कि उससे सच्ची मान्यताओं से सच्चे परिणामों पर पहुँचा जाता है, तो किसी सुनिश्चित परिणाम को हम सत्य की चिन्ता किए बिना ही ठीक मान सकते हैं; किन्तु यह आवश्यक है कि यह परिणाम निर्धारित सिद्धान्त के अनुसार निकाला गया हो। पियर्स के दृष्टिकोण में हमें सब से महत्त्वपूर्ण बात यह मिलती है कि

---

१. William James : The Meaning of Truth.

वह विशिष्ट की तुलना में सामान्य को अधिक महत्त्व प्रदान करता था और इसी आधार पर उसने आदत-सम्बन्धी सिद्धान्त की स्थापना की थी। इन निर्देशक सिद्धान्तों से हम विश्वास की मान्यता की ओर भी प्रेरित होते हैं।

मन की दो अवस्थाएं हैं—सन्देह तथा विश्वास। एक अवस्था से दूसरी में परिवर्तन तभी सम्भव है, जब कि विचार का लक्ष्य अपरिवर्तित रहेगा। सन्देह तथा विश्वास के मध्य दो अन्तर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, विश्वास का सम्बन्ध कार्य से होता है, जब कि सन्देह के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं है। विश्वास की भावना से यह प्रकट होता है कि हमने किसी ऐसी आदत का निर्माण कर लिया है, जो कार्य को निर्धारित करेगी। सन्देह और विश्वास के सम्बन्ध में दूसरा अन्तर प्रदाह उत्पन्न करने वाली उद्दीपन की प्रक्रिया में मिलता है। सन्देह प्रदाह का ही एक रूप है, जो विश्वास की अवस्था कायम होने तक शान्त नहीं होता। विश्वास एक "शान्त तथा सन्तोष-जनक" अवस्था है, जिसमें हम परिवर्तन नहीं करना चाहते। हम अपनी विश्वास की भावना पर दृढ़तापूर्वक कायम रहते हैं। पियर्स सन्देह की अवस्था से विश्वास की अवस्था में परिणत होने की प्रक्रिया को 'अनुसंधान' ( Enquiry ) कहता है। पियर्स कहता है कि ऊपर से कहा चाहे जो जाय, किन्तु हमारी दिलचस्पी सत्य में उतनी नहीं रहती, जितनी अपने अंतिम विश्वास पर बने रहने में रहती है। हम ऐसे विश्वास पर जमते हैं, जिसमें मान लेते हैं कि हम सच्चे हैं। जब सन्देह वास्तविक होता है, तो अनुसंधान के लिए क्षेत्र नहीं होता। विश्वास जम जाने पर फिर अनुसंधान की गुंजाइश नहीं रह जाती। अनुसंधान विश्वास को जमा देता है।

विश्वास जमाने के पहले तरीके को पियर्स ने एक बात पर जमा रहने का तरीका कहा है। इसका मतलब यही है कि हमारे प्रश्नों का एक ही उत्तर तब तक दिया जाय, जब तक कि उसकी आदत न पड़ जाय। दूसरे शब्दों में, इससे किसी दूसरा उत्तर सुनने की अनिच्छा प्रकट होती है। पियर्स का कहना है कि इस तरीके का अक्सर उपयोग होता है। इससे मन को बड़ी शान्ति मिलती है। इसलिए और भी, क्योंकि विश्वास रखने वाला अपने विश्वास की असुविधा का अनुभव नहीं करता। इसे विश्वास जमाने का बौद्धिक तरीका नहीं कहा जा सकता, किन्तु स्मरण रखने की बात यह है कि इस तरीके को काम में लाने वालों का उद्देश्य युक्तियुक्त व्यवस्था करना न हो कर विश्वास जमाना रहता है। कुछ लोगों के लिए और कुछ समय तक यह तरीका सफल हो सकता है;

किन्तु सामान्य दृष्टि से सामाजिक भावना इस तरीके को सफल बनाने के विरुद्ध रहती है। सामाजिक जीवन में लोग एक दूसरे के मत को प्रभावित करते हैं। यदि कोई व्यक्ति वैरागी नहीं है और वह अपने निजी विश्वास पर शेष समाज के विश्वास के विरुद्ध जमा रहता है, तो उसे दुराग्रही ही कहा जायगा।

समाज में विभिन्न मतों तथा विश्वासों का परस्पर मिलन तथा विरोध होता है; इसलिए किसी व्यक्ति-विशेष के विश्वास की स्थापना से कहीं अधिक आवश्यक है सम्पूर्ण समाज के विश्वास की स्थापना। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिकार का तरीका अधिक कारगर है। पहले तरीके की अपेक्षा इसके सफल होने की आशा अधिक रहती है। व्यवहार में इसका अर्थ यही है कि किसी विश्वास पर व्यक्ति के स्थान पर राज्य अथवा किसी दूसरे संघटित जन-समुदाय को जमे रहना चाहिए। इसे पियर्स मानव-समाज के लिए सर्वोत्तम कहता है; किन्तु इस तरीके को अमल में लाने की जिस विधि का उसने वर्णन किया है, उसे बहुत ही घृणास्पद कहा जा सकता है। पियर्स इसके लिए तानाशाही तरीके पर विचार के नियंत्रण की बात कहता है, जिसके अन्तर्गत राज्य दमन और अत्याचार कर लोगों को भयत्रस्त करता है और विरोधियों को मौत के घाट उतार देता है। पियर्स कहता है कि "प्राचीन समय से ही इस तरीके के द्वारा धार्मिक तथा राजनीतिक विश्वासों की स्थापना होती रही है।"[१] परन्तु, इस विधि से प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक अवस्था में विश्वास नहीं जमाया जा सकता। केवल विशेष महत्त्व के विश्वासों के लिए ही प्रयास किया जाना चाहिए और शेष विश्वासों के लिए व्यक्तियों को स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए। साधारण व्यक्तियों में विश्वास जमाने के लिए अधिकार का तरीका पर्याप्त है। प्रत्येक समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो विश्वास जमाने का अधिक उपयुक्त तरीका खोजने के लिए चिन्तित रहते हैं। ये लोग स्थानीय तथा लौकिक परिस्थितियों से ऊपर उठने की क्षमता रखते हैं और इनमें यह मान लेने की ईमानदारी भी होती है कि उनके अपने समाज के अलावा दूसरे समाज के मतामत भी उतने ही मूल्यवान हो सकते हैं। ये लोग निजी विश्वास के हठीलेपन अथवा सामाजिक विश्वास की मनमानी को स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकते। ये लोग एक दूसरे के संदेहों को मिटाने के लिए विचार-विनिमय का तरीका चुनते हैं। इस प्रकार, विचारों के आदान-प्रदान के द्वारा

---

१. Justus Buchler : The Philosophy of Peirce

विश्वास की स्थापना का मार्ग निकाल लिया जाता है। इस तीसरे तरीके द्वारा होने वाले विश्वास का सम्बन्ध अनुभव से तो नहीं होता ; किन्तु बुद्धि-विवेक की कसौटी पर वे अवश्य खरे उतरते हैं। तत्त्व-मीमांसा का परम्परागत तरीका यही है। अपने दीर्घकालीन इतिहास तथा मान्यता के बावजूद इस तरीके की असफलता बहुत अधिक प्रकाश में आई है ; क्योंकि इस तरीके में अनुसंधान को विशेष रुचि पर निर्भर कर दिया गया है। इस तरीके के अन्तर्गत विश्वासों की स्थापना मानव की पसंदगी या नापसंदगी के भरोसे छोड़ दी गई है और इसमें किसी बाह्य तत्त्व को सम्मिलित नहीं किया गया है, जो हमारे चिन्तन के प्रभाव से परे हो।

विश्वास की स्थापना के लिए उपयुक्त तरीके की खोज हमें वैज्ञानिक तरीके की ओर ले जाती है। इस तरीके में महत्त्व इस बात का है कि हमारे विश्वास का साधन सार्वजनिक है। वह किसी विशेष व्यक्ति अथवा जन-समुदाय तक सीमित नहीं है और प्रत्येक व्यक्ति उस पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार कर सकता है। इस तरीके को अपनाने से व्यक्तियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ सकता है ; किन्तु इस तरीके का परिणाम एक ही होगा। पियर्स केवल इसी तरीके को उचित मानता था, जिसे अपनाया जाना चाहिए। यदि किसी विचार के परिणाम की सूचना दूसरे व्यक्ति को दे दी जाती है, तो वह उसे स्पष्ट हो जाता है। हम उस व्यक्ति से सम्बन्धित विश्वास के सम्बन्ध में जो भी कुछ कहते हैं, तो हमारी मानसिक पृष्ठभूमि परिणाम के सम्बन्ध में पूर्ववत रहती है। विभिन्न मनों के बीच इस प्रकार के सम्पर्क को ही समुदाय अथवा समाज कहा जाता है और इस प्रकार के समुदाय अथवा समाज का सर्वोत्तम उदाहरण हमें वैज्ञानिक प्रयोगशाला में मिलता है। यदि एक क्षण के लिए मान लिया जाय कि सामाजिक प्रयोगशाला जैसी कोई वस्तु है, तो हम सत्य की व्याख्या के निकट पहुँच जाते हैं। उन्हीं विश्वासों को सच्चा कहा जायगा, जो वैज्ञानिकों के समुदाय के बीच काफी आगे बढ़ चुके हैं। वैज्ञानिकों का यह समुदाय जिस प्रकार असीम रहेगा, उसी प्रकार अनुसंधान भी अनिश्चित काल तक चलता रहेगा ; क्योंकि सरल-से-सरल उक्ति के भी अनेक पहलू होते हैं और उनके लिए असंख्य प्रयोग हो सकते हैं। सत्य के इस आदर्शवादी रूप को पियर्स ने समीक्षात्मक सामान्य बुद्धिवाद (Critical Common-sensism) कहा। आंशिक तथा सीमित मानवीय आवश्यकताओं के सम्बन्ध में विश्वास जमाने के लिए उस विश्वास की सत्यता का प्रश्न उठाना आवश्यक नहीं होगा

और हमारे लिए केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि हमें अपने विचारों को सामुदायिक प्रयोगशाला में भेजने से कुछ लाभ होगा या नहीं। अन्ततः यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि अनुसंधान करने तथा अनुमान लगाने के लिए किस प्रक्रिया का उपयोग किया गया। "चूंकि सभी ज्ञान 'संश्लिष्ट अनुमान' द्वारा प्राप्त किया जाता है, इसलिए हमारे लिए भी यह अनुमान करना उचित होगा कि निश्चयात्मकता का अर्थ केवल इतना ही है कि हम जानें कि जिस प्रक्रिया के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया गया है, वह ऐसा है कि उससे सामान्य रूप से सच्चे परिणाम निकलते हैं।"

पियर्स आदत बनने की एक दूसरी कोटि में भी दिलचस्पी रखता था। हम देख चुके कि सामान्यीकरण ही आदत है। पियर्स सामान्यीकरण की आदत अथवा साधारण विचार बनाने की आदत को भी समझना चाहता था। पियर्स ने तर्कशास्त्र की आगमनात्मक ( Inductive ) तथा निगमनात्मक ( Deductive ) विधियों पर विचार किया और वह इस परिणाम पर पहुंचा कि ये नए विचारों की ओर नहीं ले जा सकतीं। उसने तर्कशास्त्र की एक तीसरी विधि का नामकरण किया —abduction, जिसका साधारण अर्थ किसी को बलपूर्वक ले जाना होता है। पियर्स ने कहा कि इस कोटि का सुझाव हमारे मन में अनायास आ धमकता है। यह वास्तव में अन्तर्दृष्टि का ही परिणाम होता है। इस विधि में न तो निगमनात्मक विधि की तार्किक आवश्यकता होती है और न आगमनात्मक विधि की तथ्य के ठीक पता लगाने की चिन्ता ही। यह केवल एक सम्भावना की ओर निर्देश करती है। आगमनात्मक विधि हमें प्रकृति के नियमों का ज्ञान कराती है; किन्तु 'एबडक्शन' विधि हमें एक मान्यता की ओर ले जाती है। आगमनात्मक विधि में एक सिलसिला होता है। इसमें परिणाम एक अनुमान होता है कि जिस कोटि के मामलों का हमने निरीक्षण किया है, उस कोटि के मामलों में अमुक परिणाम निकलेगा। 'एबडक्शन' में सिलसिला टूटा होता है। हमने जिन मामलों का निरीक्षण किया है, निकले हुए परिणाम से उनसे भिन्न प्रकार का स्पष्टीकरण हमें मिलता है। इस विधि में मान्यता के निश्चयात्मक होने के विषय में दृढ़तापूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। हम इस विषय में भी निश्चित नहीं हो सकते कि जिसका स्पष्टीकरण करने को कहा गया है, उसका स्पष्टीकरण मिल सकेगा।

पियर्स के व्यवहारवाद पर विचार करने में अधिक व्यस्त होकर हमने

कदाचित् उसके दर्शन के परिकाल्पनिक क्षेत्र के प्रति अन्याय किया है। परन्तु, यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्य किसी अमरीकी लेखक ने इतनी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रणाली का निरूपण अब तक नहीं किया। पियर्स की दार्शनिक विचारधारा को अधूरा छोड़ दिए जाने का एक बड़ा कारण यह है कि वह जो कुछ दे जाना चाहता था उसे समाप्त नहीं कर सका। अधिकांश दार्शनिक अपने ग्रंथों के प्रकाशन के अर्द्ध शताब्दी पश्चात् महत्त्वहीन हो जाते हैं। केवल महानतम दार्शनिकों के विचार ही व्यक्ति की मृत्यु के शताब्दियों बाद तक रहते हैं और जहां वे दार्शनिक रहे और काम किया उससे दूर स्थानों में उनके विचार आगे बढ़ते हैं और समृद्धि को प्राप्त होते हैं। पियर्स की विचार-धारा का आज यूरोप और अमरीका में उसके जीवनकाल की अपेक्षा कहीं अधिक अध्ययन तथा अनुशीलन किया जाता है। यह इस बात का लक्षण है कि भावी पीढ़ियों का निर्णय सम्पूर्ण होने पर पियर्स उन इने-गिने दार्शनिकों में स्थान प्राप्त करेगा, जो विचारों के रूप में अमरता प्राप्त करते हैं।

# व्यवहारवादी सत्य : विलियम जेम्स

अपनी युवावस्था में विलियम जेम्स यह नहीं निश्चय कर सका था कि वह वैज्ञानिक होना चाहता है अथवा कलाकार। अपने पिता की उदारता के कारण उसके लिए यूरोप तथा अमरीका में विज्ञान तथा कला दोनों का ही अध्ययन सम्भव हो सका। जेम्स में हमें दृष्टिकोण की जो विशालता दिखाई देती है और विभिन्न मतों के प्रति उसमें जो सहनशीलता मिलती है, उसका मुख्य कारण जेम्स का दो पृथक् क्षेत्रों से परिचय तथा जानकारी ही थी। ३० वर्ष का होने पर जान पड़ा कि उसने विज्ञान को अपना लिया है, क्योंकि इन्हीं दिनों उसकी नियुक्ति शरीर-विज्ञान के अध्यापक के रूप में हारवर्ड में हो गई; परन्तु जेम्स अपनी दिलचस्पी कुछ क्षेत्र में सीमित नहीं कर सका। प्रथम तो उसका झुकाव शरीर-विज्ञानीय मनोविज्ञान की तरफ हुआ और अपनी इस दिलचस्पी से प्रेरित होकर उसने अमरीका की प्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोग-शाला सन् १८७६ में स्थापित की। बाद में उसने मनोविज्ञान के विषय में अधिक दिलचस्पी लेना आरम्भ किया। कुछ समय तक वह मनोविज्ञान के अध्ययन में जुट गया और १८९० में उसने 'मनोविज्ञान के सिद्धान्त' ( Principles of Psychology ) शीर्षक अपना प्रसिद्ध ग्रंथ दो जिल्दों में प्रकाशित किया। इस ग्रंथ से मनोविज्ञान को नई दिशा प्राप्त हुई और दार्शनिक क्षेत्र पर भी जेम्स की मनोवैज्ञानिक विचारधारा का असर पड़ा। जेम्स से पूर्व एक जैसे विचारों का पारस्परिक सम्बन्ध यांत्रिक माना जाता था; किन्तु जेम्स ने यह मान्यता उपस्थित की कि वातावरण के अनुकूल होने की प्रक्रिया में मन एक गतिशील तथा कार्यकारी साधन है। जेम्स के मतानुसार मन एक विशेष प्रकार के आचरण का ही नाम है।

जेम्स ने मन तथा शरीर के बीच की दीवार को गिरा दिया। पहले मन को मनुष्य का बौद्धिक तथा चेतनामय आचरण कहा जाता था और शरीर

को वह स्थल माना जाता था, जहाँ यह आचरण होता है। इस प्रकार जेम्स की कृति ने मन तथा जड़तत्त्व की उस द्वैधता को नष्ट करने का मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया, जिससे आधुनिक दर्शन का श्रीगणेश होता रहा है। साथ ही इस मान्यता पर बल देकर कि मन कोई तत्त्व न होकर प्रक्रिया है, जेम्स ने 'मानसिक अवस्थाओं' की उस मान्यता की भी जड़ खोद दी, जो जॉन लॉक के समय से ही ब्रिटिश अनुभववादी परम्परा की रीढ़ रही है। जेम्स ने कहा कि हमें इस मान्यता को बिल्कुल त्याग देना चाहिए कि मन कोई स्वतंत्र अथवा पृथक् तत्त्व है। उसके विचार में मन कोई ऐसा द्रव्य नहीं है, जिसे "भावनाओं, विचारों अथवा मानसिक अवस्थाओं" में बांटा जा सके। मन प्रक्रिया है। यह एक ऐसी संचारणशील प्रक्रिया है, जिसके द्वारा शरीर-यंत्र संघटित रहता है। यद्यपि मनुष्य में सामंजस्य की स्थापना चेतनापूर्ण ढंग से होती है, फिर भी यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस चेतना की प्राप्ति बाहर से नहीं होती ; किन्तु वह प्रक्रिया के भीतर ही घुली-मिली रहती है।

अपने इस ग्रंथ के अन्तिम अध्याय के अलावा जेम्स ने अपने मनोविज्ञान-सम्बन्धी ग्रंथ में भी दार्शनिक पक्ष को जानबूझ कर अलग रखा ; फिर भी उसके दार्शनिक दृष्टिकोण का निर्माण होता रहा और मनोविज्ञान के क्षेत्र में उसकी मान्यताओं के दार्शनिक परिणाम भी निकलते रहे। जेम्स की दर्शन की समस्याओं के प्रति शुरू से ही दिलचस्पी थी। किशोरावस्था में जब पिता भोजन करते समय परिवार के लोगों से दार्शनिक समस्याओं पर विचार-विनिमय करते थे, तो जेम्स भी उनमें दिलचस्पी लेता था। हारवर्ड में शरीर-विज्ञान का अध्यापक नियुक्त होने से पूर्व जेम्स पियर्स के तत्त्व-मीमांसा क्लब ( Metaphysical Club ) की कार्यवाही में नियमित रूप से भाग लेता था। उन्हीं दिनों उसने कुछ ऐसे लेख भी लिखे थे, जिनमें उसकी बाद की दार्शनिक विचारधारा की एक झलक मिलती थी ; परन्तु बाद में मनोविज्ञान-सम्बन्धी अपने कार्य के कारण ही जेम्स का झुकाव दार्शनिक विचारों की तरफ हुआ। १८९७ में वह दार्शनिक अनुशीलन में पूरी तरह लग गया और अपने जीवन के शेष १३ वर्ष उसने इसी क्षेत्र में व्यतीत किए। अनेक कारणों से, जिनमें स्वास्थ्य का लगातार बुरा रहना भी एक था, जेम्स अपनी दार्शनिक विचारधारा को क्रमबद्ध तरीके से उपस्थित नहीं कर सका ; परन्तु उसने जितना भी लिखा, उससे उसकी विचारधारा को ठीक तरह समझने का आधार अवश्य मिल जाता है।

जेम्स ने अपने दर्शन के ढांचे को 'मौलिक अनुभववाद' ( Redical empiricism ) की संज्ञा दी और दार्शनिक अध्ययन के अपने तरीके को उसने व्यवहारवाद कहा। अपने ग्रंथ 'सत्य के अर्थ' ( The Meaning of Truth ) के प्राक्कथन में जेम्स ने मौलिक अनुभववाद की संक्षेप में व्याख्या की है। उसने कहा है कि मौलिक अनुभववाद में पहले अनुमान किया जाता है, फिर तथ्य का वर्णन किया जाता है और अन्त में एक सामान्यीकृत परिणाम निकाला जाता है। मौलिक अनुभववाद की मान्यता इस प्रकार की गई कि वह पियर्स को भी मान्य होती। दार्शनिक विषयों के विचार के लिए केवल ऐसे उपादान ही ग्राह्य माने जाते हैं, जिनकी व्याख्या मानवीय अनुभव के द्वारा सम्भव हो। जेम्स इस बात से इनकार नहीं करता था कि विश्व में इन्द्रियगोचरोपरि ( Suprasensible ) वस्तुएँ हैं। उसका कहना इतना ही था कि अनुभव के परे वस्तुओं का अस्तित्व चाहे हो अथवा नहीं; किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में अनुभवातीत वस्तुओं पर विचार नहीं किया जा सकता। जेम्स की यह मान्यता नहीं थी कि जिसका अनुभव नहीं हो सकता, उसका अस्तित्व ही नहीं है और केवल अनुभवजन्य वस्तुओं को ही मानव महत्त्व प्रदान कर सकते हैं। यदि जेम्स अपनी मान्यता में यह भेद नहीं करता, तो उसका अनुभववाद ब्रिटिश-परम्परा के अनुभववादियों से शायद ही भिन्न होता। जेम्स परम्परागत अनुभववादियों के आगे अपनी इस उक्ति के कारण बढ़ गया कि वस्तुओं के मध्य के सम्बन्ध भी उतने ही अनुभवगम्य हैं, जितनी कि वस्तुएँ स्वयं हैं। सम्बन्ध विश्व की रचना से परे नहीं हैं और न वे मन की निरंकुश प्रक्रिया के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले अनुभव पर ही निर्भर हैं। वे अनुभव के परिणाम भी नहीं हैं। वे अनुभव के अंश हैं। सम्बन्धों के प्रत्यक्ष होने के विचार ने जेम्स को इस परिणाम पर पहुँचा दिया कि विश्व का जैसा ज्ञान हमें है, उसे प्राप्त करने के लिए हमें इन्द्रियातीत साधनों पर निर्भर रहना आवश्यक नहीं। अनुभव द्वारा जानी जाने वाली वस्तुएँ अनुभवगम्य सम्बन्धों द्वारा परस्पर सम्बन्धित हैं। इससे यह परिणाम भी निकलता है कि संसार की शृंखला स्वतंत्र कड़ियों से जुड़ी हुई है।

जेम्स ने अपने अनुभववाद को स्वीकृत कराने के लिए सत्य के एक व्यवहारवादी सिद्धान्त का विकास किया। बहुधा जेम्स को इस सिद्धान्त के लिए सब से अधिक श्रेय दिया जाता रहा है; किन्तु इसी स्थान से पियर्स से उसका मतभेद भी मौलिक रूप धारण कर लेता है। जेम्स ने १८९८ में केलिफोर्निया

विश्वविद्यालय में भाषण करते हुए व्यवहारवाद के लिए पियर्स के तर्क का सहारा अपनी मान्यता को आगे बढ़ाने के लिए लिया। उसने कहा कि किसी भी दार्शनिक मान्यता का हमारे होने वाले अनुभव में एक विशेष अर्थ हो सकता है। यह अनुभव सक्रिय अथवा निष्क्रिय कैसा भी हो ; किन्तु उसका कोई-न-कोई विशेष अर्थ अवश्य होगा। जेम्स ने कहा कि यह अनुभव सामान्य कोटि का न हो कर विशिष्ट कोटि का होता है। इस स्थल पर जेम्स और पियर्स की मान्यताओं का भेद स्पष्ट हो गया है। जब कि पियर्स की दिलचस्पी सामान्य कोटि के अनुभव में थी, वहाँ जेम्स को विशिष्ट कोटि के अनुभव की चिन्ता अधिक थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, पियर्स वस्तुओं के अनुभव तथा अनुभव के अर्थ की बात करता हुआ आदत पर पहुँच जाता है। इसके विपरीत, जेम्स अर्थ की चर्चा उसके विशेष उपयोगों की दृष्टि से करता है। इस भेद के कारण पियर्स और जेम्स सत्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए एक दूसरे से दूर चले गए हैं। पियर्स के लिए सत्य की कसौटी एक ऐसा सार्वजनिक प्रमाणीकरण है, जो एक वैज्ञानिक विधि के निकट पहुँच जाता है। जेम्स के लिए सत्य अनुभव के कामचलाऊ मूल्यों का ही एक सामूहिक नाम है। ये कामचलाऊ मूल्य अथवा उपयोग भावी अनुभव में निहित रहते हैं। जेम्स के लिए सत्य वास्तव में यथार्थ हो उठता है।

जेम्स का सत्य का सिद्धान्त एक अभिनव व्यवहारवादी कल्पना पर आधारित है। इसे प्राप्त करने के लिए हमें प्राथमिक सिद्धान्तों, मान्यताओं तथा कल्पित आवश्यकताओं से आँखें फेर कर अन्तिम वस्तुओं, परिणामों तथा तथ्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। जेम्स के सत्य के सिद्धान्त का निर्माण उसके इसी दृष्टिकोण से हुआ है। विचार तभी सत्य है, जब मनुष्य उन्हें हृदयंगम कर सकें और उनकी पुष्टि तथा प्रमाणीकरण हो सके। विचार की सत्यता कोई स्थिर विशिष्टता नहीं है। विचार को सत्यता का रूप प्राप्त होता है। घटनाएँ ही किसी विचार को सत्य बनाती हैं। प्रमाणीकरण की प्रक्रिया में ही सत्य निहित है ; परन्तु प्रमाणीकरण को हमें व्यवहारवादी मूल्य देना चाहिए ; क्योंकि यदि हम ऐसा नहीं करते, तो एक अस्थिर स्थिति में दूसरी अस्थिर स्थिति की तरफ हमें भटकना पड़ता है। व्यवहारवादी दृष्टि से प्रमाणीकरण का यही अर्थ है कि प्रमाणीकरण का कुछ व्यावहारिक परिणाम होता है।

इस तरह जेम्स के मतानुसार सत्य का अर्थ उसके उपयोग अथवा लाभ से जुड़ा हुआ है। किसी भी विचार को उसके उपयोगी होने के कारण सत्य

कहा जा सकता है और इस तरह जो सत्य है वह उपयोगी भी है। व्यवहारवादी दृष्टिकोण से इन दोनों का एक ही अर्थ है। सत्य वही है, जो व्यावहारिक कसौटी पर खरा उतरता है। जेम्स के मतानुसार सत्य वही है, जिसके लिए प्रमाणीकरण की प्रक्रिया जारी हो सकती है और उपयोगी वह है, जिसकी प्रक्रिया अनुभव के क्षेत्र में पूर्ण हो लेती है। किसी विचार की सत्यता जानने के लिए हमें पता लगाना होगा कि उसका ठोस परिणाम किसी के जीवन पर कैसा पड़ेगा। जेम्स इसे "अनुभववादी क्षेत्र में सत्य का नकद मूल्य कहता" था। इन शब्दों की साहित्यिक उपयोगिता चाहे कुछ रही हो; किन्तु जेम्स ने इन्हें अपना कर अच्छा नहीं किया। इससे व्यवहारवाद के विरोधियों को हमला करने की सुविधा मिल गई। उन्होंने कहा कि व्यवहारवाद एक निम्न कोटि का जड़वादी दर्शन है, जिसमें विचारों की उपयोगिता उनके नकद मूल्य के कारण होती है।

इस अलंकार के सम्बन्ध में आलोचकों का चाहे जो मत रहा हो, किन्तु जेम्स को वह बहुत ही पसन्द आया और उसने उसका केवल प्रयोग ही जारी नहीं रखा; बल्कि उसका विस्तार भी किया। जेम्स अपने इस अलंकार के कारण पियर्स की मान्यता प्रमाणीकरण की योग्यता पर पहुँच गया। उसने कहा कि अनुभव के अन्तर्गत अनेक सत्य-सम्बन्धी प्रक्रियाएँ होती हैं और ये सब सामान्य बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं तथा सम्बन्धों के संदर्भ में प्रमाणीकरण की ओर ले जाती हैं। ये साधारण सत्य अन्य सभी सत्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे जीवन में जिन अधिकांश सत्यों से हमारा काम पड़ता है, उनका प्रमाणीकरण हम करते नहीं; बल्कि हमारी भावना उन्हें सत्य मान लेती है। कारण यही है कि हमें विश्वास होता है कि उनका प्रमाणीकरण सम्भव है और उपस्थित वस्तु अथवा तथ्य प्रमाणित होने की क्षमता रखती है। जेम्स ने इस विचार तक अपने 'नकद मूल्य' सम्बन्धी अलंकार का विस्तार किया। उसने कहा कि "सत्य मुख्यतः साख पर निर्भर रहता है। हमारे विचार और विश्वास तब तक चलते हैं, जब तक उन्हें चुनौती नहीं दी जाती, उसी तरह जिस तरह बैंक की हुंडियाँ स्वीकार किए जाने के कारण चलती रहती हैं।" इस तरह प्रमाणित होने की योग्यता रखने वाला कोई विचार भी उतना ही सत्य है, जितना प्रमाणित हो चुकने वाला एक दूसरा सत्य। इस प्रकार, प्रमाणित होने की योग्यता भी प्रमाणीकरण की तरह ही उपयोगी हुई।

अन्य व्यवहारवादियों की तरह जेम्स के सत्य-सम्बन्धी सिद्धान्त का भी

एक सामाजिक पक्ष था। सत्य विचार मनुष्य का अपने समाज से लाभपूर्ण सम्बन्ध कायम करते हैं और वे उसे निरालेपन, झक्कीपन तथा निरर्थक विचारधारा से हटा कर समाज के निकट पहुँचाते हैं। परन्तु, जहाँ पियर्स सामाजिक पृष्ठभूमि में अपने सत्य के प्रयोग वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला में किए जाने की बात कहता था, वहाँ जेम्स सत्य को उसके स्वीकृत होने की योग्यता को देखकर उसका मूल्यांकन करने के पक्ष में था। जेम्स के मत में यदि किसी व्यक्ति के अनुभव में किसी तथ्य के स्वीकृति प्राप्त करने का गुण है, तो उसमें सत्य का मूल्य है।

विशिष्ट अनुभव के प्रति अपनी आस्था के कारण जेम्स अन्य प्रमुख व्यवहारवादियों से कुछ भिन्न परिणाम पर पहुँचा। ऐसी उक्ति शायद ही कोई हो, जो दुनिया में किसी-न-किसी को स्वीकार्य नहीं हो। जेम्स स्वयं मानता था कि दो जुड़वा व्यक्तियों के अनुभव में भी किसी उक्ति की परस्पर विरोधी प्रतिक्रिया हो सकती है। यदि एक व्यक्ति को स्वीकार्य होने के कारण वह सत्य हो सकती है, तो दूसरे व्यक्ति को अस्वीकार्य होने के कारण वह असत्य हो सकती है। जेम्स ने सत्य को व्यक्ति के लिए उसके उपयोगी होने पर निर्भर बना दिया। जेम्स ने अपने सत्य के सिद्धान्त का संक्षेप करते हुए कहा कि सत्य उसके विचार में एक साधन के रूप में आता है, जिस प्रकार आचरण के क्षेत्र में 'उचित' एक साधन के रूप में आता है। परन्तु, उसने सत्य का साधन के रूप में प्रयोग करते हुए यह शर्त लगा दी कि यह साधन दीर्घकालीन होना चाहिए। परन्तु, इस शर्त से पियर्स को सन्तोष नहीं हुआ।

जेम्स ने पियर्स तथा अपने अन्य आलोचकों से कहा कि विभिन्न दार्शनिक विचार वस्तुतः विभिन्न स्वभावों के परिचायक हैं। दार्शनिक अपना मत प्रकट करते समय जिन परिणामों पर अपने स्वभाव अथवा प्रकृति के कारण पहुँचता है, उनके लिए वह अवैयक्तिक कारण देता है। सत्य तो यह है कि बाह्य कारणों की अपेक्षा कोई दार्शनिक अपने मानसिक झुकाव के कारण ही अपनी दार्शनिक स्थिति ग्रहण करता है। उसने कहा कि रोइस कोमल प्रकृति का है और इसीलिए उसकी दार्शनिक विचारधारा उसके अपने स्वभाव से प्रभावित है। जेम्स ने कहा कि कोमल प्रकृति की दार्शनिक विचारधारा बुद्धिवादी, आशावादितापूर्ण, धार्मिक तथा रूढ़िवादी होती है और एक कोमल स्वभाव वाला दार्शनिक विश्व की सीमित व्यवस्था से संतुष्ट हो जाता है। जेम्स ने अपने को कठोर स्वभाव का दार्शनिक बताया। कठोर प्रकृति वालों की दार्शनिक

विचारधारा अनुभववादी, जड़वादी, निराशावादी, अधार्मिक तथा संशयालु होती है। कठोर प्रकृति वाला दार्शनिक विश्व को विचार-जगत् के बीच भी वैसा ही देखना चाहता है, जैसा वह वस्तुतः है। जेम्स ने यह तर्क चाहे जहाँ से क्यों न ग्रहण किया हो; किन्तु विरोधियों का मुँह बन्द करने के लिए वह अच्छा था। सचमुच ही कोई विचारधारा उसे उपस्थित करने वाले के स्वभाव का परिणाम होती है। इस विचारधारा का विस्तार किया जा सकता है; किन्तु उसकी मूल स्थिति से हटा नहीं जा सकता।

परन्तु, एक दृष्टि से जेम्स का व्यवहारवाद कठोर प्रकृति का नहीं था। स्वीकृति का जेम्स ने जो उपयोग किया, उससे 'विश्वास करने की इच्छा' सम्बन्धी सिद्धान्त का विकास हुआ। कतिपय विचार प्राप्त प्रमाणों के अनुकूल हैं और उन्हें सत्य कहा जाता है। अन्य विचार उपलब्ध प्रमाणों के प्रतिकूल पड़ते हैं और उन्हें असत्य कह दिया जाता है। कुछ ऐसे भी विचार हैं, जिनके लिए प्रमाण नहीं मिलते अथवा इतने अपर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि उनके आधार पर विचारों को सत्य अथवा असत्य नहीं कहा जा सकता। इस क्षेत्र में, जहाँ कि वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है, हमें अपने ही खतरे पर ऐसे विचारों को स्वीकार करने का अधिकार है, जिन्हें अपने जीवन के लिए हम लाभप्रद समझते हैं। जेम्स ने यह भी कहा कि विचार में हमारा विश्वास भी कभी-कभी उस विचार को पुष्टि प्रदान करता है। यदि हमारा विश्वास है कि अमुक व्यक्ति ईमानदार है, तो हमारे इस विश्वास से उस व्यक्ति के ईमानदार बने रहने की प्रेरणा मिलती है। यदि किसी स्त्री को विश्वास दिला दिया जाय कि वह रूपवती है, तो इस तथ्य से भी उसमें सौन्दर्य की एक सीमा तक स्थापना हो सकती है। इस सिद्धान्त के प्रकाश में जेम्स धार्मिक विश्वास का अनौचित्य स्वीकार करता है। धार्मिक विश्वास से मनुष्य में आशा और साहस का संचार होता है और इन दोनों गुणों से विश्वासी व्यक्ति के जीवन को लाभ पहुँच सकता है। इस तरह, उसे अपने धार्मिक विश्वास की पुष्टि का भी आधार मिल जाता है।

'विश्वास करने की इच्छा' सम्बन्धी जेम्स का तर्क उसके मनोवेगों के सिद्धान्त का औचित्य प्रकट करने के लिए दिए गए तर्क के ही समान था। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जेम्स ने सी० लांजे के साथ मिलकर किया था और १८८६ में उसे प्रकाशित भी किया था। यहाँ हमें यह देखना है कि जेम्स विश्वास स्थापित करने के क्षेत्र में ऐसी सामग्री के पक्ष में नहीं था, जो

अविश्वसनीय हो अथवा जिस पर आलोचनात्मक दृष्टि से वह स्वयं विचार नहीं करना चाहता था। उसका मत केवल यही था कि विचार का उद्देश्य सुविचारित कार्य की ओर प्रेरित करना है। जहां प्रमाणीकरण की गुंजाइश है, वहाँ कार्य का स्वरूप बिना किसी कठिनाई के निश्चित हो जाता है। यदि हम मध्यवर्ती अवस्था में आवश्यकता से अधिक सतर्क रहते हैं, तो जीवन के अनेक क्षेत्रों में हम कोई भी कार्य करने में असमर्थ रह जायेंगे ! जेम्स ने कहा कि यह अज्ञानतापूर्ण स्थिति में कार्य करने से भी बुरा है, जहां परिणाम संयोग पर छोड़ दिया जाता है। जेम्स ने संयोग के दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम, ऐसा मामला है, जिसमें प्रमाणीकरण के लिए कुछ भी साक्षी मिलना असम्भव है। इस मामले में यदि हम विश्वास की स्थापना की तरफ नहीं बढ़ते, तो सत्य की प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। दूसरा उदाहरण ऐसा है, जिसमें हमारे विश्वास से ही प्रमाणीकरण के लिए आवश्यक तथ्यों की उत्पत्ति होती है। ऐसे मामलों में विचार कार्य को जन्म देता है, जिस प्रकार इच्छा विचार को जन्म देती है। जेम्स ने इन सभी मामलों में संशय के विरुद्ध विश्वास के दावों की पुष्टि की।

जेम्स के जीवनी-लेखक राल्फ बार्टन पैरी ने कहा है कि जेम्स में कठोर मनोवृत्ति वाले अनेकवाद का विकास दो विभिन्न उद्देश्यों से हुआ। इनमें से पहला, जिसका जेम्स ने कभी पूर्णतः परित्याग नहीं किया, वैयक्तिक इच्छाओं की अनेकता के प्रति उसका विश्वास था। इस अनेक व्यक्तियों की दुनिया की इसीलिए न हम सराहना कर सकते हैं और न निन्दा। उसका मूल्यांकन प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में अलग से किए गए निर्णय द्वारा ही हम कर सकते हैं। जेम्स ने कहा कि जहां उपस्थित प्रमाणों से किसी परिणाम पर पहुंचना आवश्यक नहीं, वहां अनेक व्यक्तियों के समूह में से प्रत्येक को विश्वास करने अथवा नहीं करने का अधिकार है और इसी को विश्वास करने की इच्छा अथवा अनिच्छा-सम्बन्धी स्वतंत्रता कहा जाता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि कुछ मामलों में प्रमाणीकरण से पूर्व विश्वास की स्थापना तथ्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक है और इस पृष्ठभूमि में वह इस परिणाम पर भी पहुंचा कि स्वतंत्र वैयक्तिक इच्छा सत्य की उत्पत्ति की साधन बन सकती है। जेम्स ने कहा कि इस अनेकता के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि मनुष्य अपने से भिन्न मत रखने वालों के विचार, भावना तथा अनुभव के सम्पर्क में आएं। इस प्रकार, जेम्स जार्ज हर्बर्ट मीड की, जिससे हम इस अध्याय के अगले खंड में

परिचय प्राप्त करेंगे, उस मान्यता के निकट पहुँच गया, जिसके अनुसार एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति की दृष्टि से अपने आचरण पर विचार करने की प्रवृत्ति से सामाजिक मन का विकास होता है।

परन्तु, जेम्स इस नैतिक आदर्शवाद की स्थापना करके ही तुष्ट नहीं हो गया। बाद में उसने अनेकवाद के एक दूसरे भावपक्षीय रूप का भी विकास किया। इसकी प्रेरणा उसे इस विचार से मिली कि विश्व की रचना एक असीम विभिन्नता युक्त 'सामग्री' से हुई है। उसने एक बार जोसिया रॉइस को अपने एक पत्र में लिखा कि दुनिया भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्वों का एक विचित्र योग है, जिसके विभिन्न अंगों को लेकर लोग उसका मूल्यांकन करने बैठ जाते हैं। जेम्स ने अपने पिछले दिनों में यह मान्यता दी कि निजी तथा विशेष अनुभवों में मनुष्य को जिस अनेकता का ज्ञान होता है, वह विश्व की अनेकता की ही एक प्रतिच्छाया है। अपने आंशिक अनुभव में हमें विविधता के दर्शन होते हैं और हम देखते हैं कि ये विविध तत्व परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रत्येक सम्बन्ध अनुभव का एक पहलू अथवा उसकी विशेषता है। ये सम्बन्ध एक दूसरे से सम्बन्धित अवश्य होते हैं; किन्तु एक दूसरे पर निर्भर नहीं होते। जेम्स ने यह भी कहा कि अनुभव में प्राप्त सम्बन्ध स्थाई, सनातन तथा सार्वभौमिक न होकर अस्थाई, परिवर्तनशील तथा विशिष्ट होते हैं। उदाहरण के लिए, एक वस्तु दूसरी से सम्बन्ध कायम कर सकती है अथवा उस सम्बन्ध का परित्याग कर सकती है।

जेम्स ने एकवाद (Monism) का विरोध किया, जिसमें विश्व की कल्पना एक अन्तर्निहित व्यवस्था के रूप में की गई है। हम चाहे जहाँ से अथवा जिस वस्तु से आरम्भ करें, विश्व-प्रणाली का ही अंग वह वस्तु होगी। सम्बन्ध विश्व के स्थाई ढाँचे के अंग हैं। यदि कोई वस्तु सम्बन्धों की प्रणाली से अलग हो जाय, तो वह उस प्रणाली के भीतर कभी नहीं आ सकेगी। जेम्स ने कहा कि अनेकवाद तथा एकवाद के मध्य यह एक व्यवहारवादी भेद है। यदि 'क' का सम्बन्ध 'ख' से छूट जाता है, तो एकवाद के अनुसार वह फिर कभी अपना पुराना सम्बन्ध कायम नहीं कर सकेगा। एकवाद की इस मान्यता के विरुद्ध अनेकवाद की मान्यता यह रही है कि 'क' और 'ख' का एक बार सम्बन्ध-विच्छेद होने पर अवसर आने पर वे एक दूसरे से पुनः सम्बन्ध कायम कर सकते हैं। सच तो यह है जेम्स ने एकवाद का जो उपर्युक्त वर्णन किया, वह कुछ अतिरंजना लिए हुए था। परन्तु इस अतिरंजित वर्णन से हमें यथार्थता

के सम्बन्ध में दोनों विचारधाराओं को समझने में सुगमता होती है। इसे जेम्स ने क्रमशः 'ईच फार्म' और 'आल फार्म' की संज्ञा दी है। रोइस-जैसी निरपेक्ष दार्शनिक विचारधारा में यथार्थता को सामूहिक रूप देने की चेष्टा की जाती है। उसमें यथार्थता की कल्पना केवल सामूहिक रूप में ही होती है। यथार्थता के इस एकवादी दृष्टिकोण में विश्व की सामूहिक तथा शाश्वत एकता का असाधारण महत्व है।

जेम्स ने 'ईच फार्म' या यथार्थता के अवच्छेद सिद्धान्त ( Distributive Theory of Reality) का सम्बन्ध अनेकवाद तथा मौलिक अनुभववाद से कायम किया। उसने कहा कि जिस सामूहिक एकता की बात एकवाद के अन्तर्गत कही जाती है, उसकी परिधि से परे कोई वस्तु रह जा सकती है। जेम्स ने इस तथ्य पर बल दिया कि अनेकवाद उतना ही सम्भव है, जितना एकवाद सम्भव है। अनेकवाद के अन्तर्गत ऐसे सम्बन्ध भी हो सकते हैं, जिनका अस्तित्व बाद में कभी न हो। प्रत्येक परिस्थिति में अनेक विकल्प हो सकते हैं। सम्पूर्ण प्रणाली के विभिन्न अंगों का सम्बन्ध वैसा नहीं भी हो सकता है, जैसा प्रणाली के संघटन के लिए आवश्यक माना जाता है। दूसरी तरफ यह भी विचारणीय बात है कि यथार्थता की, परस्पर विरोधी तत्त्वों के समूह के रूप में, कल्पना नहीं की जा सकती। जेम्स ने बताया कि असम्बद्ध तत्त्व अन्य मध्यवर्ती तत्त्वों द्वारा सम्पूर्ण प्रणाली के रूप में संघटित हो सकते हैं। इस प्रकार, प्रणाली का प्रत्येक अंग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर सम्बन्धित है। इस प्रकार, अनेकवाद से विश्व के अस्तित्व की सम्भावना नहीं नष्ट हो जाती ; किन्तु उससे निरपेक्षतावादियों के अन्तर्ज्ञानवादी अथवा बुद्धिवादी विश्व की मान्यता को अवश्य ठेस पहुँचती है। इसके अन्तर्गत यथार्थता को एक ऐसी शृंखला के रूप में देखा जाता है, जिसमें कड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण प्रणाली सम्बन्धित रहती है। यथार्थता के अवच्छेद सिद्धान्त से यथार्थता तथा उसके आभास का अन्तर मिट जाता है और यथार्थता को, जिस रूप में वह अनुभव की जाती है, उसी रूप में उसे माना जा सकता है।

यथार्थता को अनुभव के साथ सम्बद्ध कर देने का परिणाम यह होता है कि जेम्स ने 'मनोविज्ञान के सिद्धान्त' नामक पुस्तक में जो स्थिति ग्रहण की, उसका महत्त्व प्रकट हो जाता है। इस पुस्तक में ही जेम्स ने 'चेतना की धारा'-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जेम्स के मतानुसार यह

कहना गलत है कि अनेक प्रत्यक्षों की पृथक् इकाइयों से मिल कर चेतना में पहुँचने को ही अनुभव कहा जा सकता है। जेम्स चेतना के अस्तित्व पर ही सन्देह करता था और कहता था कि चेतना अनुभव का प्रवाह मात्र है। इस प्रकार जेम्स इस परिणाम पर पहुँचा कि जिस तरह अनुभव अथवा चेतना विचारों के क्षेत्र तक सीमित नहीं है, उसी तरह यथार्थता भी विचारों तक सीमित नहीं मानी जा सकती।

जेम्स के व्यवहारवादी दर्शन में विश्व के बुद्धिवादी तथा क्रमबद्ध ढांचे के लिए स्थान नहीं था। उसकी सहानुभूति अबुद्धिवादी तथा असाधारण के लिए थी। मानवीय आत्मा की असाधारण अभिव्यक्तियों को उसके मनोवैज्ञानिक अनुशीलन में विशेष स्थान मिला हुआ था। जेम्स की विचारधारा के इन मुद्दओं पर 'धार्मिक अनुभव के विभिन्न प्रकार' शीर्षक से प्रकाशित व्याख्यान-संग्रह में प्रकाश डाला गया है।

# सामाजिक व्यवहारवाद : जार्ज हर्बर्ट मीड

प्रमुख व्यवहारवादियों के बीच शायद जार्ज हर्बर्ट मीड, जो चिकागो विश्वविद्यालय में अध्यापक था, सबसे कम प्रसिद्ध हुआ ; किन्तु इसके बावजूद उसके विचार कम मनोरंजक नहीं थे। कारण यह है कि मीड ने कभी ठीक तरह अपने विचारों को प्रकट नहीं किया। यहाँ तक कि मीड अपने केरस व्याख्यान-संग्रह को भी प्रकाशन के लिए संगृहीत नहीं कर सका और आर्थर ई० मर्फी ने उसका सम्पादन 'वर्तमान का दर्शन' ( Philosophy of the Present ) शीर्षक के अन्तर्गत किया। विद्यार्थियों के लिए लिखे गए नोटों, लेखों तथा अन्य आलेखों से तीन ग्रंथ चार्ल्स डवल्यू० मॉरिस के नेतृत्व में स्थापित सम्पादक-मंडल ने संगृहीत किए। परन्तु, स्वयं मीड ने अपनी दार्शनिक विचारधारा को कभी ग्रंथ के रूप में अन्तिम रूप नहीं दिया। विलियम जेम्स तथा जॉन डिवी की तरह—और मुख्यतः डिवी की देख-रेख में—मीड ने दर्शन तथा मनोविज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में कार्य किया। मीड अपने सामाजिक व्यवहारवाद के सिद्धान्त का विकास कर ज्ञान के सिद्धान्त तथा मूल्यों के सिद्धान्त को परम्परागत विचारकों की द्वैधता से मुक्त कर सका। उसने आधुनिक भौतिक सिद्धान्तों के प्रकाश में अपनी दार्शनिक स्थिति के निर्माण का भी प्रयास किया ; किन्तु इसमें उसे केवल आंशिक सफलता ही मिली।

मीड की सामाजिक विज्ञान में दिलचस्पी विकासवादी जीव-विज्ञान में उसकी अभिरुचि का ही एक परिणाम था। दर्शन मानवीय ज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जिसका आधार बहुत पहले ही सुदृढ़ हो चुका है। १८९० में, जब कि मीड ने विकासवादी जीव-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य आरम्भ किया, यह विज्ञान सुदृढ़ आधार प्राप्त कर चुका था। अपने समय के अन्य दार्शनिकों

की तरह मीड ने भी अनुभव किया कि विकासवाद का सिद्धान्त स्वीकार करने के कारण केवल शरीर-रचना की ही नहीं ; बल्कि मन की भी विकासवादी व्याख्या करना आवश्यक हो गया है। इसलिए, उस समय यह मान्यता स्थापित की गई कि शारीरिक प्रणाली और उसके वातावरण की अन्योन्य क्रिया के ही परिणामस्वरूप मन का विकास हुआ। यहाँ तक कि सामाजिक संस्थाओं तक के जन्म तथा विकास की जीव-विज्ञान से प्रेरणा लेकर व्याख्या करने की चेष्टा की गई। सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में मीड ने मन तथा आत्मा के सम्बन्ध में एक ऐसी स्थापना की, जिसके अनुसार विचारशील मानव को प्रकृति के परे नहीं ; बल्कि उसके अन्तर्गत ही माना गया। मीड प्राचीन युनानियों की इस मान्यता से सहमत नहीं था कि बुद्धि अथवा विवेक प्रकृति के परे है। वह ईसाइयों की इस मान्यता से भी असहमत था कि आत्मा प्रकृति के परे है। यही नहीं, मीड आधुनिक दार्शनिकों की मन तथा शरीर की द्वैधता से भी, जिसमें मन प्रकृति से परे माना जाता है, असहमत था।

मीड इस परिणाम पर अपनी इस मान्यता के कारण पहुँचा कि मनोविज्ञान, आत्मा अथवा मन के एकमात्र अध्ययन में जो लग गया, यह उसकी एक गलती थी। मीड ने परम्परागत व्यक्तिवाद को ठुकरा कर यह मान्यता दी कि मन मनुष्य की सामाजिक कार्रवाई का परिणाम है। मनुष्य के सामाजिक वातावरण में सामाजिक कार्य की प्रेरणा निहित है। मीड इस परिणाम पर जर्मन मनोवैज्ञानिक वंट ( Wundt ) के संकेतों ( Gestures ) संबन्धी अध्ययन के परिणामस्वरूप पहुँचा। जहाँ डार्विन ने अपने ग्रंथ 'मनुष्य तथा जानवरों' में भावों की अभिव्यक्ति ( The Expression of the Emotions in Man and Animals ) में संकेतों पर वैयक्तिक प्रसंग में विचार किया है, वहाँ विलियम वंट ने सामाजिक पृष्ठभूमि में संकेतों के अर्थ तथा महत्त्व पर विचार किया। जब कि डार्विन के लिए संकेत केवल आत्म-अभिव्यक्ति मात्र थी, वहाँ वंट ने संकेत में उद्देश्य तथा अर्थ की स्थापना की। मीड संकेतों पर सामाजिक प्रसंग में विचार करते हुए वंट से कहीं आगे बढ़ गया। उसने संकेतों के आधार पर विचार प्रकट करने और भाषा के इसी आधार पर विकास की मान्यता उपस्थित की। मीड ने इस क्षेत्र में अपने पूर्ववर्तियों की, जिनमें वंट भी एक था, दो बातों को लेकर आलोचना की। पहली बात उसने यह कही कि पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने यह माना कि मन अथवा आत्मा का अस्तित्व समाज से पहले से था और उन्होंने मन अथवा आत्मा की

सहायता से सामाजिक प्रक्रिया की व्याख्या की। दूसरी बात उसने यह बताई कि इन लोगों ने जहाँ सामाजिक आधार पर विभिन्न मानसिक समस्याओं का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा भी की, वहाँ वे यह बताने में असमर्थ रहे कि किस प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया से मन का विकास हुआ। मीड ने इसमें से पहली मान्यता का उत्तर देते हुए कहा कि मन और आत्मा का विकास सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही हुआ है और मन अथवा आत्मा के प्रत्येक रूप का स्पष्टीकरण केवल सामाजिक क्षेत्र में हो सकता है। दूसरी मान्यता के प्रसंग में विचार करते हुए मीड ने एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि भाषा, जो मनुष्य के मुख से निकलने वाले संकेतों का समूह है, एक ऐसी प्रणाली है, जिसकी प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक संदर्भ से मन तथा आत्मा का प्रस्फुटन होता है।

इस सिद्धान्त में जीव वैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टिकोणों का समन्वय करने की चेष्टा की गई है। इसमें मीड का दावा है कि अन्योन्य शारीरिक प्रणालियों की एक सामाजिक प्रक्रिया निरन्तर जारी रहती है, जो संकेतों के द्वारा विचारों का आदान-प्रदान करती है। जब संकेतों की वार्ता अन्तर्मुखी हो जाती है, तभी मन तथा आत्मा का प्रादुर्भाव होता है। व्यक्ति की क्रिया का सामाजिक क्रिया में प्रस्फुटन होता है; किन्तु अधिक महत्त्व सामाजिक क्रिया का ही है। इसी आधार पर मीड के मनोविज्ञान को सामाजिक व्यवहारवाद कहा गया है। परन्तु, जॉन बी० वाटसन के वैयक्तिक तथा यांत्रिक व्यवहारवाद से, जिसका प्रचार कुछ अधिक हुआ है, यह भिन्न है। मीड के लिए भाषा एक ऐसी वस्तु है, जिसका बाहर से निरीक्षण सम्भव है। यह सामाजिक समुदाय के मध्य अन्योन्य क्रिया का एक रूप है। इसके अन्तर्मुख होने और मन के प्रस्फुटन में योग देने के बाद भी भाषा की पृष्ठभूमि मुख्यतः सामाजिक ही होती है। मीड ने 'व्यवहारवाद' शब्द का प्रयोग चेतना को हटाने अथवा व्यक्तित्व को नष्ट करने के लिए नहीं किया। उसने इस शब्द का व्यवहार अनुभव के प्रति व्यवहारवादी दृष्टिकोण ग्रहण करने के लिए किया। यह नहीं कहा गया कि मन (मानसिक व्यवहार) अमानसिक प्रक्रिया है; किन्तु यह मान्यता उपस्थित की गई कि वह ऐसा विशेष आचरण अथवा व्यवहार है, जो विशेष परिस्थितियों में अमानसिक प्रक्रियाओं का परिणाम है। यह भी मान्यता उपस्थित की गई कि पहले अमानसिक तथा बाद में मानसिक व्यवहार परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने वाली प्रक्रियाएँ हैं।

सामाजिक व्यवस्था की पृष्ठभूमि में सम्बन्धों का एक ढांचा बनता है और ये सम्बन्ध व्यापक सामाजिक प्रणाली के अभिन्न अंग हैं।

इस प्रकार, सामाजिक प्रक्रिया के भीतर होने वाली शारीरिक क्रियाएँ भाषा की सहायता से वैयक्तिक 'मन' अथवा आत्मा का रूप धारण कर लेती हैं। भाषा के विकास से पूर्व एक विशेष प्रकार के समाज का रहना तथा व्यक्तियों में विशेष शारीरिक क्षमता होना आवश्यक है। न्यूनतम समाज की कल्पना में एक से अधिक ऐसी शारीरिक इकाइयाँ रहना आवश्यक है, जो मिलजुल कर कोई सामाजिक कार्य करती हैं। सामाजिक कार्य का आशय यह हुआ कि व्यक्ति एक दूसरे के कार्य का सामाजिक संकेत के रूप में उपयोग करते हैं। यह संकेत कार्य की सम्पूर्णता के लिए मार्ग-दर्शक की भूमिका अदा करते हैं। उदाहरण के लिए दो कुत्तों की लड़ाई को लीजिए। एक कुत्ते के सामाजिक कार्य से दूसरे कुत्ते का कार्य निर्धारित होता है। एक कुत्ते के संकेत का मतलब दूसरे कुत्ते के लिए उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार विपक्षी के उठे घूँसे को देख कर कोई व्यक्ति अपने पर आघात की कल्पना कर लेता है। संकेतों का यह अर्थ किसी की निजी चेतना में नहीं रहता, बल्कि एक विशेष सामाजिक परिस्थिति का उसे परिणाम कहा जा सकता है। निश्चय ही कुत्तों की लड़ाई सामाजिक आचरण की निम्नतम कोटि है। उसे सामाजिक धरातल से कुछ निम्न कोटि का व्यवहार भी कहा जा सकता है; क्योंकि संकेत करने वाले कुत्ते के संकेत भाषा नहीं हैं, क्योंकि उस संकेत करने वाले कुत्ते का इरादा यह नहीं है कि वह संकेत के द्वारा कोई अर्थ प्रकट करे। कुत्तों की लड़ाई में भाग लेने वाले जीवधारी अभी चेतनापूर्ण अभिव्यक्ति की अवस्था को नहीं पहुँचे हैं। उनकी अभिव्यक्ति इसीलिए होती है कि ऐसा किए बिना वे रह नहीं सकते।

जब संकेत अर्थपूर्ण संकेतों का रूप धारण कर लेते हैं, तब कहा जा सकता है कि अर्थपूर्ण संकेत करनेवाला जीवधारी मन रखता है। अर्थपूर्ण अथवा महत्त्वपूर्ण संकेत वही है, जिसके अर्थ की संकेत करने वाला व्याख्या कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि संकेत करने वाला अपने संकेत की दूसरे पक्ष पर प्रतिक्रिया का अनुमान कर सके और यह भी अंदाज कर सके कि उसके संकेत का दूसरे पक्ष के आचरण पर कैसा असर पड़ेगा। दूसरे शब्दों में यही वह अवस्था है, जहाँ कोई व्यक्ति, जो अर्थ वह प्रकट करना चाहता है, प्रकट कर सकता है और उसके संकेत अनियंत्रित अथवा निरर्थक नहीं होते। भाषा के जन्म की भी यही अवस्था है

जब शरीरधारी प्राणी मन का विकास कर चुकता है और वह व्यक्तित्व के विकास के पथ पर होता है। डिवी की तरह, मीड ने सोचने अथवा विचार करने को कार्य करने का आयोजन अथवा कार्य करने का मानसिक अभ्यास कहा। मीड के शब्द इस प्रकार हैं—"जब हम विचार करते हैं कि हमें क्या करना है, तो जो कुछ हम करने जा रहे हैं, उस पर हम नियंत्रण कायम करते हैं।" इस प्रकार, मीड मन की मान्यता से अपनी विचारधारा प्रारम्भ नहीं करता और न वह मन से सामाजिक अवस्था को पहुँचता है। इसके विपरीत, वह वाह्य सामाजिक प्रक्रिया से शुरू कर व्यक्ति के अर्थपूर्ण संकेतों के द्वारा अभिव्यक्ति की सामाजिक प्रक्रिया तक पहुँचता है। इस प्रकार, सामाजिक पृष्ठभूमि में जिस मन का विकास होता है, वह आगे भी सामाजिक ही रहता है। जिस तरह हमारा विचार शुरू होता है, उसी तरह वह आगे भी बढ़ता है और अपनी इस अनुभूति के कारण कि हमारे कार्य का दूसरों पर असर पड़ेगा, हम अपने आचरण का नियंत्रण करने लगते हैं।

अब हम ऐसी स्थिति पर पहुँच गए हैं, जहाँ आत्मा की मान्यता पर विचार किया जा सकता है। जब कि मन से युक्त सत्ता अपने पर विचार करने लगती है, तब उसे आत्मा की संज्ञा दी जाने लगती है। आत्मा के विकास के लिए चारों तरफ जो भी कुछ है, उससे अपने को भिन्न समझने की ही चेतना पर्याप्त नहीं है; बल्कि दूसरे के दृष्टिकोण से अपनी सत्ता का मूल्यांकन भी आवश्यक है। यह भी भूल जाने वाली बात नहीं कि जिस 'दूसरे' के दृष्टिकोण से आत्मा अपना मूल्यांकन करता है, वह अपने से भिन्न कोई खास व्यक्ति नहीं है। यह दूसरा व्यक्ति पिता, शिक्षक, पादरी अथवा मालिक नहीं है; बल्कि यह "एक सामान्यीकृत दूसरी सत्ता" है, जैसा कि मीड ने स्वयं कहा है। यह सामान्यीकृत सत्ता सामाजिक समुदाय का कोई भी सदस्य हो सकता है। परन्तु, इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यद्यपि इस विचारधारा से सामाजिक प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति पर कड़ा नियंत्रण लग जाता है और यद्यपि मन और आत्मा दोनों ही सामाजिक क्रिया के परिणाम-स्वरूप विकसित होते हैं, फिर भी मीड व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता। वस्तुतः समाज और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध एकांगी नहीं है, क्योंकि जहाँ समाज का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है और समाज स्वयं व्यक्ति से प्रभावित होता है, वहाँ व्यक्ति का प्रभाव समाज पर पड़ता है और व्यक्ति भी समाज से प्रभावित होता है। प्रत्येक व्यक्ति की कारंवाई से सामाजिक ढाँचे में कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता है। यह मानसिक तथा भौतिक दोनों ही प्रकार के कार्यों के लिए सही है। मीड, डिवी की तरह विचार को एक तरह का रचनात्मक आचरण मानता था। उसने

कहा है कि "अपने विचारों के द्वारा, जिस समाज में हम रहते हैं, उसकी नई रचना लगातार करते रहते हैं।" आत्मा के प्रादुर्भाव से समाज में परिवर्तन होता है। वह एक मानवीय संस्था बन जाती है। वह जीव-विज्ञान की इकाइयों के समुदाय के स्थान पर जीवन्त मानव-समाज का रूप धारण कर लेता है। समाज में मन के प्रादुर्भाव से प्रत्येक व्यक्ति में दूसरे के दृष्टिकोण की मान्यता प्राप्त हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने मन की चेतना में दूसरे के दृष्टिकोण से विचार करने का जब आदी हो जाता है, तो इससे समाज भी व्यक्ति के आचरण पर नियंत्रण कायम रखने में समर्थ होने लगता है।

हम कह सकते हैं कि सामाजिक प्रक्रिया से मन और आत्मा के जन्म का सिद्धान्त तथा समाज का एक नैतिक समुदाय में परिणत होना, इस मान्यता पर निर्भर है कि हमारा आधारभूत आचरण एक सामाजिक कृत्य है। इसे मान चुकने के बाद इस कृत्य के सम्बन्ध में और अधिक जानने की उत्कंठा हमें होती है। प्रश्न उठता है कि इस कृतित्व अथवा अपने व्यवहारवाद के सम्बन्ध में मीड का सिद्धान्त क्या था ? मीड प्रत्येक कार्य के चार विभाग करता है—मनोवेग, वस्तु-बोध, हस्तक्रिया और चरम परिणति। यदि किसी कार्य के सम्पादन में बाधा उपस्थित नहीं होती, तो शारीरिक स्तर पर क्रिया का यही क्रम रहता है। यदि कोई बाधा उपस्थित होती है, तो उससे उचित रूप से सामना करने की क्षमता का विकास जीवधारियों के मध्य केवल मनुष्य ही कर सका है। मनुष्य अपनी विचार-शक्ति के द्वारा बाधा दूर करने की समस्या का समाधान निकाल लेता है। मीड की मान्यता थी कि विचार कार्य के सम्पादन का उपकरण अथवा कारण है, जिससे मनोवेग की चरम परिणति कार्य के रूप में होती है। इसे डिवी के कारणवाद का मीड संस्करण कहा जा सकता है। यदि मनोवेग के आगे बढ़ने में बाधा उपस्थित होती है, तो व्यक्ति कठिनाई के कारण का विचार के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है और फिर विचार के ही द्वारा कारण के निराकरण का निश्चय करता है और अंत में परीक्षण करता है कि निर्धारित उपाय से बाधा का निराकरण हो सकेगा अथवा नहीं। विज्ञान जिसे भौतिक-जगत् कहता है, उसमें मनोवेग के लिए बाधा नहीं उपस्थित होती है।

व्यवहारवाद ब्रिटिश अनुभववाद तथा विकासवादी जीव-विज्ञान दोनों से प्रभावित रहा है। इस कारण मीड के सम्मुख उनके मध्य सामंजस्य कायम करने की समस्या उपस्थित हो गई। व्यवहारवाद अनुभववाद के रूप में वैज्ञानिक उपायों को दर्शन के क्षेत्र में स्वीकार कर लेता है। यदि व्यवहारवाद के इस पक्ष

पर जोर दिया जाय, तो शारीरिक प्रणाली को भी ज्ञान का एक विषय मानना पड़ेगा। दूसरी तरफ जीव-विज्ञान पक्ष को अधिक महत्त्व देने पर हमें कार्य पर अधिक ध्यान देना पड़ता है। अनुभववाद तथा जीव-विज्ञान दोनों ही विचारों के प्रमाणीकरण की तरफ ले जाते हैं ; किन्तु जहां अनुभववाद आभास से किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा में लग जाता है, वहां जीव-विज्ञान की प्रणाली किसी विचार में सत्य का अनुशीलन करने में तभी सफल होती है, जब कार्य की परिणति होने के मार्ग में उपस्थित बाधा को मन दूर करता है। मीड ने दोनों प्रणालियों को मिलाने का प्रयास यह कह कर किया कि वैज्ञानिक विधि ही विचार के मार्ग में उपस्थित बाधा को दूर करने का साधन बनती है।

मीड ने सार्वभौमिक तत्त्वों की प्रकृति तथा उनके पदों की भी व्याख्या की है। जैसा कि हम देख चुके हैं, पियर्स ने सार्वभौमिक तत्त्वों का सम्बन्ध आदत बनने से जोड़ा है। मीड ने भी दर्शन के क्षेत्र में ऐसी ही मान्यता को प्रश्रय दिया। मीड ने कहा कि कोई कार्य सार्वभौमिक अथवा सामान्य हो सकता है, क्योंकि उस कार्य को करने का मनोवेग विभिन्न विषयों से प्रेरित हो सकता है ; इस तरह मीड इस परिणाम पर पहुँचा कि सार्वभौमिक तत्त्व स्वयं सत्ता न होकर केवल सम्बन्ध हैं। उसने यह मान्यता प्रदान की कि किसी कार्य की सार्वभौमिकता इस बात पर निर्भर है कि उसे व्यापक विषयों की प्रेरणा से किया गया है। सार्वभौमिकता का तात्पर्य है कि वह कतिपय ऐसी वस्तुओं के प्रतीक का कार्य करे, जिनसे किसी कार्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

मीड ने कहा कि जिन सामाजिक कार्यों में सार्वभौमिक तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है, उनसे पृथक् उनकी न कोई सार्थकता है और न कोई महत्त्व है। विश्लेषण करते हुए अंत में वह इस परिणाम पर पहुँचा कि सार्वभौमिक तत्त्व आचरण के तरीके हैं। ये विभिन्न परिस्थितियों तथा अवस्थाओं में कार्य के वैकल्पिक तरीके हैं। इस प्रकार, जहां मीड ने एक तरफ कार्य के तरीकों के रूप में सार्वभौमिक तत्त्वों को महत्त्व प्रदान कर व्यवहारवाद के पारिभाषिक ढांचे के निर्माण का आधार प्रस्तुत किया, वहां दूसरी तरफ उसने ज्ञान की प्राप्ति के सामाजिक पक्ष पर बल देकर अपने सामाजिक मनोविज्ञान तथा अपने व्यवहारवाद के मध्य एक कड़ी जोड़ी।

मीड की विचारधारा के बीच सबसे अंत में उसका वह भाग आता है, जिसमें उसने अपने दर्शन की कतिपय अन्य मान्यताओं का विकास किया। मीड ने अपनी व्याख्यानमाला 'वर्तमान का दर्शन' (The Philosophy of the Present)

में समय के एक सिद्धान्त को, सापेक्षवाद के सामाजिक महत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्त को और विकासवाद से सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक पक्ष को उपस्थित करने का प्रयास किया। मीड के दर्शन के इस अंग का पूर्णतः विकास नहीं हो पाया और यह बोधगम्य भी अधिक नहीं है। मीड ने सापेक्षवाद की जो व्याख्या की है, उसकी विशेष रूप से आलोचना की गई है। इन कठिनाइयों के बावजूद मीड के दर्शन के इस अंग पर भी एक सरसरी दृष्टि हम डालेंगे।

मीड का समय-सम्बन्धी सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि वास्तविकता का निवास केवल "एक वर्तमान" में अथवा वर्तमान के प्रति सम्बन्ध में रहता है। किसी एक वर्तमान के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जा सकता है कि उसके भूत की क्या स्थिति है। भूत का महत्त्व केवल यही नहीं है कि वह वर्तमान से पूर्व निकल गया है। अनेक वर्तमानों की शृंखला से ही भूत नहीं बना है। भूत वर्तमान का निर्णायक है और वह वर्तमान के सम्बन्धों का निर्धारण करता है ; परन्तु इसका यह आशय नहीं कि अतीत से वर्तमान की अविच्छिन्नता निरंतर बनी रहती है। प्रत्येक वर्तमान का अपने अतीत से सम्बन्ध एक प्रकार से भंग भी रहता है। दूसरे शब्दों में वर्तमान में एक ऐसी नवीनता रहती है, जो अतीत से अप्रभावित रहती है। मीड ने इन दो विरोधी मान्यताओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। उसने कहा कि हम ऐसे भूत की कल्पना करते हैं, जिसमें नवीनता की प्राप्ति होती है और इस प्रकार सम्बन्ध भंग होने की प्रतिकूल स्थिति पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक नया वर्तमान एक भिन्न भूत की अपेक्षा करता है और इस प्रकार नवीनता के लिए हमें युक्तियुक्त आधार प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक नए वर्तमान के पीछे नए भूत रहते हैं और उनमें हमें वर्तमान के लिए नवीनता मिलती है। वर्तमान और भूत के सम्बन्धों की यह पृष्ठभूमि हमें मीड के सापेक्षवाद-सिद्धान्त की तरफ ले जाती है।

मीड ने कहा कि सापेक्षवाद ने वैज्ञानिक अनुसंधान में जड़ वस्तुओं का महत्त्व घटा दिया है। इसने दिक् और काल का भेद मिटा दिया है। परिणाम यह हुआ है कि किसी भौतिक वस्तु की हमारी अपरिवर्तनीयता की मान्यता नष्ट हो गई है। अब यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भौतिक वस्तु में स्थायित्व है। दिक् और काल की ही भाँति ऊर्जा ( energy ) में भी परिवर्तनशीलता का गुण निहित है। दिक् और समय की ही तरह ऊर्जा परिवर्तनीय है। अब प्रश्न उठता है कि जब दिक्, काल और ऊर्जा भौतिक वस्तुओं में निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं, तो क्या वस्तुओं के आकार-प्रकार में परिवर्तन नहीं होता ? इसी प्रकार का प्रश्न

दूरी के संबंध में भी उठता है। नई मान्यता के प्रकाश में यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तु का स्थानान्तरण होने पर भी उसके गुणों में परिवर्तन नहीं होता। मीड के मतानुसार सापेक्षवाद के सिद्धान्त के परिणामस्वरूप दार्शनिक क्षेत्र में उपर्युक्त कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। मीड ने इन कठिनाइयों को अन्योन्य सामाजिक क्रिया की अपनी मान्यता से दूर करने का प्रयास किया। उसने कहा कि दिक् तथा काल के प्रति ग्रहण किए गए दृष्टिकोण से किसी वस्तु की पूर्ण नवीनता पर प्रकाश नहीं पड़ता ; किन्तु यह सामाजिक प्रक्रिया के व्यापक सामान्यीकरण का ही परिणाम है। मनुष्य जिस प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक उद्देश्य की प्राप्ति करता है, सापेक्षवाद-सिद्धान्त उसका केवल एक अंग है। यदि सभी अंगों पर ध्यान दिया जाय, तो प्रकट होगा कि यह प्रक्रिया सम्बन्धों की शृंखला को आगे बढ़ाने में सफल होती है।

मीड ने अपनी दार्शनिक विचारधारा को वैज्ञानिक विचारधारा से मिलाने का जो प्रयास किया, उसके परिणामस्वरूप वह एक और सुझाव दे सका। यह मीड का अधूरा तथा अंतिम सुझाव था। अपने इस सुझाव के द्वारा मीड ने यह मान्यता उपस्थित की कि सम्पूर्ण प्राकृतिक विकास की एक विशेषता उसका सामाजिक गुण है। जीवन के अंतिम काल में मीड ने कहा—"मैंने मन को एक ऐसे प्राकृतिक विकास के रूप में उपस्थित करने की चेष्टा की है, जिसमें सामाजिकता के सिद्धान्त तथा उसके रूप के दर्शन होते हैं।"[१] सम्बधित प्रणालियाँ भी अनेक हैं। यदि कोई वस्तु दो सम्बन्धित प्रणालियों में एक साथ रहती है, तो वह दोनों में एक दूसरी की विशेषताओं की स्थापना कर देती है। एक साथ प्रत्येक सम्बन्धित प्रणाली में रहने के लिए वस्तु को जो संतुलन कायम करना पड़ता है, उसे ही सामाजिकता की संज्ञा दी गई है। जैसे-जैसे मन का विकास पाशविक मन से मानवीय मन की ओर होता जाता है, वैसे-वैसे इस सामाजिकता का स्तर भी ऊपर उठता जात है। कोई जानवर दो प्रणालियों में एक साथ बना रह सकता है ; किन्तु उसे इसकी चेतना नहीं होती, क्योंकि वह दूसरे जानवर के व्यवहार की कल्पना नहीं कर सकता। इससे प्रकट है कि जानवरों में सामाजिकता का स्तर निम्न होता है, किन्तु इससे सामाजिकता के एक ऐसे उच्च स्तर का विकास होता है, जिसमें अनुभव के प्रति चेतना जाग्रत रहती है और जिसमें एक व्यक्ति अधिक-से-अधिक व्यापक एवं सामान्यीकृत परिस्थितियों का बोध कर सकता है। एक-बार

१. Mead : The Philosophy of the Present.

इस स्तर पर पहुँचने पर आत्मा इतने व्यापक दृष्टिकोण का विकास करने में समर्थ हो जाता है कि वह अपनी सामान्य विवेकशक्ति से किसी विवेकशील प्राणी के आचरण की कल्पना करने में समर्थ हो जाता है। वैज्ञानिक यही करता है कि वह निजी आग्रह तथा निजी मान्यता को अलग रख कर निष्पक्ष दृष्टि से सत्य का अनुसंधान करता है ; परन्तु मीड की इस विचारधारा में विरोधाभास भी है। समाज में स्थान ग्रहण करने वाला ही व्यक्तित्व का विकास करता है ; किन्तु यहाँ निजी दृष्टिकोण को ठुकरा कर व्यापक मान्यताओं के द्वारा सामाजिकता के विकास होने की बात कही गई है। यहाँ अवैयक्तिकता का विकास कर वैयक्तिकता प्राप्त करने के परिणाम पर पहुँच गया है।

इस दर्शन ने मीड को भूत तथा भविष्य दोनों ही से मुक्ति दिला दी। हमारे मूल्य वर्तमान में ही रहते हैं, भूत और भविष्य से हमें उनकी प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते हैं। वर्तमान हमें नया दृष्टिकोण तथा नई कल्पना उपलब्ध करता है और उसकी सामाजिकता हमारे मन का ढाँचा है। चूँकि समाज ने हमें आत्म-चेतना प्रदान की है ; इसलिए हम अन्य चेतनायुक्त व्यक्तियों के सामाजिक सम्पर्क में आ सकते हैं। इन सभी के साथ हमें रहना है और इसलिए अपनी आलोचना कर समाज के इस परस्पर आदान-प्रदान के बीच हमें अपने मूल्यों का विकास करना है।

निस्संदेह पियर्स का वस्तुनिष्ठ चेतनवाद, जेम्स का मौलिक अनुभववाद तथा मीड का सामाजिकता का दर्शन विभिन्न प्रतिफल हैं ; किन्तु महत्त्व की बात यह है कि वे सभी व्यवहारवाद पर आधारित हैं। उन सभी में मानसिक जगत् का ज्ञान प्राप्त करने का वैसा ही प्रयास निहित है, जैसा कि "वैज्ञानिकों का समुदाय" कर सकता है। इस प्रयास का उद्देश्य है कि मनुष्य अपने को अपने वातावरण के अनुकूल और वातावरण को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करे। इस सब में यह प्रयास निहित रहा है कि विचारों को उनकी उपयुक्त पृष्ठभूमि में देखा जाय और साधन तथा योजनाओं के रूप में उन्हें अमल में लाया जाय। पियर्स, जेम्स और मीड जैसे विचारकों के लिए संसार की सृष्टि का कार्य अभी चल रहा है और मनुष्य उसके स्रष्टाओं में एक है। विभिन्न व्यवहारवादी दार्शनिकों की यही आधारभूत एकता है।

# ८

# वस्तुवाद की विभिन्न धाराएँ

# एक मंच की खोज

जर्मनी, इंगलैंड तथा अमरीका में कांट के अनुयाइयों ने प्रकृति के मानव द्वारा प्राप्त ज्ञान की उसके द्वारा की गई आलोचना को केवल सीमित मात्रा में ही स्वीकार किया। कांट निर्दिष्ट सीमाओं के भीतर ही वैज्ञानिक ज्ञान का प्रमाणीकरण सम्भव मानता था और १८वीं शताब्दी में ज्ञान व प्रकाश के युग के विचारक मानवीय विवेक-बुद्धि को जो महत्त्व देते थे, उसका भी वह कायल नहीं था। कांट ने प्राकृतिक विज्ञान के प्रमाणीकरण की सीमाएँ निर्धारित करने का जो प्रयास किया, उसे उसके कुछ अनुयायियों ने तो उसके द्वारा प्राकृतिक विज्ञान का अप्रमाणीकरण ही मान लिया। विज्ञान का क्षेत्र केवल दृश्य-जगत् तक सीमित था। इन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के स्थान पर विश्व की रचना के सम्बन्ध में एक ऐसे दृष्टिकोण का विकास करने का प्रयास किया, जो विज्ञानेतर मान्यता पर आधारित था। कांट के इन अनुयायियों ने कहा कि अनुभववादी तरीके से वस्तु का केवल सापेक्ष तथा अधूरा ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यही नहीं, इस प्रकार के प्रयास के परिणाम-स्वरूप जो विशेष परिणाम निकलेगा, वह मन की आत्मनिष्ठता के कारण वस्तुओं के निजी स्वरूप का ज्ञान प्रदान करने में असमर्थ रहेगा, अर्थात् वस्तुओं के आन्तरिक सम्बन्धों की जो जानकारी केवल मानसिक प्रयास से सम्भव है, वह अनुभववादी तरीके से नहीं हो सकती। उन्होंने यह मान्यता स्थापित की कि केवल दार्शनिक विवेचन के द्वारा ही, जिसमें विशेष तथ्यों तथा मानवीय अनुभवों से ऊपर आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है, मनुष्य निरपेक्ष तथा सर्वव्यापी परम पुरुष का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। विश्व की रचना का ज्ञान इस वास्तविकता को दृष्टि में रख कर ही प्राप्त किया जा सकता है। कुछ लोगों के विचार में चरम वास्तविकता अथवा यथार्थता मन अथवा आत्मा है तथा अन्य उसे केवल इच्छा-शक्ति भर मानते हैं। इस विचारधारा की सभी प्रणालियों को अध्यात्मवाद के शीर्षक के नीचे रखा गया। अध्यात्मवाद की इन सभी प्रणालियों में तथा

व्यवहारवाद के प्रारम्भिक रूपों में यह माना गया कि ज्ञान के विषय ज्ञान होने की प्रक्रिया के बीच बदल जाते हैं और इसलिए मनुष्य वस्तुओं के निजी रूप को कभी भी जान नहीं पाते।

बीसवीं शताब्दी के शुरू में यूरोप, इंगलैंड और अमरीका में अध्यात्मवादी विचारधारा के साथ ही अनेक ऐसी दार्शनिक प्रणालियों का विकास हुआ, जिनमें इस विचारधारा का खंडन किया गया कि जानने की प्रक्रिया के मध्य वस्तुओं का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। मानव ज्ञान के विषयों की यथार्थता अथवा वास्तविकता को स्वतंत्र रखने की मान्यताओं के कारण इन विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों को वस्तुवाद की संज्ञा दी गई। फ्रांस में सेंट टाम्स एक्विनास के वस्तुवादी दर्शन का पुनर्जन्म 'नव्य टामसवाद' के रूप में हुआ। इस 'नव्य टामसवाद' ने अब अमरीकी दार्शनिक विचारधारा में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। जर्मन देशों में वस्तुवादी विचारधारा ने दृश्यजगत्‌वाद के रूप में सिर उठाया और उसने भी अमरीकी दार्शनिक विचारधारा के मध्य अपना स्थान बना लिया। इंगलैंड में जी० ई० मूर, बर्टेन्ड रसेल, अलफ्रेड नार्थ वाइटहेड तथा केम्ब्रिज विचारधारा के उनके अन्य अनुयाई भी दर्शन के क्षेत्र में वस्तुवादी दृष्टिकोण रखते थे। वाइटहेड अमरीका चला आया और हारवर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन के अध्यापक के रूप में उसने ख्याति अर्जित की। उसने अपने विद्यार्थियों का दार्शनिक क्षेत्र में जो पथ-प्रदर्शन किया, वह वस्तुवाद पर आधारित तो अवश्य था; किन्तु इस दृष्टिकोण का विकास जिस रूप में हुआ, उससे वस्तुवाद से उसका सम्बन्ध संदिग्ध माना जाने लगा। अन्य युवा अमरीकी दार्शनिक इंगलैंड पहुँचे और वहाँ से पक्के वस्तुवादी हो कर लौटे। अमरीका में वस्तुवाद की स्थिति को सुदृढ़ बनाने का श्रेय विलियम जेम्स को है और उसके विकास का जेम्स के विद्यार्थियों को। इन विद्यार्थियों तथा दूसरों ने एक वस्तुवादी मंच की खोज बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों की अवधि में जारी रखी और यही इस अध्याय का मुख्य विषय है।

यद्यपि नई शताब्दी के शुरू में ही वस्तुवाद की हलचल दिखाई दी थी और अध्यात्मवाद का राल्फ बार्टन पैरी-जैसा कटु आलोचक, अपना 'अहंकारी विषमावस्था' शीर्षक निबंध लिख चुका था, फिर भी यह कहा जा सकता है कि संघटित तथा सहयोगपूर्ण ढंग से वस्तुवाद के मंच की खोज सन् १९१० से पूर्व नहीं आरम्भ हुई थी। उस वर्ष वसंत ऋतु में छः युवा अमरीकी दार्शनिक एक स्थान पर एकत्र हुए और उन्होंने नए वस्तुवादी दर्शन के मूल्यांकन तथा उसकी

व्याख्या करने तथा इस क्षेत्र में अपने विचारों के समान आधार को जानने का प्रयास किया। उन दिनों राल्फ वार्टन पैरी तथा एडविन बी० होल्ट हारवर्ड में दर्शन पढ़ाते थे। पेपरैल मान्टेग् तथा वाल्टर बी० पिटकिन कोलम्बिया में अध्यापक थे। बाद में पिटकिन 'जीवन ४० वर्ष की आयु में प्रारम्भ होता है' ( Life Begins at Forty ) नामक ग्रंथ के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। एडवर्ड ग्लीसन स्पाल्डिंग प्रिंसटन में और वाल्टर टी० मार्विन रोजर्स में पढ़ाते थे। इन छः व्यक्तियों के बीच सभी समस्याओं पर मतैक्य नहीं था। सच तो यह है कि अपने समान वस्तुवादी दृष्टिकोण के अलावा उन्होंने किसी भी विषय पर मतभेद दूर करने का प्रयास नहीं किया। इन लोगों ने कई बैठकों के बाद जुलाई १९१० में अपने आन्दोलन को 'छः वस्तुवादियों का कार्यक्रम तथा प्रथम मंच' नाम दिया। दो वर्ष बाद इन लोगों ने अपने दर्शन के सहयोगपूर्ण अध्ययन का परिणाम 'नव्य वस्तुवाद' शीर्षक से प्रकाशित किया। इन लोगों ने ग्रंथ को जो संयुक्त रूप से लिखा, उसके परिणाम-स्वरूप इन लोगों को नया वस्तुवादी कहा जाने लगा।

नए वस्तुवादियों के बीच मतैक्य का क्षेत्र अधिक नहीं था। उनके बीच दो कार्यविधियों के सम्बन्ध में तथा ज्ञान-मीमांसा के तीन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मतैक्य था। इस क्षेत्र के बाहर उनके दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न थे और जितना अपने संयुक्त प्रयास को आगे बढ़ाने के लिए वे प्रयत्नशील थे, उससे निजी मान्यताओं की स्थापना के लिए उनका आग्रह कम नहीं था। जहाँ तक दार्शनिक अध्ययन की कार्य-पद्धति का सम्बन्ध था, ये छः युवा दार्शनिक वैज्ञानिकों की तरह मिलजुलकर काम करने में विश्वास करते थे। 'नया वस्तुवाद' आन्दोलन में इस संयुक्त कार्यविधि को मूर्तिमान रूप देने का प्रयास किया गया। इस कार्य-विधि के अन्तर्गत यह आवश्यक नहीं था कि सभी लोग सभी निबंधों की सभी बातों के सम्बन्ध में सहमत हों ; किन्तु उसमें विचार-विनिमय तथा आलोचना-प्रत्यालोचना के द्वारा प्रत्येक निबंध को सभी की सहमति के योग्य बनाने की चेष्टा की गई थी। कार्य-विधि के सम्बन्ध में उनके बीच दूसरा मतैक्य इस बात को लेकर था कि वैज्ञानिकों की तरह उन्हें एक-एक समस्या को लेकर उसका अलग से अध्ययन और विश्लेषण करना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि नए वस्तुवादियों ने दर्शन के अध्ययन के पुराने तरीके का परित्याग कर दिया, जिसके अंतर्गत एक व्यापक प्रणाली का विकास करने की चेष्टा की जाती थी। इसके स्थान पर, उन्होंने विश्व तथा मनुष्य से उसके सम्बन्धों को समझने के लिए क्रमशः अग्रसर होने का निश्चय किया। इस कार्यविधि पर सहमत होने से

नए वस्तुवादियों को एक विशेष लाभ दिखाई पड़ा। लाभ यह था कि ज्ञाता तथा ज्ञान के विषय की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त किए बिना ही वे उनके पारस्परिक सम्बन्ध को जानने का प्रयास शुरू कर सकते थे। स्पष्ट था कि सहमति के होते हुए भी यह एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसमें आगे जाकर उनके बीच मतभेद हो उठना अनिवार्य था।

ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में नए वस्तुवादियों ने कुछ शर्तों के साथ जिन तीन सिद्धान्तों पर सहमत होने का निश्चय किया, उनसे वस्तुवादी दर्शन की तीन प्रारम्भिक विचारधाराओं पर प्रकाश पड़ता है। साधारण बुद्धि का वस्तुवाद बर्कले के मानसवाद के विरुद्ध था। उसका दावा था कि वस्तुएँ उस समय भी अस्तित्व रखती हैं, जब उनका बोध किसी को नहीं होता। वस्तुओं की सत्ता मनुष्य के मन में उनके ज्ञान से स्वतंत्र है। इस सिद्धांत की पुष्टि में कहा गया कि किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी चेतना एक अनिवार्य आवश्यकता है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि ज्ञान के विषय की सत्ता ही उस चेतना पर निर्भर है। निरीक्षण की विषय जो वस्तु है, उसके आचरण से जाना जा सकता है कि वह स्वतंत्र है अथवा परतंत्र। निरीक्षण से परिणाम निकलता है कि चेतना का ज्ञान के विषय ( वस्तु ) के आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परिस्थिति इसके विपरीत है, जैसा कि मॉन्टेगु ने कहा है—"विषय क्रमशः आते हैं। हमारे अनुभव तथा परिवर्तन मुख्यतः उन पर निर्भर हैं ; किन्तु वे अनुभव और परिवर्तनों पर निर्भर नहीं हैं।"

नए वस्तुवादियों के नए सिद्धान्तों में जिस दूसरे प्रकार के वस्तुवाद की अभिव्यक्ति की गई, उसका सम्बन्ध दर्शन की प्लेटोकालीन परम्परा से था। इस परम्परा के अनुसार दावा किया जाता था कि कतिपय तत्त्व ऐसे होते हैं, जिनका निर्देश युक्तियों के द्वारा तो देना सम्भव है ; किन्तु जिनका अनुभव नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए अंकों का अस्तित्व स्वतंत्र रूप से है ; किन्तु मानवीय चेतना से वे अप्रभावित रहते हैं। इस सम्बन्ध में मॉन्टेगु की ऐतिहासिक उक्ति इस प्रकार है—७+५=१२ का तथ्य सात, पाँच और बारह की प्रकृतियों से प्रमाणित हो जाता है ; किन्तु चेतना की प्रकृति से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

तीसरे सिद्धान्त में डेस्कार्टीस तथा लॉक की मान्यताओं के विरुद्ध टामस रीड के प्रत्यक्ष सम्बन्धी विचार को आगे बढ़ाया गया था। इस सिद्धान्त से नए वस्तुवाद में मतभेद आरम्भ हो गया। कहा गया कि कुछ यथार्थ वस्तुओं का

अस्तित्व हमारे ज्ञान से निरपेक्ष है। इनका ज्ञान हमें अपने मन पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के रूप में नहीं होता, जैसा कि लॉक ने कहा था; बल्कि इनका ज्ञान हमें अपने मन की अनुभूति में प्रत्यक्षतः हो जाता है। इस प्रकार निजी रूप (वस्तुओं का) और चेतना में ज्ञान होने वाली वस्तुएँ—दो पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं, जिनके अस्तित्व की पुष्टि की जाय अथवा जिनके अस्तित्व से इनकार किया जाय, बल्कि वे एक ही वस्तु हैं। यह सत्य है कि मनुष्य किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करे, इससे पहले मनुष्य में कुछ परिवर्तन होता है; किन्तु नए वस्तुवादियों ने कहा कि इस तथ्य से डेस्कार्टीस, लॉक तथा अन्य दार्शनिकों ने यह गलत परिणाम निकाला कि जो कुछ भी हम देखते हैं, वह वस्तु का निजी रूप नहीं होता; बल्कि परिवर्तन होता है—वस्तु के हम पर प्रभाव की प्रतिक्रिया होती है।

नए वस्तुवादियों के मध्य यहाँ तक मतैक्य था—उतना अधिक मतैक्य, जितना दार्शनिकों के मध्य हो सकता है। परन्तु, इसके आगे उन्होंने मतैक्य की बातों को संयुक्त रूप से आगे बढ़ाने के स्थान पर मतभेदों पर बल देना आरम्भ कर दिया। शत्रु पर मिलकर धावा बोलने के स्थान पर वे आपसी तू-तू मैं-मैं में पड़ गए। संयुक्त रूप से रचे गए ग्रंथ में एक परिशिष्ट दिया गया, जिसमें मॉन्टेगु ने होल्ट द्वारा स्थापित दो मान्यताओं की कटु आलोचना की। साथ ही परिशिष्ट में होल्ट द्वारा दिए गए इसके उत्तर को भी स्थान दिया गया। यही नहीं, मॉन्टेगु द्वारा उठाए गए मुद्दों पर पिटकिन ने होल्ट का साथ दिया; किन्तु साथ ही उसने कहा कि होल्ट की स्थिति का उसने स्वयं होल्ट से अथवा मॉन्टेगु से भिन्न मूल्यांकन किया है। पैरी ने भी होल्ट के समर्थन में लिखा। इस प्रकार, समुदाय के चार सदस्यों के बीच ही नए यथार्थवाद के तीन प्रकार हो गए। उपर्युक्त दो मान्यताओं को लेकर होल्ट और पैरी से मतभेद के कारण मॉन्टेगु ने दावा उपस्थित किया कि वह नए वस्तुवाद के 'दक्षिण पक्ष' का प्रतिनिधित्व करता है।

मॉन्टेगु ने जो नई बातें उठाईं वे निम्न थीं। पैरी और होल्ट ने मनोविज्ञान की आचरण-सम्बन्धी विचारधारा से प्रभावित हो कर यह मान्यता दी कि व्यक्ति के द्वारा किसी वस्तु की चेतना रखने का यह मतलब हुआ कि उसके शरीर पर उस वस्तु का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। मॉन्टेगु ने कहा कि शारीरिक प्रणाली पर किसी वस्तु के प्रभाव से यही मतलब लगाया जा सकता है कि उस प्रणाली के कतिपय अथवा सभी तंतुओं में गति उत्पन्न हुई। यह गति दिक् में तथा एक विशेष दिशा में ही होनी चाहिए। मॉन्टेगु ने कहा कि दिक् तथा दिशा में इस गति को विषय की चेतना नहीं कहा जा सकता। मॉन्टेगु ने कहा कि यदि किसी प्रकार

का भी ज्ञान हुआ है और उसे हम शारीरिक प्रणाली का अंश मानते हैं, तो इस ज्ञान को हमें गति का रूप नहीं मानना चाहिए। होल्ट और पैरी ने ज्ञाता पर ज्ञान के विषय के प्रभाव-सम्बन्धी इस तर्क को मानने से इनकार कर दिया और कहा कि यह प्रभाव जड़तत्त्व की गति का रूप नहीं धारण कर सकता।

नए वस्तुवाद के दक्षिण तथा वाम-पक्षियों के मध्य दूसरा मतभेद अधिक जटिल तथा मौलिक था। एक तरफ होल्ट और पैरी ने और दूसरी तरफ मॉन्टेगु ने भूल की सम्भावना के संबंध में अपनी मान्यताएँ उपस्थित कीं। हम बता चुके हैं कि कुछ वस्तुवादी चेतना के विषयों की सत्ता उस अवस्था में भी मानते हैं, जब हमें उनका ज्ञान नहीं हुआ है। इस परिस्थिति में प्रश्न उठता है कि यदि किसी मामले में हमारा अनुभव अथवा चेतना भ्रमपूर्ण अथवा अवास्तविक है, तो उस चेतना के विषय का वाह्य और स्वतंत्र अस्तित्व रह सकता है अथवा नहीं ? होल्ट की स्थिति थी ( जिससे पैरी सहमत था ) कि विरोधाभास, भूल तथा अवास्तविकता वाह्य जगत् में मौजूद रह सकते हैं, उनका समावेश चेतना के द्वारा नहीं किया जाता है। मॉन्टेगु ने इस मान्यता की आलोचना करते हुए कहा कि वाह्य विरोधाभास अथवा गलतियाँ ही भ्रमपूर्ण अथवा गलत अनुभव के मूल में होती हैं। मॉन्टेगु एक अयथार्थ विषय को मन से जन्म देने की बात तो स्वीकार करने को तैयार था ; किन्तु उसे शक्ति अथवा गति प्रदान करने को नहीं। मॉन्टेगु के विचार में एक अयथार्थ वस्तु का हम ज्ञान तो प्राप्त कर सकते हैं ; किन्तु वह इस ज्ञान का कारण नहीं बन सकती। परन्तु, बाद में मॉन्टेगु ने अनुभव किया कि उसके इस आग्रह के मूल में होल्ट तथा कतिपय अन्य नए वस्तुवादियों का यह मत मानने की उसकी अनिच्छा ही थी कि वस्तुओं का निजी रूप जितना ज्ञान की प्रक्रिया से स्वतंत्र है, उतने ही वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध भी वस्तुनिष्ठ तथा स्वतंत्र हैं।

नए वस्तुवादियों के जिन मतभेदों की चर्चा हमने की है, उनके अलावा भी उनमें तथा उनके अनुयाइयों में कितने ही मतभेद थे। इस समय की दार्शनिक पत्रिकाएँ आलोचना-प्रत्यालोचनाओं तथा खंडन-मंडन से भरी रहती थीं। यह स्पष्ट हो गया कि उनमें मतैक्य का क्षेत्र बहुत ही सीमित था। यह विशेषकर कांट के अध्यात्मवादी अनुयाइयों की टीका तथा लॉक की विचारधारा के अन्तर्गत वाह्य विषय तथा मानसिक विषय की द्वैधता की आलोचना तक सीमित था। निस्संदेह उनके विश्लेषण की तीक्ष्णता से इनकार नहीं किया जा सकता ; किन्तु भावी दार्शनिक विचारधारा के लिए एक पुष्ट आधार छोड़ जाने में वे असमर्थ

रहे। वे अपने समय की दार्शनिक प्रणाली को नष्ट करने में समर्थ हुए; किन्तु वे अपने वस्तुवाद को ठोस आधार नहीं प्रदान कर सके।

नए वस्तुवादियों की एक समुदाय के रूप में असफलता तथा आलोचनाओं का ठीक तरह उत्तर न दे सकने के कारण एक नए समुदाय का जन्म हुआ, जिन्हें समीक्षात्मक वस्तुवादी कहा जा सकता है। सात अमरीकी दार्शनिकों के इस समुदाय ने १९१६ तथा १९२० में अपना संयुक्त अध्ययन तथा अनुशीलन जारी रखा। इस समुदाय में सात अमरीकी थे—वसार विद्यालय के ड्यूरेंट ड्रेक, जॉन हापकिन्स विश्वविद्यालय के आर्थर लवजॉय, विलियम्स कालेज के जेम्स विसेट प्रेट, येल विश्वविद्यालय के आर्थर के० राजर्स, मिशिगन विश्वविद्यालय के रोय वुड सेलर्स, जार्ज सांतायन तथा सी० ए० स्ट्रोंग। सांतायन हारवर्ड में पढ़ाता था; किन्तु बाद में वहाँ से हट गया। इसी प्रकार, स्ट्रोंग भी कोलम्बिया में मनोविज्ञान पढ़ाता था; किन्तु उसने भी अवकाश ग्रहण कर लिया। इन सात व्यक्तियों ने मिल कर जो ग्रन्थ तैयार किया, उसका नाम था—'समीक्षात्मक वस्तुवाद पर निबन्ध' ( Essays on Critical Realism )। इन लोगों ने इसी ग्रन्थ का एक दूसरा शीर्षक भी दिया 'ज्ञान की समस्या का एक संयुक्त अध्ययन' ( A co-operative study of the problem of knowledge )। नए वस्तुवादियों की तरह इस समुदाय के संयुक्त प्रयास की भी सीमाओं पर प्रकाश पड़ा। सातों विचारकों ने ज्ञान की समस्या के अलावा अन्य किसी भी विषय पर मतैक्य का प्रयास नहीं किया। इन लोगों ने नए वस्तुवादियों के ज्ञान की प्राप्ति के विश्लेषण को अत्यधिक सरल बताया और अपनी विचारधारा को समीक्षात्मक कहा। वस्तुतः इन लोगों के विश्लेपण में ज्ञान के वस्तुनिष्ठ तथा आत्मनिष्ठ सिद्धान्तों का समन्वय करने की चेष्टा की गई थी।

उनका मत था कि विषय तथा उसके ज्ञान के वाहन चेतन अवस्था में एक अन्तर कर लेना चाहिए। इस प्रकार, समीक्षात्मक वस्तुवादियों ने एक सीमा तक उस द्वैधता को स्वीकार कर लिया, जिसके विरुद्ध उनके पूर्ववर्तियों ने विद्रोह किया था। इस अन्तर पर जोर देने के बावजूद समीक्षात्मक वस्तुवादियों का यह आशय कदापि नहीं था कि हम जो कुछ भी जानते हैं, वह मन की अवस्था अथवा चेतना है। हम मानसिक अवस्था को नहीं जानते हैं, जिसकी स्वयं अपनी सत्ता है और जिससे हम किसी बाहरी वस्तु की सत्ता तथा प्रकृति का अनुमान लगाते हैं। समीक्षात्मक वस्तुवादियों ने यह मान्यता स्थापित की कि हम किसी

बाह्य वस्तु का अनुभव अपनी चेतना में करते हैं, चाहे उसका हमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो अथवा किसी दूसरे तरीके से उसका अनुभव हुआ हो। ज्ञान का यह विषय अथवा वस्तु ज्ञान की प्रक्रिया से निरपेक्ष है और कांट की मान्यता के बावजूद उसके परे कोई चरम यथार्थता नहीं है।

ज्ञान प्राप्त करने के प्रत्येक प्रयास में कुछ ऐसी बात रहती है, जिसमें ज्ञान का आविर्भाव निहित है। यह 'कुछ' ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया का अंग नहीं है, बल्कि यह ज्ञाता को उसी प्रकार प्राप्त होता है, जिस प्रकार किसी समस्या के समाधान का प्रयास करने वाले को समस्या की परिस्थितियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस 'प्राप्ति' को वस्तुवादियों ने दी हुई सामग्री अथवा स्वीकृत सिद्धान्त ( Datum ) कहा। समीक्षात्मक वस्तुवाद का मुख्य तथ्य ज्ञान के सिद्धान्त के सम्बन्ध में विषय तथा मानसिक अवस्था का भेद है, जिसके द्वारा वह ( विषय) चेतना में आता है। कुछ समीक्षात्मक वस्तुवादियों की मान्यता यह थी कि मानसिक अवस्था ज्ञान के भीतर है और इस तरह उन्होंने स्वीकृत तथ्य को ही विषय मान लिया ; परन्तु स्वीकृत तथ्य कोई भौतिक विषय नहीं होता। ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में हम ज्ञान के विषय को पकड़ते नहीं हैं, यद्यपि साधारण दृष्टि से ऐसा ही जान पड़ता है। कुछ अन्य समीक्षात्मक वस्तुवादियों ने स्वीकृत तथ्य को ज्ञान के विषय तथा मन दोनों से अलग माना है और साथ ही यह भी मान्यता उनके साथ है कि स्वीकृत तथ्य एक अंश में मन का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तुतः स्वीकृत तथ्य एक ऐसा साध्य है, जिसके द्वारा ज्ञातव्य विषय के स्वरूप का ज्ञान होता है। सातों समीक्षात्मक वस्तुवादी जब स्वीकृत तथ्य की प्रकृति का विश्लेषण करने को अग्रसर हुए, तो वे दलों में बँट गए। लवजॉय प्रेट तथा सेलर्स ने कहा कि किसी अवसर पर जो विषय मन के सम्पर्क में आता है, वह इन्द्रियजनित ज्ञान पर आधारित होता है। अन्य चार ने विलियम जेम्स से प्रेरणा प्राप्त कर यह मान्यता दी कि स्वीकृत तथ्य अधिक जटिल होता है । इस प्रकार, दार्शनिक अध्ययन में सहकारिता के तरीके की सीमाएँ और भी अधिक प्रकाश में आ गईं।

समीक्षात्मक वस्तुवादियों के परस्पर विरोध का एक रूप लवजॉय के इस प्रयास में मिलता है कि वास्तविक व्यवहारवाद ज्ञान के सिद्धान्त पर ही आधारित होना चाहिए। लवजॉय ने कहा कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए ऐसी सामग्री पर भी विचार होना चाहिए, जो उपस्थित नहीं है। लवजॉय ने कहा कि यह अनुपस्थित सामग्री कुछ मामलों में ज्ञान के अनुभव से परे है तथा अन्य मामलों

में ज्ञाता के सम्पूर्ण अनुभव से भी परे हैं। उसने यह भी कहा कि अतीत के अनुभव की स्मृतियों अथवा भविष्य के अनुमानों को भौतिक जगत् का अंश नहीं माना जा सकता। इससे प्रकट है कि कतिपय बातों का अनुभव तो होता है; किन्तु वे भौतिक जगत् में अनुपस्थित रहती हैं। लवजॉय ने इस सामग्री को मानसिक कहा और दावा पेश किया कि ज्ञान की प्राप्ति मन के भीतर होती है और इसलिए इन मानसिक उपादानों के बिना कार्य चलना असम्भव है।

जेम्स बिसेट प्रेट ने कांटीय विचारधारा पर अपना हमला जारी रखा। उसने कहा कि कांटीय दर्शन में दृश्यजगत् तथा यथार्थता अथवा वस्तुओं के निजी रूप के बीच पाटी न जा सकने वाली खाई है। समीक्षात्मक वस्तुवाद में इस खाई को पाटने की चेष्टा की गई है। इसमें ज्ञान की प्राप्ति को एक ऐसी अवस्था माना गया है, जिसमें विचार का विषय तथा स्वयं विचार के बीच भेद किया गया है। भौतिक वस्तुएँ मनुष्य से भिन्न दुनिया में नहीं रहतीं, जैसा कि कांट की वस्तुओं के निजी रूप-संबंधी मान्यता में अनुमान किया जाता है। भौतिक वस्तुएँ उसी दुनिया में हैं, जिसमें उनका ज्ञान प्राप्त करने वाले मन रहते हैं। वे मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती हैं और कुछ मामलों में मनुष्य के कार्यों से ऐसे रूपों में प्रभावित होती हैं, जिनका ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया से सम्बन्ध नहीं होता। यह हमें अपने अनुभव से ज्ञात होता है। इस प्रकार, हम भौतिक वस्तुओं की ऐसी व्याख्या कर सकते हैं, जिससे वे हमारी समझ के अनुकूल हों और जिससे कि हम उनका ज्ञान दुराग्रही लोगों के अलावा सभी को करा सकें। भौतिक वस्तुओं की क्रियाओं तथा उनके पारस्परिक तथा मनुष्यों के प्रति सम्बन्धों को निर्धारित करने वाले नियमों का अध्ययन भौतिक विज्ञान के तरीकों के द्वारा किया जा सकता है। इस वैज्ञानिक अध्ययन के परिणामस्वरूप हमें यथार्थता का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि जिन सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है, वे बाह्य होते हैं और मन पर निर्भर नहीं रहते। विज्ञान तथा दैनिक अनुभव दोनों से ही समीक्षात्मक वस्तुवाद की इस मान्यता का प्रमाणीकरण हो जाता है कि भौतिक विषय स्वतंत्र तथा ज्ञेय हैं।

जिस प्रकार हमने प्रारम्भ में नए व्यवहारवादियों की मान्यताओं तथा उनके मतभेदों का संक्षेप दिया, उसी प्रकार ऊपर हमने समीक्षात्मक वस्तुवादियों के विषयों, उनके मतैक्यों तथा उनके मतभेदों का सार दे दिया है। इस काल में अन्य अमरीकी दार्शनिक भी वस्तुवादियों से कम या अधिक मिलते-जुलते विचार रखने वाले हुए; किन्तु मिल-जुल कर कार्य करने वाले उपर्युक्त दोनों समुदायों

से वे अलग रहे। परन्तु, अमरीकी वस्तुवाद के सम्बन्ध में अब अधिक कहने को शेष नहीं रह गया है। ज्ञान के सिद्धान्त की ओर एकमात्र झुकाव होने के कारण विचारधारा के रूप में उसकी देन को महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी अमरीकी वस्तुवाद की अन्तर्दृष्टियों तथा आग्रहों का प्रभाव अन्य दर्शन-प्रणालियों पर कम नहीं पड़ा और इनसे उन्हें बल भी मिला। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि वस्तुवाद तथा व्यवहारवाद ने मिलकर १९वीं शताब्दी के पिछले वर्षों तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के वर्षों के अध्यात्मवाद के फीके तथा विवर्ण रूप को पूर्णतः नष्ट कर दिया, जिससे अध्यात्मवादियों को अपनी विचारधारा का अस्तित्व बनाए रखने के लिए वस्तुनिष्ठ अध्यात्मवाद-जैसी ठोस मान्यता का विकास करना पड़ा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि आज की अमरीकी दार्शनिक विचारधारा में वस्तुवादी मनोवृत्ति परिलक्षित होती है, गो कि अमरीका में वस्तुवाद की कोई सुनिश्चित प्रणाली नहीं है। शेष अध्याय में हम एक नए वस्तुवादी राल्फ बार्टन पैरी, समीक्षात्मक वस्तुवादी रोय वुड सेलर्स तथा विलबर मार्शल अर्बन की, जिसका दृष्टिकोण वस्तुवाद व अध्यात्मवाद दोनों से परे है, दार्शनिक विचारधाराओं पर विचार करेंगे।

# नया वस्तुवाद : राल्फ बार्टन पैरी

राल्फ बार्टन पैरी का प्रारम्भिक विद्यार्थी-जीवन प्रिंसटन विद्यायल में व्यतीत हुआ था और उसका मुख्य अध्यापक अलेक्जेंडर टी० ओरमंड नामक अध्यात्मवादी था। बाद में पैरी हारवर्ड चला गया, जहां उस समय विलियम जेम्स, जोसिया रोइस, जार्ज सांतायन, ह्यूगो मुंस्टर्वर्ग, जार्ज हर्बर्ट पामर तथा चार्ल्स सी० एवरेट थे। अपने इस स्थानान्तरण को पैरी ने विश्वास से समीक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन बताया। यह स्थानान्तरण पैरी के निजी जीवन के लिए तो महत्त्वपूर्ण था ही, किन्तु १९वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में जिस नवीन तथा समीक्षात्मक दार्शनिक विचारधारा का आविर्भाव हुआ, उसकी दृष्टि से भी इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। अमरीका के दार्शनिक क्षेत्र में यह विरोधी प्रवृत्तियों का काल था। निरपेक्ष अध्यात्मवाद के गढ़ में दरारें पड़ने लगी थीं। जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान के क्षेत्रों में जो प्रगति हुई, उससे भी अध्यात्मवादी मान्यताओं पर हमले के लिए अस्त्र प्राप्त हुए। अन्त में प्राचीन परम्परा का अध्यात्मवाद पूर्णतः धराशायी हो गया। अपनी युवावस्था से ही पैरी अध्यात्मवाद के प्रमुख आलोचकों में था। हम देखेंगे कि किस प्रकार पैरी आध्यात्मिक मान्यताओं की आलोचना करते-करते वस्तुवादी क्षेत्र में अपनी दार्शनिक स्थापना करने में समर्थ हो गया।

अध्यात्मवाद के गढ़ पर अभियान के लिए जिन अस्त्रों का प्रयोग किया गया, उनमें शायद सब से तीक्ष्ण पैरी का निबन्ध 'अहंकारी विषमावस्था' था। इस निबन्ध का तर्क इस प्रकार था। निस्संदेह जब कोई मानव दृश्यजगत् का निरीक्षण करता है अथवा उसके सम्बन्ध में सोचता है, तो ऐसा वह अपने सम्बन्ध की पृष्ठभूमि में करता है। विचार करने वाला चाहे जिस दार्शनिक प्रणाली में आस्था रखता हो और वह अध्यात्मवादी हो अथवा वस्तुवादी, उपर्युक्त पृष्ठभूमि बराबर रहती है। हमारे चिन्तन में इस प्रकार के सम्बन्ध की जो कठिनाई है, वह वास्तविक है ; किन्तु पैरी ने कहा कि प्रत्येक प्रकार के चिन्तन में इस बात

के मौजूद रहने का यह मतलब नहीं कि वास्तविकता अथवा यथार्थता के लिए भी उसका मौलिक महत्त्व है। यह सत्य है कि दार्शनिक जो भी कुछ सोचेगा, उसमें प्रत्यय अथवा विचार अवश्य रहेगा। वह जिस भी विषय पर ध्यान देगा उसे विचार के रूप में परिणत कर लेगा। इससे सिद्ध होता है कि कुछ भी कही हुई वस्तु विचार है ; किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि केवल विचारों का ही अस्तित्व है। "अहंकारी विषमावस्था" विचार की विशेषता है, वस्तु की नहीं। जब तक किसी का विचार नहीं किया जाता, तब तक उसकी कल्पना नहीं की जा सकती—इस कठिनाई के कारण प्रत्ययवादी ( अध्यात्मवादी ) निराशा के महासागर में डूब कर कह उठा कि जब तक किसी के विषय में सोचा नहीं जाता, तब तक उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। पैरी ने कहा कि प्रत्ययवादियों ने इस तरह एक कठिनाई को तर्क का रूप दे दिया।

पैरी के इस तर्क ने प्रत्ययवादियों की मान्यता की नींव हिला दी। उसने यह भी कहा कि सभी प्रकार के अध्यात्मवाद में आत्मनिष्ठता का प्रवेश है। यही कारण था कि पैरी ने १८वीं शताब्दी में बर्कले के अध्यात्मवाद तथा १९वीं शताब्दी में कांट के अनुयायियों के अध्यात्मवाद में कोई अन्तर नहीं माना ; परन्तु पिछले प्रकार के अध्यात्मवादी अपनी मान्यताओं को बर्कले की आध्यात्मिक मान्यताओं से भिन्न मानते थे। उनका दावा था कि जहाँ उनका अध्यात्मवाद वस्तुनिष्ठ है, वहाँ बर्कले का आत्मनिष्ठ था। इन लोगों के कथनानुसार बर्कले की गलती यह थी कि जिस मन को वह यथार्थता कहता था, वह मानव मन न हो कर एक सार्वभौम मन था, जो वैयक्तिक मन से परे था और जो विवेकपूर्ण चेतना का आगार था। ज्ञान के इच्छुक किसी व्यक्ति के लिए यह ब्रह्मांडीय चेतना एक वाह्य यथार्थता है। पैरी ने इसका यह उत्तर दिया कि वस्तुनिष्ठ अध्यात्मवाद अर्थात् चेतनवाद जिस सीमा तक बर्कले के तर्क की पुनरावृत्ति करता है, उस सीमा तक वह वैसी ही आलोचना का पात्र है और जहाँ वह उसके तर्क से असहमत है वहाँ उसकी स्थिति अप्रमाणनीय है।

यद्यपि पैरी स्वयं व्यवहारवादी नहीं था ; किन्तु व्यवहारवाद की उसकी आलोचना अध्यात्मवाद की उसकी आलोचना के जितनी तीक्ष्ण नहीं होती थी। यह सम्भव है कि अपने गुरु विलियम जेम्स के प्रति श्रद्धा होने के कारण ही वह व्यवहारवाद की—जिसमें जेम्स का नाम सम्बद्ध था—आलोचना नहीं करता था। उसको यह भावना भी हो सकती थी कि यदि व्यवहारवाद की उचित सीमाएँ निश्चित कर दी जायें और उस पर ठीक तरह अमल किया जाय, तो इससे उसकी

अपनी प्रणाली वस्तुवाद की पुष्टि होगी। पैरी जेम्स के दर्शन को व्यवहारवाद तथा वस्तुवाद का सुन्दर सम्मिश्रण मानता था। पैरी का व्यवहारवादियों से केवल इतना ही अनुरोध था कि उन्हें अपनी इस मान्यता को उचित सीमा के भीतर रखना चाहिए कि "ज्ञान से ही यथार्थता का आविर्भाव होता है।" पैरी ने कहा कि यदि व्यवहारवादी अपनी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण नहीं रखते, तो वे भी अध्यात्मवादियों की ही जितनी आत्मनिष्ठता का विकास कर लेंगे और सैद्धान्तिक दृष्टि से उनके लिए इसका औचित्य और भी कम होगा। एक आत्मनिष्ठ व्यवहारवादी की विचारधारा पूर्ण सापेक्षवाद में ही जा कर समाप्त हो सकती है। उस अवस्था में सुनिश्चित सत्य तो नहीं ही रहेगा ; बल्कि कोई भी तथ्य अथवा वस्तु सुनिश्चित एवं स्थिर नहीं रह सकेगी। यदि विचार के विषय विचार से उत्पन्न माने गए, तो उनका विचारों से अधिक सम्बन्ध जुड़ जाता है। पैरी के मत में एक संतुलित व्यवहारवादी को सत्य तथा यथार्थता में भेद करना चाहिए ; क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया गया, तो जेम्स जिसे सत्य कहता है, वही यथार्थता भी हो जाती है, अर्थात् "मानवीय सफलता का एक विशिष्ट रूप।"

पैरी की इस नकारात्मक तथा आलोचनात्मक विचारधारा से उसे अपनी वस्तुवादी स्थिति कायम करने में मदद मिली। परन्तु, अन्य दार्शनिक प्रणालियों की तरह उसने ज्ञान के सिद्धांत से अपनी विचारधारा का श्रीगणेश किया। उसने कहा कि ज्ञान की समस्या मुख्यतः मन तथा उससे सम्बन्धित विषय के सम्बन्ध की समस्या है ; इसलिए पैरी ने सब से पहले मन की वास्तविकता का पता लगाने का प्रयास किया। पैरी ने अपने विचार से अहं भाव को हटाने का तरीका निकाला। उसने कहा कि मन के अध्ययन के लिए दो विधियाँ बहुत समय से प्रचलित हैं। इनमें से एक है कि जिस रूप में मन प्रकृति अथवा समाज में दिखाई देता है, उसका निरीक्षण और दूसरी विधि है अन्तःप्रेक्षण। बहुत समय से यह अनुभव किया जाता रहा है कि इन विधियों से मन के स्वरूप के एक दूसरे से भिन्न चित्र हमारे आगे उपस्थित होते हैं। निरीक्षण से प्रकट होता है कि मन जिस खोली में बन्द है, उसके बाह्य स्वरूप को हम जान सकते हैं ; किन्तु उसकी आन्तरिक प्रकृति कैसी है, उससे हम फिर भी अनजान रह जाते हैं। पैरी ने यह सुझाव दिया कि बाह्य रूप तथा भीतरी प्रकृति एक सम्पूर्ण मन के उसी प्रकार अंग हैं, जिस प्रकार किसी ढाल में उसका उभरा हुआ भाग तथा नीचे का गहराई वाला भाग उस सम्पूर्ण ढाल के अंग होते हैं। ढाल को हम उभरी हुई या गहराई लिए हुए जब देखते हैं, तो उसे केवल उभरी अथवा गहरी नहीं मान लेते ; बल्कि

प्रथम दर्शन से उसके सम्बन्ध में जो एकांगी ज्ञान होता है, उसमें हम डाल का पूर्ण ज्ञान होने पर संशोधन कर लेते हैं। पैरी ने कहा कि इसी प्रकार, मन के एकांगी अध्ययन से हमें भ्रम में न पड़ कर उसके सम्पूर्ण रूप में ही वास्तविकता खोजनी चाहिए।

पैरी ने अपनी मान्यता को आगे बढ़ाने के लिए शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी कितनी ही सामग्री का उपयोग किया, जो उसे होल्ट से प्राप्त हुई। निरीक्षण अथवा आत्मप्रेक्षण से जिसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह सम्पूर्ण मन होता है। आवश्यकता यही है कि निरीक्षण तथा आत्मप्रेक्षण के परिणामों को एक साथ संकलित किया जाय, जब कि निरीक्षण का तरीका मन की प्रकृति की उपेक्षा कर उसकी क्रिया को अधिक महत्त्व देता है, वहाँ आत्मप्रेक्षण का तरीका मन की क्रिया की उपेक्षा कर उसके तात्त्विक अंग को ही अधिक महत्त्व देता है। इन दोनों का संग्रह एक स्थान पर होने से सम्पूर्ण मन का ज्ञान होता है और ज्ञाता से कुछ भी छिपा नहीं रह जाता। मानसिक तत्त्व का अनुमान मानसिक क्रिया से लगाया जा सकता है और विचार का अनुमान आचरण से लगता है। कारण यह है कि मन के मूल तत्त्व न तो पूर्णतः मानसिक हैं और न उनका सम्बन्ध किसी एक मन से ही है। वे तटस्थ तथा परिवर्तनीय हैं। केवल प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक तत्त्वों का योग तथा सम्बन्ध अलग-अलग होते हैं। व्यक्ति के बाह्य आचरण को देखकर हम उसके मानसिक तत्त्वों का अनुमान कर सकते हैं और उसकी अभिरुचि का अन्दाज कर सकते हैं। प्राणी की सब से प्रधान अभिरुचि तथा स्वार्थ है आत्मरक्षा। जातियों का विकास होने पर इन अभिरुचियों का भी विकास हुआ। स्नायु-प्रणाली तथा शरीर के अन्य अंगों के कारण मनुष्य की अभिरुचियों तथा स्वार्थों में और अधिक विकास हुआ। मन के रूप पर, जिस वातावरण में वह रहता है, उसका भी असर पड़ता है। मानव मन दूसरे मनों से अभिरुचियों की विविधता तथा उनके योग की दृष्टि से भिन्न होता है। मनुष्य का मन निगूढ़ विषयों, एवं सिद्धान्तों तथा जटिल समस्याओं पर विचार करता है और उसका चिन्तन दिक् और काल के विस्तृत क्षेत्रों तक पहुँचता है। अन्य प्राणियों का मन विवेक, स्मृति, कल्पना तथा विचारशक्ति न होने के कारण इतना कार्य करने में असमर्थ रहता है।

पैरी का ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त मानव के मन पर ही लागू होता है। यह सिद्धान्त अन्य दो सिद्धान्तों का योग है—आविर्भावात्मकता ( Emergence ) का सिद्धान्त और स्वतंत्रता का सिद्धान्त। किसी भी वस्तुवादी मान्यता में ज्ञान

प्राप्त करने वाले मन की स्वतंत्रता आवश्यक है। इतना मान लेने पर अगला प्रश्न यह उठता है कि स्वतंत्र वस्तुएँ किस प्रकार मानस में स्थान पा सकती हैं। पैरी इस तथ्य का स्पष्टीकरण आविर्भावात्मकता के सिद्धान्त के अनुसार करता है। पैरी की एक मान्यता यह भी है कि मानसिक तथ्य स्वतंत्र अथवा निरपेक्ष रहते हैं। इस मान्यता का ध्यान रखने पर समझा जा सकता है कि पैरी अपनी अगली मान्यता पर किस प्रकार पहुँचता है। मान्यता यह है कि एक ही जैसे तत्त्व मन तथा शरीर के मूल तत्त्व हैं। वास्तविकता का मानस तथा शरीर के मूल तत्त्वों के रूप में विभाजन नहीं हुआ है ; बल्कि यह तो परस्पर प्रभावित करने वाले सम्बन्धों की एक शृंखला है। जब किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तो वह विशेष सम्बन्ध में प्रवेश कर मानस में स्थान प्राप्त कर लेती है। जो वस्तु जानने की प्रक्रिया में सम्बन्धों का विकास करती है, उसे ही विचार कहा जाता है। ऐसी वस्तुएँ एक साथ अनेक सम्बन्ध कायम रख सकती हैं। पैरी की इस विचारधारा के प्रसंग में सब से महत्त्वपूर्ण बात यह याद रखने की है कि ज्ञान तथा ज्ञान के विषय ( वस्तु ) का भेद उसी प्रकार का है, जिस प्रकार का भेद मन और शरीर के बीच है। यह भेद तात्त्विक न होकर सम्बन्धिक तथा कार्य-सम्बन्धी है। पैरी की मान्यता के अनुसार ज्ञान के सम्बन्धिक क्षेत्र में वस्तु के निजी रूप का ही आविर्भाव होता है।

पैरी आविर्भावात्मकता-सिद्धान्त की कमी की पूर्ति अपने स्वतंत्रता के सिद्धान्त से करता है। इस स्वतंत्रता के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान के विषय की सत्ता अथवा कोटि उसके ज्ञात होने की प्रक्रिया पर निर्भर नहीं है। पैरी ने अनुभव किया कि ब्रिटिश वस्तुवादी बर्टेंड रसेल तथा जी० ई० मूर ने वस्तु की स्वतंत्रता के पक्ष में जो तर्क दिए हैं, वे पर्याप्त नहीं हैं। उसने कहा कि इसका कारण उनका तर्क पर अत्यधिक निर्भर रहना तथा निरीक्षण के तरीके की बिल्कुल उपेक्षा कर देना है। पैरी ने अपने मन-सम्बन्धी सिद्धान्त को, जिसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, निरीक्षण के तरीके द्वारा वस्तुओं की स्वतंत्रता की स्थापना के लिए पर्याप्त माना। पैरी का यह भी दावा था कि आविर्भावात्मकता के सिद्धान्त को स्वतंत्रता के सिद्धान्त के साथ मिलाने से वह यह स्थापना कर सका है कि नए वस्तुवाद के क्षेत्र में स्वतंत्रता का सिद्धान्त ही सब से महत्त्वपूर्ण है। उसने कहा कि ज्ञान की प्राप्ति में स्वतंत्र तथ्यों का अनिवार्य रूप से सामना करना पड़ता है।

पैरी के दृष्टिकोण की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि वह ज्ञान-सम्बन्धी

सिद्धान्त की तरह अपने सामाजिक तथा नैतिक दर्शन के क्षेत्रों में भी आगे आने वाले तथ्यों का सामना करने के लिए तैयार था। हमारे विश्वास उन तथ्यों के अनुरूप होने चाहिए, जो मान्यताओं के सम्बन्धों में अवस्थित हैं। इस प्रकार पैरी वस्तुवाद के सिद्धान्तों के बीच से होकर उसकी व्यावहारिकता में प्रवेश कर गया। अपने मूल्यों के सामान्य सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए पैरी ने अपनी मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। मूल्यों का निर्धारण मन के प्रति विषयों के सम्बन्ध से किया जाता है। ये मूल्य नैतिक, सामाजिक अथवा सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र के हो सकते हैं। किसी वस्तु का मूल्य इस बात से जाना जा सकता है कि उसमें मन को प्रभावित करने की कितनी क्षमता है। यह मूल्य भावात्मक अथवा निषेधात्मक हो सकता है। भावात्मक मूल्य वह है, जिसमें विषय मन को आकृष्ट करता है और निषेधात्मक मूल्य वह है, जिसमें विषय मन को पीछे हटाता है अथवा अस्वीकार करता है। परन्तु, स्वीकृति अथवा अस्वीकृति सापेक्ष शब्द हैं। विभिन्न वस्तुएं एक व्यक्ति को आकृष्ट करती हैं ; किन्तु दूसरे व्यक्ति में वही घृणा का भाव उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार, मूल्य केवल किसी वस्तु में नहीं होता और न वह उस वस्तु का गुण ही होता है। इसी प्रकार, मूल्य केवल मन में नहीं होता और न वह एक मानसिक गुण है। मूल्य एक सम्बन्ध है। एक व्यक्ति किसी वस्तु के प्रति आकृष्ट होकर अथवा उससे घृणा कर अपनी चेतना से उसके मूल्य का ज्ञान प्राप्त कर सकता है ; किन्तु वह यह जानकर भी कि अन्य लोग अमुक वस्तु के प्रति आकृष्ट होते हैं अथवा घृणा करते हैं, उस वस्तु का मूल्यांकन कर सकता है। इस तरह मनुष्य किसी वस्तु का मूल्यांकन करने से पूर्व ही उसके मूल्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इससे सिद्ध है कि किसी तथ्य की तरह मूल्यों की भी स्वतंत्रता है। साथ ही पैरी का मूल्य-सम्बन्धी वस्तुवादी सिद्धान्त विशेष प्रवृत्ति के स्थान पर सामान्य प्रवृत्ति को मूल्यांकन की कसौटी मानता है।

इस सामान्य पृष्ठभूमि में पैरी को नैतिक तथा सामाजिक विचारधारा के क्षेत्र में पुरातनवादी उदार विचारक कहा जा सकता है। उसने एक बार अपने को "एक ऐसा क्रान्तिकारी बताया, जो अतीत की क्रान्तियों का समर्थक है।" उसकी पुस्तक[१] में वस्तुवादी पृष्ठभूमि को रखते हुए मानवता तथा आदर्शवाद की तरफ प्रगति करने की चेष्टा की गई है। इसके लिए पैरी ने विभिन्न आचार-

१. Perry : The Moral Economy.

प्रणालियों का अध्ययन करने के स्थान पर जीवन के अध्ययन से परिणाम निकाले। उसने अनुभववादी तरीके से काम लेकर नैतिक विचारों तथा नैतिक नियमों की स्थापना की। नैतिक क्षेत्र में जीवन के आविर्भाव से मूल्यों की सार्थकता प्रकट हुई। मनुष्य के चारों तरफ जो प्रकृति है, उसे मानव की आवश्यकता के अनुकूल ढालने का औचित्य भी उसके आगे आया। अन्य प्राणियों के बीच नैतिक आचरण विकासवादी सुरक्षा का साधन था ; किन्तु मनुष्य के लिए वह इच्छा की तुष्टि का साधन बना। अच्छाई प्राणी तथा विषय के बीच का एक सम्बन्ध है और इच्छा वस्तु के प्रति आकर्षण की अभिव्यक्ति है। मनुष्य के चारों तरफ जो प्रकृति है, वह निरपेक्ष होते हुए भी इस सम्बन्ध के बीच प्रवेश कर जाती है। इस तरह सम्बन्ध के क्षेत्र में निरपेक्षता अच्छाई का रूप धारण कर लेती है।

इसके बाद प्राकृतिक वातावरण में अच्छे और बुरे का वर्गीकरण "एक नैतिक नाटक" का रूप धारण कर लेता है। एक स्वार्थ का दूसरे स्वार्थ से विरोध होने पर "नैतिक स्थिति" उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जो कुछ एक के लिए अच्छा है, वही दूसरे के लिए बुरा सिद्ध होता है। नैतिक स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जब एक स्वार्थ दूसरे स्वार्थ से मिलकर अपने समान शत्रु प्रकृति की जड़ता से रक्षा के लिए कमर कस कर उठ खड़े होते हैं। स्वार्थों की बहुलता तब सामुदायिक स्वार्थ का रूप धारण कर लेती है और इसी को नैतिक व्यवस्था ( Moral Economy ) कहा जाता है। इस प्रकार, विभिन्न स्वार्थों के पारस्परिक संघर्ष के स्थान पर प्रकृति के विरुद्ध आपसी सहयोग का ही दूसरा नाम नैतिकता है। यह आत्महत्या तथा समृद्ध जीवन के बीच चुनाव का तरीका है। नैतिक अच्छाई ( इसे हमें केवल अच्छाई से भिन्न मानना चाहिए) विभिन्न स्वार्थों का युक्तियुक्त संघटन है। नैतिक अच्छाई में समृद्धि तथा पारस्परिक संतोष के साथ पारस्परिक सद्भावना तथा सहयोग के मूल्यों का भी योग कर लिया जाता है।

इस प्रकार नैतिकता हमें संघटित जीवन की तरफ भी ले जाती है। अस्तित्व के लिए संघर्ष की विकासवादी मान्यता का स्थान नैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत उन्नति का प्रयास ग्रहण कर लेता है। नैतिक व्यवस्था का आदर्श सार्वभौमिक है। यह ठीक है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी को पूर्ण संतोष की प्राप्ति नहीं हो सकती ; किन्तु नैतिक व्यवस्था का उद्देश्य समाज के प्रत्येक सदस्य के प्रति अधिक-से-अधिक उदारतापूर्ण व्यवहार करना है। नैतिक अच्छाई उसे कहते हैं, जिससे किसी विशेष परिस्थिति में अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को संतोष की

उपलब्धि हो सके। मूल्य तथा स्वार्थ एक सम्बन्ध से जुड़े हैं और इस सम्बन्ध पर ही पैरी ने अपने नैतिक सिद्धान्त को आधारित किया है। जिस मूल्य के द्वारा व्यक्तियों के अधिक-से-अधिक स्वार्थ की सिद्धि होती है, उसे अन्य मूल्यों पर प्राथमिकता दी जाती है। किसी विशेष परिस्थिति में उसी कार्य को नैतिक दृष्टि से 'शुभ' कहा जायगा, जो सब से अधिक 'शुभ' होगा।[1] इस दृष्टिकोण की स्वीकृति के लिए पैरी के शब्दों में 'स्वार्थों की विषयगत प्रामाणिकता' ( The objective validity of interests ) स्वीकार कर लेनी पड़ती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी समय मुझे एक विशेष स्वार्थ से प्रेरणा मिल रही है, तो इसका यह मतलब नहीं कि मैं दूसरे स्वार्थों के प्रति उदासीन हो जाऊँ। किसी एक स्वार्थ को दूसरे स्वार्थ पर उसके गुण के कारण प्राथमिकता नहीं मिल सकती ; क्योंकि उस अवस्था में विषयी अथवा विषय में से किसी एक में मूल्य की स्थापना करना होगा, सम्बन्धों में नहीं। यही वह अवस्था है, जिसमें इस मान्यता को आगे बढ़ाया गया कि एक स्वार्थ की तुष्टि से दो स्वार्थों की तुष्टि कहीं उत्तम है। इस प्रकार, पैरी किसी एक बड़ी अच्छाई पर अनेक व्यक्तियों की अच्छाई को श्रेयस्कर मानता है। इस संदर्भ में कर्त्तव्य का तात्पर्य यही है कि विशेष परिस्थितियों में हम अपने कार्यों पर उनके परिणाम का विचार कर नियंत्रण करें।

इस प्रकार, कहा जा सकता है कि नैतिकता युक्ति-संगत अथवा सविवेक हो सकती है। किसी के लिए नैतिक होने का यही मतलब हुआ कि वह सद्‌विचार वाला व्यक्ति है ; परन्तु किसी के लिए सद्‌विचार वाला तथा विवेकमय, दोनों ही होना सरल नहीं है। जिस किसी भी परिस्थिति में हमारे सामने आचरण करने का सवाल उठता है, वह जटिलता से भरी होती है। यदि प्रत्येक परिस्थिति में अलग से विचार किया जाय, तो कोई कार्य करना असम्भव हो जायगा। यही कारण है कि जीवन में मनुष्य कतिपय सामान्य शिक्षाओं को ध्यान में रखकर ही अपना पथ-प्रदर्शन करता है। ये शिक्षाएँ अथवा आचरण के सामान्य सिद्धान्त ही गुण कहलाते हैं। ये गुण ऐसी मान्यताएँ हैं, जिनका प्रमाणीकरण मानव समुदाय के सामूहिक अनुभव द्वारा हो चुका है। प्रमाणीकरण यही है कि उनके परिणाम-स्वरूप यथासम्भव अधिक-से-अधिक इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है। गुणों का प्रमाणीकरण सैद्धान्तिक विधि से सम्भव नहीं है और न किसी व्यक्ति-विशेष

---

१. Perry : Present Philosophical Tendencies.

के जीवन के प्रयोगों द्वारा ही उनका प्रमाणीकरण सम्भव है। प्रमाणीकरण समाज के इतिहास में होता है। गुणों का प्रमाणीकरण यह देखकर होता है कि उनके द्वारा किस प्रकार विभिन्न संस्थाओं का विकास होता है और उनके द्वारा किस प्रकार सभ्यता की उन्नति होती है।

इस पृष्ठभूमि के कारण यह स्पष्ट है कि पैरी के सामाजिक दर्शन में सद्भावना, शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को विशेष महत्त्व दिया गया है। साथ ही प्रारम्भिक जीवन में पादरी होने की इच्छा के अलावा इस मान्यता का कारण जानना कठिन है कि उसने अपनी सामाजिक विचारधारा में लोकतंत्र के साथ प्यूरिटनवाद का समावेश क्यों किया। पैरी के सामाजिक दर्शन में क्रान्ति तथा प्रतिक्रिया के मध्य का मार्ग ग्रहण किया गया, जिसे यथास्थिति बनाए रहने का उदारतापूर्ण आग्रह कहा जा सकता है। पैरी ने कहा है कि यह अतीत की ओर देखने का एक विवेकपूर्ण आग्रह है, जिसमें अतीत के नवीकरण की चेष्टा रहती है। इसमें प्राचीन देवताओं अथवा नवीन विज्ञान दोनों में से किसी के प्रति अन्ध-विश्वास करने को नहीं कहा जाता ; बल्कि दोनों के प्रति सम्मान तथा संशय का सम्मिश्रण रहता है और साथ ही स्पष्ट नैतिक निर्देश की भावना भी रहती है। जब भी पैरी प्यूरिटनवाद अथवा लोकतंत्र की चर्चा उठाता है, तो उसका आशय ऐतिहासिक आन्दोलनों से नहीं होकर धार्मिक अथवा राजनीतिक दृष्टिकोणों से प्रकट किए गए नैतिक दृष्टिकोण से होता है। सत्य तो यह है कि प्यूरिटनवाद अथवा लोकतंत्र की चर्चा जब पैरी करता है, तो उसका आशय १७वीं तथा १८वीं शताब्दी की प्यूरिटनवादी अथवा लोकतंत्रीय विचारधाराओं से नहीं होता ; बल्कि जैसी उन्हें होना चाहिए उनसे होता है। पैरी के प्यूरिटनवाद में यह भावना रहती है कि मनुष्य को सर्वोत्तम स्थिति की आकांक्षा करनी चाहिए और जब वह उस स्थिति को नहीं पहुँचता है, तो उसके हृदय में दोषी होने का भाव रहता है। लोकतंत्र भी एक नैतिक आन्दोलन है। जहाँ कि प्यूरिटनवाद निराशावादी है, वहाँ लोकतंत्र आशावादी है। लोकतंत्र में दृष्टिकोण वर्तमान कठिनाइयों में उलझा रहने का नहीं होता ; बल्कि भावी आशाओं तथा सम्मानताओं में केन्द्रित रहता है। लोकतंत्री दृष्टिकोण यही है कि यदि मानव-प्रकृति को स्वच्छन्दतापूर्वक विकास का अवसर दिया जाय, तो मनुष्य उत्तम संसार का निर्माण के करने लिए एक दूसरे के प्रति सहयोग करेंगे।

इन ऐतिहासिक आन्दोलनों की चरम अवस्थाओं के परिणाम-स्वरूप कुछ बुराइयाँ भी उत्पन्न हो गईं। जहाँ तक प्यूरिटनवाद का सम्बन्ध है, नैतिकता

की भावना के स्थान पर उसकी रूढ़ियों तथा शब्दों को ही अधिक महत्त्व दिया गया और मानवीय पक्ष की एक हद तक उपेक्षा की गई। लोकतंत्र के पक्ष को हानि इसलिए पहुँची कि मानव-प्रकृति पर आवश्यकता से अधिक विश्वास किया गया, जिसका असर सार्वजनिक कल्याण पर पड़ा। लोकतंत्र ने संसार में विवेक तथा भलाई के प्रभाव को भी अतिरंजित रूप में उपस्थित किया और इस प्रकार भ्रमजाल से बचे रहने की व्यवस्था का निर्माण नहीं किया जा सकता।

पैरी का विचार था कि प्यूरिटनवाद तथा लोकतंत्रवाद एक दूसरे के पूरक तथा एक दूसरे को शुद्ध करने वाले रहे हैं। उसने इसी आधार पर समीक्षात्मक यथास्थितिवाद ( Critical Conservatism ) के भवन का निर्माण किया। उसने कहा कि प्यूरिटनवाद तथा लोकतंत्रवाद धर्मनिष्ठा तथा सत्य के प्रति हमारी आस्था के प्रतीक हैं और इन्हें अग्रसर करने में हमारा उद्देश्य नैतिक स्तर तथा राष्ट्रीय जीवन को बनाए रखना है। दूसरे शब्दों में, पैरी का यथास्थितिवाद १७वीं शताब्दी के धार्मिक निराशावाद तथा १८वीं शताब्दी के राजनीतिक आशावाद को मिला कर अमरीकी विचारधारा को एक नवीन रूप देने का प्रयास कहा जा सकता है।

पैरी ने बाद में एक और पुस्तक[1] लिखी। इसमें उसने अपने सामाजिक विचारों को अन्तर्राष्ट्रीय संघटन की स्थापना के विषय पर लागू करने का प्रयास किया है। इसमें पैरी ने यह विचार प्रकट किया कि विश्व वैज्ञानिक तथा नैतिक क्षेत्र में भी एकता तथा अखंडता प्राप्त कर चुका है और अब उसे सामाजिक तथा नैतिक क्षेत्र में भी एकता एवं अखंडता प्राप्त करनी है। हम नैतिक एकता के इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। विश्वशान्ति के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमें ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कायम करनी चाहिए, जिनमें पृथ्वी के सभी भागों को ही नहीं ; बल्कि सभी मानवीय हितों को भी प्रतिनिधित्व मिला हुआ हो। इसे सम्भव बनाने के लिए पहले विश्व-भावना का विकास करना आवश्यक है। हमें विश्व की राजनीतिक, कानूनी, सांस्कृतिक, शैक्षिक तथा धार्मिक सफलताओं का मूल्यांकन कर मानव-समाज की नैतिक एकता का रूप देना होगा। समस्त संसार की एक सरकार होना पैरी का चरम लक्ष्य है ; किन्तु वह चाहता है कि इस लक्ष्य की तरफ एक सीमित क्षेत्र में सरकारों की एकता स्थापित कर बढ़ना चाहिए। उसके विचार में पहले अन्तर्राष्ट्रीय कानून को

---

१. Perry : One World in the Making.

अमल में लाने, समृद्धि, स्वतंत्रता तथा न्याय की व्यवस्था को आगे बढ़ाने, सांस्कृतिक अनेकता में एकता का दर्शन करने तथा शिक्षा-प्रणाली का नवीकरण करने में प्रगति करनी चाहिए। इसके बाद में ही विश्व की राजनीतिक एकता की आशा की जा सकती है। इसके अलावा, विभिन्न ऐतिहासिक धर्मों के साथ ही एक ऐसे मानव-धर्म का भी विकास होना चाहिए, जिसका आदर्श नैतिक दृष्टि से मनुष्य की एकता हो। दूसरे शब्दों में पैरी के दृष्टिकोण से विश्व की एकता नैतिक एकता की ही राजनीतिक अभिव्यक्ति है।

# समीक्षात्मक वस्तुवाद : रोय वुड सेलर्स

साधारण व्यक्ति का दृष्टिकोण दार्शनिक मान्यताओं से प्रभावित नहीं होता और इसलिए वह वस्तुवादी होता है। वह अपने चारों तरफ दृश्यजगत् को देखता है। उसमें दिशा और काल के क्रम से भौतिक वस्तुएँ रहती हैं। वह देखता है, सुनता है तथा अन्य प्रकार से वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है। वह उनकी तरफ आकृष्ट होता है अथवा उनसे घृणा करता है। वह उनकी अनेक प्रकार से व्यवस्था करता है और उनका इच्छानुसार उपयोग करता है। मनुष्य जानता है कि उसका वस्तुओं के प्रति सम्बन्ध लाक्षणिक है। किसी वस्तु के प्रति जैसी एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया साधारण तौर पर होती है, वैसी ही दूसरे व्यक्ति की भी होती है। यह एक साधारण मानवीय अनुभव है। मनुष्य का विश्वास है कि उसके प्रत्यक्ष के पहले भौतिक वस्तुएँ थीं और वे बाद में भी रहेंगी। वस्तुओं का अस्तित्व उस पर किसी तरह निर्भर नहीं है और न उनकी विशेषताओं का उसके मन से कोई विशेष सम्बन्ध है। वस्तुओं का अस्तित्व मनुष्य से निरपेक्ष है और सभी मनुष्यों का उन पर अधिकार है। भौतिक वस्तुएँ स्थायी तथा अपरिवर्तनशील हैं। विषय में जो परिवर्तन दिखाई देते हैं, वे वस्तुतः प्रत्यक्षकर्ता के विषय के प्रति सम्बन्धों के परिवर्तन हैं—स्वयं विषय अथवा वस्तुओं के परिवर्तन नहीं हैं। इसी प्रकार, प्रत्यक्षकर्ता अथवा ज्ञाता में कोई विशेषता नहीं मानी गई है। उसका एक व्यक्तित्व है। ज्ञाता ज्ञान के विषय के जितना ही यथार्थ है। उसकी प्रकृति में केवल इतनी विशेषता है कि वह जितना स्वयं का प्रत्यक्ष करता है, उतना ही दूसरों का भी कर सकता है। इस प्रकार ज्ञान एक समस्या नहीं ; बल्कि एक तथ्य है।

साधारण आदमी के वस्तुवाद को रोय वुड सेलर्स ने 'प्राकृतिक वस्तुवाद' कहा। उसने यह भी कहा कि हमें प्राकृतिक वस्तुवाद को ज्ञान के क्षेत्र में जो

कुछ होता है उसका सिद्धान्त न मानकर जो कुछ होता है, उसके आभास का कथन मानना चाहिए। सेलर्स ने कहा कि इस सीधे-सादे विचार में संशोधन की गुंजाइश है ; किन्तु उसके मूल वस्तुवादी स्वरूप में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। ज्ञान के सिद्धान्त का कार्य प्राकृतिक वस्तुवाद को इस प्रकार शोधित करना है, जिससे दार्शनिक दृष्टि से तो उसका औचित्य सिद्ध होता हो ; किन्तु साथ ही यह सावधानी भी रखना है कि उसमें कोई भिन्न तथा असंगत मान्यता का प्रवेश न हो सके। हमारा कार्य मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र की सहायता से एक ऐसे समीक्षात्मक वस्तुवाद की स्थापना करना है, जिससे प्राकृतिक वस्तुवाद का तो शोधन हो जाय ; किन्तु साथ ही वस्तु अथवा विषय की स्वतंत्रता अथवा निरपेक्षता नष्ट न हो पाए। समीक्षात्मक वस्तुवाद की विशेषता केवल इतनी है कि उसमें प्राकृतिक वस्तुवाद के कतिपय भ्रमों का निवारण करने की चेष्टा की जाती है। इस प्रकार, प्रकट है कि सेलर्स ने समीक्षात्मक वस्तुवाद की स्थापना करते हुए भी साधारण व्यक्ति के दृष्टिकोण का आदर किया। सेलर्स ने प्राकृतिक वस्तुवाद का संशोधन प्रत्यक्ष के सिद्धान्त से ही शुरू किया।

किसी प्रत्यक्षदर्शी को यही जान पड़ता है कि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष वह करता है, उसकी वह प्रत्यक्ष जानकारी करता है। सेलर्स ने कहा कि प्रत्यक्ष एक ऐसी क्रिया नहीं है, जिसमें वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता हो। इसके विपरीत प्रत्यक्ष एक ऐसी क्रिया है, जिसमें प्रत्यक्षदर्शी तथा उसके प्रत्यक्ष के विषय के बीच कई तत्त्व, जो आन्तरिक और बाह्य दोनों तरह के हैं, मध्यस्थता करते हैं। सेलर्स ने कहा कि प्राकृतिक वस्तुवाद की इस मान्यता पर कायम नहीं रहा जा सकता कि वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है ; बल्कि उससे केवल उस वस्तु के प्रत्यक्ष का इरादा ही प्रकट होता है। सेलर्स ने कहा कि प्रत्यक्ष की क्रिया के दो भाग होते हैं—कतिपय बाह्य वस्तुओं का संकलन और फिर उनकी व्याख्या करना। इस प्रकार, प्रकट है कि प्रत्यक्ष की क्रिया में बाह्य वस्तुओं तथा उनके विचार दोनों ही आते हैं और उनमें कोई भी एक प्रत्यक्ष की क्रिया को पूर्ण नहीं बना सकता। हम भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं करते हैं ; बल्कि 'वस्तुओं सम्बन्धी अनुभवों' का प्रत्यक्ष करते हैं। यह भी प्रकट है कि प्रत्यक्ष की क्रिया, प्रत्यक्षकर्ता अथवा प्रत्यक्ष के विषय किसी के एकाकी नियंत्रण में नहीं रहती ; बल्कि उस पर उनका संयुक्त नियंत्रण रहता है। यदि ऐसा है, तो वस्तु की निरपेक्षता के सम्बन्ध में हम चाहे जो कहें ; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि एक ही

वस्तु का अनुभव अनेक प्रत्यक्षदर्शियों के लिए एक-जैसा होगा। प्रत्यक्षदर्शियों के प्रत्यक्ष में सादृश्य हो सकता है; किन्तु विभिन्न व्यक्ति एक वस्तु का एक-जैसा प्रत्यक्ष नहीं करते हैं।

प्रत्यक्ष करने की तरह जानने की क्रिया भी जटिल होती है और उसका एक विशेष ढांचा होता है। जानने की क्रिया में यह भाव होता है कि हम किसी बाहरी वस्तु की जानकारी प्राप्त कर रहे हैं; परन्तु सच्ची जानकारी तथा भ्रम के ढांचे समान होते हैं। निरपेक्ष अथवा स्वतंत्र वस्तुओं का चुनाव जब ज्ञाता द्वारा कर लिया जाता है, तो चुनी हुई वस्तुएं ज्ञान की विषय हो जाती हैं। किसी अन्य बाहरी वस्तु की अनुपस्थिति में इन विषयों की ज्ञाता द्वारा व्याख्या की जाती है और उनके सम्बन्ध में निर्णय किया जाता है।

ज्ञान की प्रक्रिया के भी अनेक स्तर होते हैं। कुछ अवसरों पर ज्ञान स्पष्ट तथा चेतनापूर्ण होता है तथा अन्य अवसरों पर वह ऐसा नहीं होता। ज्ञान की समस्या उसके स्पष्ट तथा चेतनापूर्ण होने पर ही उठती है; परन्तु अस्पष्ट और अचेतनापूर्ण ज्ञान से भी जानने की प्रक्रिया के ढांचे पर प्रकाश पड़ता है और इस प्रकार इस प्रक्रिया के प्राकृतिक स्वरूप की जानकारी होती है। अन्तर्भूत अथवा अप्रत्यक्ष ज्ञान शारीरिक प्रक्रिया को एक विशेष स्थिति तक पहुँचाने का साधन है और इसलिए उसकी दिशा बहिर्मुख होती है और उससे एक ढांचा प्रस्फुटित होता है। सेलर्स ने कहा कि प्रत्यक्ष ज्ञान की क्रिया इसी पर आधारित है। उसने कहा कि यदि ऐसा नहीं होता, तो ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी ही रहस्यपूर्ण होती है, जितनी दैवी ज्ञान की अनुभूति होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र में निम्न कोटि का ज्ञान कहा जा सकता है; परन्तु वैज्ञानिक निरीक्षण के आधार पर प्राप्त ज्ञान वास्तविकता के अधिक निकट होता है। इस प्रकार, जब प्रत्यक्ष ज्ञान वैज्ञानिक निरीक्षण में परिवर्तित हो जाता है, तब हम अस्पष्ट एवं अनिश्चित ज्ञान से स्पष्ट तथा सुनिश्चित ज्ञान के क्षेत्र में चले जाते हैं।

वैज्ञानिक विधियों द्वारा स्पष्ट तथा स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के पथ पर आगे बढ़ने से इस भावना का उदय होता है कि विषय का अधिक-से-अधिक ठीक ज्ञान प्राप्त किया जाय। ज्ञान के सिद्धान्त के क्षेत्र में सेलर्स की मान्यता यही रही है कि किसी भी वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है और इसलिए ज्ञाता पूर्ण ज्ञान के अधिक-से-अधिक निकट पहुँचने की ही चेष्टा कर सकता है। ज्ञान की प्राप्ति की विभिन्न अवस्था में हम ज्ञान के वर्णन के लिए

विभिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। साधारण व्यक्ति किसी सेव को आंख से देखकर यही कहेगा कि वह लाल और हरा है; किन्तु वैज्ञानिक स्तर पर यही कहा जायगा कि प्रकाश-किरणें एक विशेष क्रम से सेव पर प्रतिविम्बित हुई हैं।

सत्य की समस्या के सम्बन्ध में द्रष्टा अथवा ज्ञाता के अन्तर में दो बातें रहती हैं और तीसरी बात ज्ञाता से बाहर रहती है। ज्ञाता में पहली बात है विश्वास-सम्बन्धी एक विशेष दृष्टिकोण और दूसरी यह कि उस विश्वास का स्वरूप क्या है। ज्ञाता के बाहर दृश्यजगत् में वह परिस्थिति है, जिसका सम्बन्ध हमारे विश्वास से है। सत्य आन्तरिक विश्वास के उस स्वरूप को कहते हैं, जिससे बाह्य विषय की ठीक जानकारी प्राप्त होती है। बाह्य विषय की ठीक जानकारी वही होगी, जो उपस्थित विषय पर पूर्णतः लागू होगी। इस तरह हमारे विश्वास के स्वरूप का बाह्य स्थिति से ऐसा सादृश्य ही सत्य कहा जायगा, जिससे प्रकट हो सके कि हमारे विश्वास से ज्ञान के विषय की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त हुई है।

इस स्थान तक हमने ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में सेलर्स की समीक्षात्मक वस्तुवादी व्याख्या को उपस्थित किया है। अब हम संक्षेप में तत्त्व-मीमांसा-सम्बन्धी उसकी मान्यताओं की चर्चा उठाते हैं। सेलर्स ने 'भौतिक वस्तुवाद', 'प्रकृतिवाद' अथवा 'जड़वाद' शब्दों का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर किया है और उसका कथन है कि इनका आशय परस्पर मिलता-जुलता है। भौतिक वस्तुवाद प्रकृतिवाद से केवल इतना भिन्न है कि उसमें मन और शरीर की द्वैधता को माना गया है, जिसे आधुनिक दर्शन ने डेस्कार्टीस से विरासत में प्राप्त किया है। परन्तु, सेलर्स का भौतिक वस्तुवाद वास्तव में प्रकृतिवाद ही था; क्योंकि उसने मन को विशेष पद कभी नहीं दिया और उसे उसने शरीर-प्रणाली का ही अंग माना। परन्तु, सेलर्स ने प्रकृतिवाद का प्रयोग जिस अर्थ में किया, उसमें एक यह पहलू भी विशेष महत्त्वपूर्ण था कि प्रकृति को अप्राकृतिक तत्त्वों, जैसे अलौकिकवाद, सर्वातिशायीवाद आदि की सहायता की अपेक्षा नहीं है। सेलर्स का विश्वास था कि विश्व में आधारभूत महत्त्व दिक्, काल तथा कार्य-कारण-सम्बन्ध का है और वह द्वैतवाद की इस मान्यता को स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि ब्रह्माण्ड का किसी एक केन्द्र-विन्दु से नियंत्रण होता है। सेलर्स का कहना था कि जड़वाद का प्रयोग जिस अर्थ में होता रहा है, उससे उसका अर्थ कुछ व्यापक बनाने की आवश्यकता है। विश्व-प्रणाली की यांत्रिक व्याख्या में

मानसिक क्रिया तथा मानवीय इच्छा को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया। फिर भी, सेलर्स ने कहा कि वह प्रकृतिवाद को जिस रूप में समझता रहा है, वह "एक नए प्रकार का जड़वाद" ही है।

सेलर्स ने अपने प्रकृतिवाद के लिए 'विकासवादी' विशेषण का उचित ही प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृति के मध्य मन तथा जीवन का आविर्भाव अनुकूल परिस्थिति पाकर होता है। प्रकृति में जिस प्रकार जड़ वस्तुओं के विकास के लिए अव्यवस्थित रूप में द्रव्य-तत्त्व फैले रहते हैं, उसी प्रकार वे मन तथा जीवन-जैसी जटिल सत्ताओं के विकास के लिए भी फैलते हैं। सेलर्स की मान्यता है कि अखिल विश्व का विकास नहीं होता; बल्कि विश्व के अन्तर्गत विशेष भौतिक प्रणालियों का ही विकास होता है। विश्व में जीवन तथा मन का इन भौतिक प्रणालियों के मध्य आविर्भाव होता है। इस तरह उनका भौतिकीकरण अथवा प्रकृतीकरण कर दिया गया है। सेलर्स ने जिस प्रकार ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत ढाँचों की मान्यता रखी है, उसी प्रकार उसने तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में भी ढाँचों की मान्यता को रखा है। उसका विचार है कि विभिन्न स्तरों पर व्यापक संगठन में ढाँचों का विकास होता है। सेलर्स का कहना है कि प्रकृति का कोई भी अंग व्यर्थ नहीं जाता और अणु-परमाणु से लेकर सूर्य-जैसे विशालकाय पिंड एवं मानवीय मस्तिष्क-जैसी जटिल-प्रणालियाँ भी विकासोन्मुख हैं। ये सभी जड़, भौतिक अथवा वास्तविक हैं। भौतिकता ही यथार्थता है। जिस भी चीज का अस्तित्व है, वह दिक्, काल तथा कार्य-कारण-सम्बन्धी परिस्थितियों पर निर्भर है। इस प्रकार, संसार में जो भी कुछ है, वह तात्त्विक दृष्टि से भौतिक है अथवा भौतिक प्रणालियों से सम्बन्धित है।

सेलर्स का कहना है कि जिस दुनिया में हम रहते हैं, वही असली दुनिया है। तात्त्विक दृष्टि से यह द्रव्यात्मक विश्व है। लॉक की मान्यता के अनुसार द्रव्य का जड़ात्मक आधार माना गया है; किन्तु सेलर्स ने द्रव्य की मुख्य विशेषता उसकी अविच्छिन्नता अथवा नित्यता मानी है। द्रव्य वह वस्तु है, जो एक निर्धारित अवधि में अपरिवर्तित रहता है और स्थान-परिवर्तन से जो नष्ट नहीं होता। द्रव्य ज्ञान के क्षेत्र में विषय बन सकते हैं। द्रव्य स्वयंभू हैं; किन्तु वे असम्बन्धित नहीं हैं। वे अन्य द्रव्यों से सम्बन्ध कायम कर सकते हैं। सेलर्स ने समीक्षात्मक वस्तुवादी मान्यता उपस्थित कर बर्कले के इस तर्क का उत्तर देने की चेष्टा की कि वस्तुओं के बाह्य स्वरूप पर विचार करने का

मतलब यही है कि वस्तुएँ प्रत्यय हैं अथवा मन के भीतर घटित होने वाली आन्तरिक घटनाएँ हैं। सेलर्स ने कहा कि जब हम वस्तुओं के सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं, तो हम उनके जड़तत्त्व पर ध्यान न देकर उनके ढाँचे अथवा उनके स्वरूप पर ध्यान देते हैं; किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि कोई वस्तु केवल ढाँचा-मात्र है। कोई द्रव्य ज्ञान का विषय बन सकता है; किन्तु यह गलत होगा कि ज्ञान की प्रक्रिया में ही उसकी रचना निहित है।

इस प्रकार, सेलर्स के दर्शन में भौतिक प्रणालियों के रूप में जड़तत्त्व के संघटन को ही चरम यथार्थता माना गया है। प्रकृति में गतिशीलता अपने स्वभाव के कारण उसकी अंग है और इसे कहीं बाहर से नहीं लाया जाता। सेलर्स की मान्यता के अन्तर्गत भौतिक प्रणाली क्रिया की एक इकाई है। अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर नई भौतिक प्रणालियों का आविर्भाव होता है। नई विशेषताएँ तथा नई क्रियाएँ इन प्रणालियों की नवीनताओं की अभिव्यक्तियाँ हैं। सेलर्स अपने इस सिद्धान्त को उन अवस्थाओं पर भी लागू करता है, जब विशेषताएँ जीवन अथवा मन का रूप धारण कर लेती हैं। सेलर्स कहता है—"जीवन बाहर से लाई गई कोई अप्राकृतिक शक्ति नहीं है; बल्कि वह प्रकृति में विकसित होने वाली एक नवीन क्षमता का ही नाम है।" भौतिक प्रणाली में प्राण-शक्ति एक ऊँचे स्तर का संघटन है और मन उससे भी कुछ अधिक विकसित संघटन है; परन्तु, वे भौतिक प्रणालियों के ही दो नमूने हैं। फिर भी सेलर्स का जड़वाद पुरानी जड़वादी परम्परा से भिन्न है, जिसमें जड़ात्मक अणु यांत्रिक ढंग से गतिशील होते थे। सेलर्स की प्रणाली की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें संघटन तथा व्यवस्था पर बल दिया गया है। इसमें भौतिक प्रणाली के भीतर के सम्बन्धों का भी विशेष महत्त्व है, जिनके कारण प्रणाली एक इकाई का रूप धारण कर लेती है। भौतिक प्रणाली की नित्यता गौण है और अधिक महत्त्व उसके अपने अतिस्त्व का है। परिवर्तन केवल प्रणाली के ढाँचे में परिवर्तन है। किसी सत्ता में तात्त्विक परिवर्तन कभी नहीं होता। प्रणालियों के ढाँचों में रद्दोबदल से ही परिवर्तन परिलक्षित होता है।

यदि सम्पूर्ण विश्व की रचना पर विचार किया जाय, तो प्रकट होगा कि उसकी प्रणाली में समरूपता के स्थान पर विविधरूपता ही है। यह अनेक प्रणालियों को मिला कर बना है और प्रत्येक प्रणाली अपने संघटन द्वारा नियंत्रित है। यदि विश्व की रचना समरूपता के आधार पर होती, तो एक केन्द्र

से सभी प्रणालियों का नियंत्रण होता और इस प्रकार सभी प्रणालियाँ बाहरी नियंत्रण पर कार्य करतीं। इससे प्रकट है कि विश्व के स्वरूप में विविधता के कारण उसकी प्रणालियों में आन्तरिक नियंत्रण सम्भव हो सका है। सेलर्स तो विश्व की विभिन्न प्रणालियों के मध्य संघर्ष की भी कल्पना करता है। विश्व की विविधता से सेलर्स विभिन्न प्रणालियों की स्वतंत्रता के परिणाम पर भी पहुँचा है। विश्व के किसी एक अंग की स्वतंत्रता में वृद्धि से क्रियाओं की नई विधियाँ निकलती हैं और इस प्रकार स्वतंत्रता में और भी अधिक वृद्धि होती है। इस स्वतंत्रता के ही परिणाम-स्वरूप प्रकृति में सृष्टि की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिलता है। इस स्वतंत्रता को हमें पुराने दार्शनिकों की 'स्वतंत्र इच्छा-शक्ति' के समकक्ष नहीं रखना चाहिए; क्योंकि स्वतंत्र इच्छा-शक्ति के सिद्धान्त द्वैतवाद से प्रभावित हैं। स्वतंत्र इच्छा भौतिक प्रणाली की अंग न होकर बाहर से जोड़ी जाने वाली एक सत्ता है; परन्तु, सेलर्स की भौतिक प्रणालियों की स्वतंत्रता अन्तर्मुखी है और वह प्रणालियों में होने वाले परिवर्तनों की अभिव्यक्ति है।

हम सेलर्स के समीक्षात्मक वस्तुवाद के क्षेत्र में उसके ज्ञान, सिद्धान्त तथा उसके तात्त्विक विवेचन का परिचय प्राप्त कर चुके हैं। अब हमें यह देखना है कि इस क्षेत्र में उसने मूल्य-सम्बन्धी सिद्धान्त का योग किस प्रकार किया। सेलर्स के मूल्य-सम्बन्धी सिद्धान्त के विस्तृत अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उसका जड़वाद पुराने दार्शनिकों के जड़वाद से भिन्न था; क्योंकि उन्होंने प्रत्येक भौतिक पदार्थ को अणु-परमाणु के रूप में खंडित कर दिया था और इसलिए मूल्यों का प्रश्न उठाना ही मूर्खता थी। सेलर्स ने कहा कि हम किसी वस्तु के अच्छे, बुरे, सुन्दर, असुन्दर, उपयोगी, हानिकर आदि होने के जो मूल्य-सम्बन्धी निर्णय दे डालते हैं, वे उनकी प्राकृतिक विशेषताओं को प्रकट नहीं करते; किन्तु इसके बावजूद हमारे निर्णय अनुचित नहीं प्रतीत होते। कारण यह है कि मूल्य-सम्बन्धी मतामतों तथा अन्य निर्णयों में अन्तर होता है और दोनों अवस्थाओं में हमारे इरादे भी भिन्न होते हैं। सेलर्स के मतानुसार मूल्य-सम्बन्धी निर्णय करने में हमारा उद्देश्य मनुष्य के प्रसंग में किसी बाह्य वस्तु अथवा परिस्थिति का मूल्यांकन करना होता है। उसके विचार में मूल्य एक स्वतंत्र वस्तु की व्याख्या है। सेलर्स के समीक्षात्मक वस्तुवाद में ज्ञान व्याख्यात्मक अथवा निर्णयात्मक माना गया है और इसलिए उसकी मूल्य-सम्बन्धी मान्यता इसी पृष्ठभूमि में ठीक उतरती है। सेलर्स के विचार में व्याख्या की जाने

वाली वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि वह मनुष्य के जीवन में अथवा उसके समाज के जीवन में कुछ प्रभाव को लेकर उतर सके। दूसरे शब्दों में, मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों में जो व्याख्या होती है, उसका मानवीय होना आवश्यक है।

किसी वस्तु का मूल्यांकन उसे जानने से भिन्न कोटि का कार्य है। दृश्य-जगत् में सृजनात्मक सम्भावनाएँ जिस सीमा तक रहती हैं, उस सीमा तक मानव के प्रत्यक्ष के लिए नए विषय आते रहते हैं। अन्य भौतिक प्रणालियों की तरह ये प्रणालियाँ भी प्रत्यक्षीकरण के योग्य होती हैं। उनका मूल्यांकन भी हो सकता है अथवा उनकी व्याख्या हो सकती है। जब हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति हमें पसन्द है, तो इसका यही मतलब हुआ कि उसकी यह सही व्याख्या हुई है कि वह हमें अनुकूल अनुभव प्रदान करेगा। इस व्यक्ति का मूल्यांकन हमारे वास्तविक अनुभव अथवा सम्भाव्य अनुभव के आधार पर किया जाता है। इस उदाहरण में विषय कोई वस्तु, व्यक्ति अथवा क्रिया है, जिसका हमारे जीवन में वस्तुतः प्रवेश हो चुका है अथवा जिसके हमारे जीवन में कभी प्रवेश करने की सम्भावना है। उपर्युक्त परिस्थिति के अथवा उसकी सम्भावना के कारण ही हम कुछ निर्णय कर सके हैं; परन्तु स्मरण रखने वाली बात यह है कि उपर्युक्त निर्णय किसी मौजूदा स्थिति का परिणाम है और इस स्थिति में परिवर्तन हो सकता है। इससे प्रकट है कि मूल्य स्थिर नहीं होते और उनमें परिवर्तन सम्भव है। मनुष्य के जीवन में विभिन्न समयों में विभिन्न विषयों का प्रवेश होता है और उनके विभिन्न परिणाम होते हैं। इससे प्रकट है कि मूल्य किसी वस्तु के भीतर नहीं होता; बल्कि वह एक परिस्थिति का परिणाम है। उदाहरण के लिए, मरुभूमि में सोना मूल्यहीन है; परन्तु इसका यह भी मतलब नहीं कि मूल्य व्यक्ति-विशेष के किसी वस्तु के झुकाव पर निर्भर है। मूल्य व्यक्ति तथा परिस्थिति दोनों की सम्मिलित पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। व्यक्ति की पसंदगी अथवा नापसंदगी में परिवर्तन होने पर भी मूल्यों में कुछ परिवर्तन सम्भव है। इससे मूल्यों के क्षेत्र में अराजकता उत्पन्न नहीं होती; किन्तु व्यक्तियों की निजी विशेषताओं के परिणामस्वरूप उनमें थोड़ी कमी या अधिकता का होना सम्भव है।

# आध्यात्मिक वस्तुवाद : विलबर एम० अरबन

हमने अब तक जिन भी दार्शनिक विचारधाराओं पर विचार किया है, उनमें वस्तुवादी विचारधारा सब से अधिक विशिष्टता लिए है और वह विश्लेषणात्मक भी सब से अधिक रही है। फिर भी पैरी और सेलर्स दोनों में हमें परिकाल्पनिक विचार की तथा मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है और इस तरह वे उस दार्शनिक धारा से आप्लावित हो जाते हैं, जिसने सहस्रों वर्ष से मनुष्यों को मानसिक दुविधा में डाल रखा है। परन्तु, यह भूल जाने वाली बात नहीं है कि इन दोनों वस्तुवादियों की विचारधारा पुरानी दार्शनिक परम्परा की तुलना में व्यवहारवाद के ही अधिक निकट रही है। यद्यपि पैरी तथा सेलर्स के दर्शनों की अपनी विशेषताएं तथा अपने भेद थे, फिर भी उनके दृष्टिकोण में दो समानताएँ भी थीं। पहली बात तो यह थी कि इन विचारकों को दर्शन के प्रयोगात्मक तरीके में अन्धविश्वास था। उनके दृष्टिकोण में दूसरी समानता यह थी कि वे विश्व में मन को विशेष पद देने के लिए तैयार नहीं थे और इसीलिए वे परम्परा से चले आने वाले परिकाल्पनिक तरीके पर अविश्वास करते रहे। इन मान्यताओं का उल्लेखनीय परिणाम भी हुआ। उदाहरण के लिए, मानवीय मूल्यों पर सैद्धान्तिक विचार-विमर्श करने में उन्हें अनेक उलझनों तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यही नहीं, उन्हें धार्मिक सिद्धान्तों के दार्शनिक स्पष्टीकरण की समस्या को बिल्कुल छोड़ ही देना पड़ा। आधुनिक दार्शनिक दृष्टिकोण का शायद सब से महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उन्हें सम्पूर्ण रूप में विश्व की बोधगम्यता से इनकार कर देना पड़ा। उन्हें मानवीय अनुभव की छिटपुट घटनाओं को जोड़ कर उनसे ज्ञान की प्राप्ति का प्रयास कर संतुष्ट हो जाना पड़ा; परन्तु आधुनिक दार्शनिकों को इस विधि के कारण ही विश्व के क्रमबद्ध ज्ञान की सम्भावना से इनकार कर देना पड़ा।

हम यह बताने की आवश्यकता नहीं समझते कि आधुनिक विचारकों का

यह दृष्टिकोण इस युग के उन अमरीकियों को स्वीकृत नहीं हो सका है, जो अभी भी पुराने दार्शनिक तरीके पर कायम हैं। ये लोग प्लेटो से हीगेल तक जारी रहनेवाली परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए कृतसंकल्प हैं और दार्शनिक अनुशीलन के क्षेत्र को संकुचित करने के आधुनिक प्रयास के आगे आत्मसमर्पण करने को अनिच्छुक हैं।

परन्तु, पुरानी प्रणाली के दार्शनिकों में भी एकता का उतना ही अभाव है, जितना उनके वस्तुवादी विरोधियों के मध्य आपस में रहा है। पुरानी प्रणाली वालों में कई विचारधाराएँ चल रही हैं। फिर भी उनकी अनेक विभिन्नताओं के मध्य हमने जो उन्हें एक विशिष्ट समुदाय के बीच रखा है, उसका कारण आधुनिक दार्शनिक विचारधारा के मध्य उनकी एक मान्यता है। यह मान्यता है कि वास्तविकता अथवा यथार्थता अपने सम्पूर्ण रूप में बोधगम्य है। डार्टमथ तथा येल के एम० अरबन ने कहा है—"प्लेटो से हीगेल तक इस दार्शनिक विचारधारा में विश्व को बोधगम्य माना गया है—यही नहीं बोधगम्यता की सीमा को दृश्यजगत् तथा इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थों से परे पहुँचा दिया गया है। यह सम्भव है कि अमरीकी दर्शन के इतिहासकार 'नव्य थोमसवाद' को आधुनिक दार्शनिक प्रणालियों में सब से महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करें। मध्ययुगीय विचारक सेंट थोमस एक्वीनास की विचारधारा धार्मिक ग्रंथों से निकली थी; किन्तु 'नव्य थोमसवाद' विचारधारा धार्मिक सूत्रों से परे पहुँच गई है। 'नव्य थोमसवाद'-प्रणाली ने मौलिक तथा गम्भीर विचारकों को जन्म नहीं दिया है और इसलिए उस पर हम विस्तार से प्रकाश नहीं डालेंगे। इसके अलावा, इस ग्रन्थ का सम्बन्ध लौकिक दर्शन से मुख्यतः रहा है और इसलिए हमारे लिए अपनी निर्धारित सीमाओं से आगे जाना अनावश्यक है।

जब हम यह मान्यता उपस्थित करते हैं कि पुरानी परम्परा का सम्बन्ध भौतिक दुनिया से परे एक बोधगम्य संसार से रहा है, तो इससे यह परिणाम भी निकलता है कि संसार केवल बोधगम्य ही नहीं; बल्कि अर्थपूर्ण भी है। प्राचीन दर्शन में मूल्यों का निरंतर महत्त्व रहा है और उस विचारधारा में मूल्यांकन एक आवश्यक अंग रहा है। सच तो यह है कि मूल्य और वास्तविकता अन्योन्याश्रित रहे हैं। इस तरह आधुनिक विचारधारा से प्राचीन दार्शनिक-प्रणाली का भेद स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक दर्शन में प्रकृति ही सब कुछ है और प्रकृति नैतिक दृष्टि से निरपेक्ष है। प्राचीन प्रणाली के अंतर्गत बोधगम्यता ही वास्तविकता है और वास्तविकता मूल्यांकन से प्रभावित है। अब हमें देखना है कि विलबर

अरबन ने प्राचीन प्रणाली की अपनी व्याख्या में किस प्रकार इस विषय का प्रतिपादन किया है। उसकी व्याख्या हमें वस्तुतः वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद दोनों के परे ले जाती है।

इस मान्यता को अरबन ने स्वयंसिद्धता दृष्टिकोण ( Axiological point of view ) कहा। मानवीय मूल्यों को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक तथा जीव-वैज्ञानिक तरीकों के प्रयोग को जो सफलता मिली, उसी के परिणाम-स्वरूप नवीन मान्यता का विकास हुआ। अरबन की एक पुस्तक १९०९ में 'मूल्यांकन : उसकी प्रकृति तथा उसके नियम' ( Valuation : Its Nature and Laws ) शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में अरबन ने मूल्य-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का परीक्षण किया और जहाँ कड़ियाँ शिथिल प्रतीत हुईं, वहाँ उन्हें पुष्ट करने का प्रयास किया। विशेषकर उसने वर्णनात्मक विज्ञानों तथा प्रामाणिक विज्ञानों के मध्य की खाई को पाटने का प्रयास किया। यद्यपि इस पुस्तक का सर्वत्र स्वागत हुआ ; किन्तु अरबन को स्वयं संतोष नहीं हुआ। निकले हुए परिणाम को देख कर प्रयुक्त विधि के प्रति उसके मन में असंतोष घर करता गया। सच तो यह है कि मूल्य के सिद्धान्त का विकास जिस दिशा में इधर हुआ, उसके कारण वह पुस्तक अपने प्रकाशित होने के समय की अपेक्षा अब कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है।

यहाँ हमारा सम्बन्ध उस पुस्तक से केवल इतना ही है कि उसके प्रति असंतोष के कारण अरबन को अपनी स्थिति का नए सिरे से निर्माण कर मूल्य सिद्धान्त के अंतर्गत स्वयंसिद्धता दृष्टिकोण को महत्त्व देना पड़ा। १९२९ में उसकी पुस्तक 'बोधगम्य संसार : तत्त्व-मीमांसा तथा मूल्य' ( The Intelligible World : Metaphysics and Value ) प्रकाशित हुई। उसमें इस दृष्टिकोण का विकास किया गया कि अंततः मूल्य की व्याख्या असम्भव है, क्योंकि दूसरी वस्तुओं की सहायता से नहीं समझा जा सकता। अरबन ने कहा कि मूल्य के सिद्धान्त में उलझन मूल्य को एक गुण मानने के कारण उत्पन्न हुई है। वस्तुतः मूल्य तथा तथ्य के बीच दीवार नहीं खड़ी की जा सकती।

स्वयंसिद्धता के दृष्टिकोण पर पहुँचने के लिए अरबन ने इमेनुअल कांट के पथ पर आगे बढ़ने क प्रयास किया। कांट का कहना था कि हम मन की कतिपय मूल धारणाओं की सहायता से ही प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ; परन्तु कांट ने मूल्य-सम्बन्धी धारणाओं को विभिन्न स्तर पर रखा और कहा कि वे हमारी व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण निर्धारित होती हैं। अरबन ने तथ्य

की मूल धारणाओं तथा मूल्य की धारणाओं दोनों ही धारणाओं को शुद्ध बुद्धि ( Pure reason ) के वर्ग में लाने का प्रयास किया। उसने तथ्य तथा मूल्य के बीच की दीवार को गिरा दिया और मूल्य को भी उसने मूल धारणाओं के बीच स्थान दिया। यह स्थिति ग्रहण करने पर विभिन्न वस्तुओं तथा तथ्यों के अस्तित्व का स्पष्टीकरण करने में तो उसे कोई कठिनाई नहीं हुई ; किन्तु मूल्य की सत्ता तथा उसकी प्रकृति का निरूपण करने की उलझन बढ़ गई। उसके लिए निम्न प्रश्नों का उत्तर देना असम्भव हो गया—" मूल्य क्या है ?" अथवा " मूल्य कहाँ है ?"—वह यह सिद्ध नहीं कर सका कि तथ्यों की तरह मूल्यों की भी सत्ता है। तब अरबन स्वयंसिद्धता की मान्यता पर पहुँचा कि मूल्य अस्तित्व रहने अथवा नहीं रहने के प्रश्न से परे है। अन्य वस्तुओं की सत्ता मूल्यों की सहायता से सिद्ध होती है ; किन्तु मूल्य के सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि केवल सत्ता ही उसका प्रमाणीकरण है।

डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त तथा जेम्स के चेतनाकार्यवाद ( Functional psychology ) के कारण तत्कालीन दार्शनिक विचारधारा बहुत अधिक प्रभावित हुई थी। परन्तु अरबन को इन्हीं प्रवृत्तियों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न अपने असंतोष के कारण नई मान्यता के विकास करने की प्रेरणा मिली। उसने कहा कि इन पर मूल्यों को आधारित करने से हम एक कुचक्र में पड़ जाते हैं। हम मूल्यों को समझने के लिए उनमें प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं—हम मान लेते हैं कि जीवन का मूल्य है। दूसरे शब्दों में हम स्वीकार करते हैं कि मूल्य कोई जानी हुई वस्तु है। इस कुचक्र से बचने के लिए यह मान लेना आवश्यक है कि मूल्य एक प्राथमिक मान्यता है, जिसकी किसी दूसरी मान्यता की सहायता से न तो व्याख्या हो सकती है और न प्रमाणीकरण ही सम्भव है। अरबन का कहना है कि मूल्यों के सम्बन्ध में विचार करने की यह एक आवश्यक शर्त है। यह शर्त केवल अबौद्धिक मूल्यों पर विचार करने के लिए ही नहीं है ; बल्कि बौद्धिक मूल्यों पर विचार करने के लिए भी आवश्यक है। अरबन ने कहा कि जब भी हम मूल्यों के सम्बन्ध में अर्थपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हैं, तभी हम अप्रत्यक्ष रूप से निरपेक्ष मूल्य को स्वीकार कर लेते हैं। उसने इसे दार्शनिक बोधगम्यता का सिद्धान्त कहा। जब तक हम निरपेक्ष मूल्य का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते हैं, तब तक कोई सार्थक निर्णय देना असम्भव है।

इस सीमा तक पहुँचने पर अरबन को लगा कि उसका स्वयंसिद्धता का सिद्धान्त एक अपुष्ट आधार पर खड़ा है। समस्या यह थी कि निरपेक्ष मूल्यों की

पुष्टि होनी चाहिए ; किन्तु प्रश्न यह उठा कि उनका अस्तित्व ही नहीं है। यदि अस्तित्व नहीं है, तो उनका प्रमाणीकरण किस प्रकार सम्भव है। इस प्रकार, निरपेक्ष मूल्य के सिद्धान्त को पुष्ट आधार देने के लिए अरबन को अपनी मान्यता का विस्तार बढ़ाना आवश्यक हो गया। उसने "वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद से परे" सिद्धान्त का निरूपण ज्ञान के क्षेत्र में किया और फिर तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में भी उसका आरोप किया।

यद्यपि जेम्स की कुछ मान्यताओं के प्रति अरबन की सहानुभूति थी ; फिर भी व्यवहारवाद को उसने ठुकरा दिया। उसने कहा कि व्यवहारवाद हमारी मान्यताओं का प्रकृति से सम्पर्क छुड़ाता है। इसी प्रकार, वस्तुवादी होने का इच्छुक होते हुए भी अरबन ने नव्य वस्तुवादियों तथा समीक्षात्मक वस्तुवादियों की कटु आलोचना दार्शनिक बोधगम्यता के सिद्धान्त के सहारे की। अरबन के शब्द इस प्रकार हैं—"पहले तो विभिन्न विज्ञानों की सहायता से यह मान लिया जाता है कि भौतिक वस्तुओं की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप शरीर की प्रणाली में विषय अथवा चेतन-तत्त्व आते हैं। इसके बाद कहा जाता है कि उनमें ज्ञान का आविर्भाव होता है ; परन्तु प्रश्न है कि अपनी व्याख्या तथा विशेषता के कारण जो कार्य करने में वे असमर्थ हैं, उसे उनसे किस प्रकार कराया जा सकता है ?"

अमरीका की तत्कालीन दार्शनिक प्रणालियों से असंतुष्ट होकर अरबन अध्ययन के लिए जर्मनी गया। अपने इस अध्ययन से अरबन इस परिणाम पर पहुँचा कि अंततः ज्ञान का विश्लेषण इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि चेतनायुक्त अनेक विषय एक दूसरे से सम्पर्क कायम करते हैं। अरबन ने इस स्थिति को "वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद के परे" कहा। उसने यह भी विचार प्रकट किया कि वस्तुवाद अथवा अध्यात्मवाद के पक्ष में दिए जाने वाले तर्कों को केवल वही व्यक्ति स्वीकार कर सकता है, जो सच्चे ज्ञान की आवश्यकता अनुभव करता है। ज्ञान की समस्या मूल्यों की समस्या का अंग है और स्वयंसिद्धता के दृष्टिकोण से वस्तुवादी तथा अध्यात्मवादी दोनों ही ज्ञान के एक समन्वित आदर्श की अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार, हम वस्तुवाद के आधार पर एक अध्यात्मवादी सिद्धान्त के निरूपण की आवश्यकता अनुभव करने लगते हैं।

अरबन ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में जिस स्थिति पर पहुँचा, उसका संक्षेप उसने तीन सूत्रों के रूप में इस प्रकार किया—(१) ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया का अध्ययन विज्ञान की सहायता से सम्भव नहीं है ; क्योंकि विज्ञान स्वयं ज्ञान की प्राप्ति का प्रयास मात्र है, (२) वास्तविक ज्ञान सुलभ हो सके, इसके लिए ज्ञान का

विषय हमारे विचार से भिन्न होना चाहिए ; किन्तु मन और मन के बीच संचार आवश्यक है और इस संचार के बोधगम्य होने के लिए मूल्यों की स्वीकृति जरूरी है, और (३) ज्ञान-सिद्धान्त की स्थिति वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद के भेद से परे है और वस्तुवाद व अध्यात्मवाद दोनों सम्पर्क कायम करने की मान्यता पर तथा अर्थों और मूल्यों पर आधारित हैं, जिनकी स्वीकृति के बिना सम्बन्ध असम्भव है।

अरबन का तर्क उसे इसी सीमा तक ले जा सकता था ; किन्तु विश्व के समष्टिपूर्ण दृष्टिकोण का विकास करने की उसकी आवश्यकता की पूर्ति इससे नहीं हो सकी। उसे आधुनिक संस्कृति के विरोधाभास की तह में जाना था—एक ऐसे विरोधाभास की, जिसका असर न केवल आधुनिक दार्शनिक विचारधारा पर ; वरन् कला, धन और विज्ञान पर भी पड़ता था। अरबन ने विरोधाभास पर निम्न शब्दों में प्रकाश डाला—" यह संदिग्ध है कि वर्तमान काल-जैसा समय कभी रहा होगा, जिसमें ज्ञान की सीमाओं के इतने आगे बढ़ने के बावजूद मानव अपने को इतना कम समझ सका हो, जिसमें अनेक प्रयोजनों से युक्त होने पर वह प्रयोजनहीन रहा हो, जिसमें भ्रम से मुक्त होने पर भी वह अपने को भ्रमजाल का शिकार अनुभव करता हो। आधुनिक काल का विरोधाभास अरबन को मनुष्य के यह निश्चय करने के प्रयास में दिखाई दिया कि आखिर मानवीय मन, उसकी बुद्धि और उसकी चेतना केवल शरीर-विज्ञान की प्रक्रियाओं के परिणाम हैं अथवा उनका इनसे परे भी कोई महत्त्व अथवा स्थिति है। अरबन का झुकाव मूल्यों को महत्त्व प्रदान करने का था और उसने कहा कि आधारभूत समस्या मूल्यों को विशेष पद प्रदान करने की है। उसने कहा कि " दार्शनिकों के लिए केवल यह कह देना ही पर्याप्त नहीं है कि मूल्य हैं ; बल्कि उसे इन प्रश्नों का भी उत्तर देना होगा कि वे कहाँ हैं और किस प्रकार कायम होते हैं। "

मूल्यों को उनका पद प्रदान करने के लिए अरबन को पुरानी दार्शनिक-प्रणाली के नवीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसमें वस्तुओं की वास्तविकता तथा उनके मूल्य का सम्बन्ध उनके प्रादुर्भाव तथा अंत से जुड़ा हुआ है। यह संबन्ध इतना घनिष्ट है कि जेम्स ने कहा कि " वस्तुओं के मूल तथा उनके विनाश के प्रश्न को यदि उनके मूल्यों से अलग कर दिया जाय, तो वह प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है। " इस प्रकार, अरबन का स्वयंसिद्धता का सिद्धान्त ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र से निकल कर तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में चला जाता है। अरबन ने कहा कि " प्राचीन दार्शनिक विचारधारा में शुरू से ही मूल्यों का असाधारण महत्त्व रहा है और इसलिए उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। " यदि वास्तविकता तथा

मूल्यों को अलग कर दिया जाय, तो संसार-सम्बन्धी हमारी मान्यता न समझ में आ सकेगी और न उसका कोई महत्त्व ही होगा। विना मूल्य के हम अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते और न विना अस्तित्व के हम मूल्यों की ही स्थापना कर सकते हैं। चूंकि अस्तित्व और मूल्यों को कल्पना में एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते ; इसलिए वे वस्तुतः अलग हो भी नहीं सकते। वास्तविकता अथवा यथार्थता न पूर्णतः मानसिक है और न वह पूर्णतः जड़तत्त्व ही है, वह तो एक ऐसे क्षेत्र में है, जिसमें वास्तविकता तथा मूल्य अविच्छिन्न हैं। मूलकारण तथा अंत से अलग कर किसी भी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना असम्भव है। इस प्रकार, मूल तथा अंत से मूल्य का सम्वन्ध तोड़ना सम्भव नहीं है। मूल तथा अंत की समस्या का संतोषजनक उत्तर दिए विना दर्शन की कोई भी प्रणाली पूर्णता तथा वोधगम्यता का दावा नहीं कर सकती।

हम लिख चुके हैं कि अरवन ने अपने नए दृष्टिकोण के लिए यह दावा किया कि वह वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद दोनों से परे है। १९१७ में अरवन ने इन शब्दों को 'फिलॉस्फिक रिव्यू' पत्रिका में एक लेख के शीर्षक के रूप में रखा। १९४९ में उसने इन्हें एक पुस्तक का शीर्षक ही वना दिया। अरवन का कहना यह है कि पिछली शताब्दियों में वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद का जो झगड़ा चला है, उससे अब भी उसे वचना सम्भव है। आधुनिक विचारकों ने वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद के विरोध के प्रसंग में वुनियादी गलती यही की कि उन्होंने अनुभववादी अथवा बौद्धिक तरीकों से एक को लेकर समस्या के समाधान का प्रयास किया। अरवन ने कहा कि गुत्थी इस तरीके से नहीं सुलझ सकती ; क्योंकि वस्तुवाद अथवा अध्यात्मवाद में से कोई भी ज्ञान की ओर नहीं ले जाता। इनमें से न एक दूसरे की स्थिति का खंडन कर सकता है और न कोई अपनी स्थिति की पुष्टि ही कर सकता है। यदि सचमुच वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद एक दूसरे के विरुद्ध होते, तो तर्क अथवा अनुभव के आधार पर उन्हें सिद्ध किए अथवा नहीं किए जा सकने की स्थिति एक गतिरोध उत्पन्न कर देती। इस गतिरोध के निवारण के पक्ष में अरवन ने अपनी विचारधारा के उत्तरार्द्ध में तर्क दिया है।

वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद ज्ञान की प्राप्ति के क्षेत्र में सर्वातिशायी विधियाँ हैं, जो प्राकृतिक तरीके से भिन्न हैं। प्रकृतिवादी के सम्मुख ज्ञान की समस्या नहीं उठती। प्रकृतिवादी ज्ञान के क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं को सम्बन्धित विशेष विज्ञानों के सुपुर्द कर देता है। अरवन ने इस तरीके की तुलना वस्तुवादियों तथा अध्यात्मवादियों के सर्वातिशायी तरीके से की है। इस तरीके में पूछा जाता है कि

ज्ञान किस प्रकार सम्भव है, उसका विस्तार कहाँ तक है और उसका प्रमाणीकरण किस प्रकार होगा ? वस्तुवादी तथा अध्यात्मवादी दोनों ही ये प्रश्न उठाते हैं और अपने ढंग से उनके उत्तर उपलब्ध करते हैं। परन्तु, दोनों ज्ञान का मूल्यांकन अपने तरीके से करते हैं। दोनों मानते हैं कि मनुष्य के लिए ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है और ऐसा मानते हुए वे सत्य को मूल्य मान लेते हैं, जो जानने की प्रक्रिया आरम्भ होने से पूर्व रहता है। वास्तविक ज्ञान की प्रकृति ही ऐसी है कि वस्तुवादी तथा अध्यात्मवादी दोनों को प्राप्त करना चाहिए। अरबन का कहना है कि यह वास्तव में दुःखद तथा उपहासास्पद दोनों हैं कि दोनों ही ने एक दूसरे की विधि से ज्ञान-प्राप्ति की सम्भावना से इनकार किया है। वस्तुवादी तब तक सच्चा ज्ञान सम्भव नहीं मानता, जब तक कि ज्ञान के विषय को ज्ञाता से निरपेक्ष न माना जाय और अध्यात्मवादी तब तक ज्ञान को असम्भव मानता है, जब तक कि ज्ञान का विषय ज्ञाता के मन पर निर्भर नहीं रहेगा। ऐसे मूल्यांकन तथा वस्तुस्थिति और तार्किक दृष्टि से समर्थन के अयोग्य मान्यताओं के आधार पर वस्तुवादी तथा अध्यात्मवादी अपने ज्ञान के सिद्धान्त का निर्माण करते हैं। मूल्य-संबंधी निर्णयों के इस परस्पर विरोध के ही कारण दोनों प्रणालियों का संघर्ष होता है।

अरबन ने कहा कि तार्किक व्याख्या के द्वारा बिना अध्यात्मवाद अथवा वस्तुवाद का अर्थ निर्धारित नहीं किया जा सकता ; क्योंकि ये दोनों ही वाद स्थिर विचारधाराएँ नहीं हैं। इन दोनों वादों का ठीक अर्थ समझने के लिए उन पर एक साथ विचार करना आवश्यक है । वस्तुवाद के परिवर्तनशील रूप अध्यात्मवाद के परिवर्तनशील रूपों की प्रतिक्रियाएँ हैं और इसी प्रकार अध्यात्मवाद के परिवर्तनशील रूप वस्तुवाद के परिवर्तनशील रूपों की प्रतिक्रियाएँ हैं। विवाद तथ्यों अथवा वस्तुओं के सम्बन्ध में नहीं है। वह केवल ज्ञान के दो स्वरूपों को लेकर है। इसीलिए अरबन ने इस विवाद को द्वंदात्मक बताया है। प्लेटो से हीगेल तक द्वंदात्मक विधि की यही विशेषता है कि उसमें अयथार्थ विकल्प का निवारण कर दिया जाता है। द्वंदात्मक विधि यही है कि विरोधी विश्लेषण जिन अविश्लेषणात्मक मान्यताओं पर आधारित हैं, उन्हें पहले जान लेना पड़ता है और फिर इन मान्यताओं की जाँच करते हुए किसी ऐसे व्यापक परिणाम पर पहुँचना पड़ता है, जिसके अंतर्गत सभी विरोधी विचारों का समावेश किया जा सके। इस प्रकार अरबन इस परिणाम पर पहुँचा कि वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद के संघर्ष को मिटाने का एक-मात्र तरीका द्वंदात्मक विधि ही है।

अनुभववादी तरीके का प्रयोग भौतिक वस्तु-सम्बन्धी विवाद को मिटाने

के लिए किया जा सकता है। इसी प्रकार, एक विशेष तर्क-प्रणाली के अंतर्गत विरोधी मान्यताओं के विवादों को मिटाने के लिए बुद्धिवादी तरीके से काम लिया जा सकता है। परन्तु, जब विवाद ऐसे क्षेत्र में उठा है, जिसमें दोनों ही प्रणालियों की मान्यताएँ आती हैं, तो एक-मात्र द्वंदात्मक विधि से ही हमारा काम चल सकता है। अनुभववादी तरीके का परीक्षण अनुभववादी प्रमाणीकरण से होता है और बुद्धिवादी तरीके का परीक्षण तर्क की कसौटी पर होता है ; परन्तु जब हम द्वंदात्मक तरीके का प्रयोग करते हैं, तो उसकी सफलता के मूल्यांकन के लिए हम ऊपर वाले दोनों उपायों में से किसी का भी प्रयोग नहीं कर सकते। यदि ऐसा सम्भव होता, तो वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद के विवाद को मिटाने के लिए द्वंदात्मक विधि का प्रयोग ही एक भूल होती। द्वंदात्मक विधि की सफलता का मूल्यांकन दार्शनिक बोधगम्यता द्वारा ही हो सकता है।

अध्यात्मवाद की प्रधान मान्यता यही है कि सच्चा ज्ञान किसी-न-किसी अर्थ में मन पर निर्भर होता है। अरबन इस सिद्धान्त की तुलना पुरानी दार्शनिक विचारधारा की इस मान्यता से करता है कि बुद्धि तथा सत्ता के सम्बन्ध की ही यह विशेषता है कि सत्ता का ज्ञान सम्भव है। दूसरी तरफ वस्तुवाद की मान्यता यह रही है कि सच्चे ज्ञान को मन से निरपेक्ष रहना चाहिए। अरबन ने कहा कि इसकी तुलना पुरानी दार्शनिक विचारधारा की इस मान्यता से की जा सकती है कि सत्ता विचार से पूर्व बनी रहती है। ये दोनों मान्यताएँ परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरो की सहायक हैं। ज्ञान के बोधगम्य सिद्धान्त के लिए वे दोनों ही आवश्यक हैं। इस आधार पर अरबन ने कहा कि कोई भी विवेकशील दार्शनिक विचारधारा केवल अध्यात्मवादी अथवा वस्तुवादी नहीं हो सकती और उसे इन दोनों ही मान्यताओं का सहारा लेना होगा।

अरबन ने वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद का विवाद मिटाने का जो प्रयास किया, उसके मूल में प्रकृतिवाद के विरुद्ध उसका विरोध था। उसका मत था कि वस्तुवादियों तथा अध्यात्मवादियों को मिल कर प्रकृतिवाद का विरोध करना चाहिए। आधुनिक अमरीकी विचारधारा की विशेषता वस्तुवाद तथा प्रकृतिवाद की निकटता रही है ; किन्तु अरबन ने इसे दुरभिसंधि कहा है। अरबन ने जिस तर्कशैली का प्रयोग वस्तुवादियों के विरुद्ध अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में किया, उसी का प्रयोग बाद में उसने प्रकृतिवादियों से लोहा लेने में किया। प्रकृतिवादियों ने प्रकृति की जो व्याख्या की, उसे अरबन ने अस्पष्ट तथा संदिग्ध बताया और कहा कि इस अपुष्ट आधार पर किसी दार्शनिक प्रणाली का भवन नहीं

खड़ा किया जा सकता। उसने प्रकृतिवादी ज्ञान के सिद्धान्त को आत्म-विरोधी भी बताया। अरबन का तर्क यह था। प्रकृतिवादी मन तथा ज्ञान को प्रकृति से प्राप्त करता है ( जैसा कि विज्ञान का कहना है ) तो कम-से-कम उसे यह तो मानना ही चाहिए कि उसका अपना प्रकृति-विवरण सही है। प्रकृतिवादी की अपनी मान्यता के ही अनुसार शारीरिक प्रणाली के निकटवर्ती वातावरण के अनुकूल अपने को बना लेने की क्रिया ही सत्य है। इस प्रकार सामंजस्य स्थापित करने की किसी अन्य क्रिया से अधिक इस सत्य का महत्त्व नहीं है। इस प्रसंग में सत्य की उपयोगिता केवल इतनी ही है कि उसका अस्तित्व बना रहता है। अरबन सत्य के इस सीमित रूप से संतुष्ट नहीं हो सका और यही कारण था कि प्रकृतिवादी तर्क को उसने निरर्थक तथा सारहीन बताया। इस तरह अरबन ने "वस्तुवाद तथा अध्यात्मवाद से परे" सिद्धान्त की स्थापना के लिए अपने भूतपूर्व विरोधियों के साथ संधि करने का निश्चय किया।

# ९

# प्रकृतिवाद का उदय

# प्रकृतिवादी मनोवृत्ति

डेसकार्टीस के समय से ही दर्शन-शास्त्र की, जिसे 'आधुनिक दर्शन' भी कहा जाता रहा है, एक विशेषता यह मानी गई है कि उसका सम्बन्ध ज्ञान की समस्याओं से रहा है। अधिकांश समस्याएँ इसलिए उठ खड़ी हुई कि ज्ञाता तथा ज्ञात के विषय का भेद माना जाता रहा। जिन विरोधी मान्यताओं के कारण ज्ञान की समस्या उठती है, उनमें कुछ इस प्रकार हैं—'पुरुष' 'प्रकृति' का विरोधी है, अलौकिक लौकिक का, चेतन-तत्त्व जड़-तत्त्व का, मन शरीर का और आत्मा अनात्मा का। इन द्वैधताओं को चाहे जिस भाषा में प्रकट किया जाय, उन सभी में एक विशेषता रहती है। वे ज्ञान प्राप्त करनेवाले मन को ( साथ में मानसिक अवस्थाओं को भी ) एक कोठरी में अलग कर देती हैं और दूसरी कोठरी में दृश्यजगत् को, जिसका ज्ञान प्राप्त होना है। यही नहीं, कहा जाता है कि मन केवल उसी वस्तु को जान सकता है, जो उसकी कोठरी के भीतर है। मन को जिस जगत् को जानना है, उससे उसे बिल्कुल अलग कर दिया जाता है और कभी-कभी तो यह मान लिया जाता है कि इस अवस्था में भी वह जान सकता है। यदि मन तथा उसके अनुभवों को चेतनामय अर्थात् ज्ञान के विषय जड़-तत्त्व से भिन्न कोटि का माना जाता है, तो ज्ञान की समस्या गम्भीर रूप धारण कर लेती है और उसका समाधान कठिन हो जाता है। इस परिस्थिति में चेतना-तत्त्व तथा जड़-तत्त्व के बीच एक गहरी खाई उत्पन्न हो जाती है और फिर इस गुत्थी को सुलझाना कठिन हो जाता है कि मन-जैसी आध्यात्मिक सत्ता दृश्य-जगत् को कैसे जान सकती है, जो जड़ात्मक सत्ता है। प्रश्न यह है कि जब चेतनामय मन के रूप में 'आत्मा' को एक अलग कोठरी में रख दिया जाता है तथा 'अनात्मा' को, जिसमें दृश्यजगत् तथा अन्य मन सभी कुछ हैं, दूसरी कोठरी में रखा जाता है, तो मन अपने विचारों के परे अपनी अवस्थाओं के परे कुछ कैसे जान सकता है? इतना ही नहीं, यदि प्रकृति में परिवर्तन के निर्णायक सिद्धान्तों

को प्रकृति से परे किसी अप्राकृतिक अथवा अलौकिक क्षेत्र में रख दिया जाता है, तो हमारी उलझन और बढ़ जाती है। उस अवस्था में मन प्राकृतिक परिवर्तन के सिद्धान्तों को तो जान लेगा ; किन्तु प्राकृतिक परिवर्तनों का ज्ञान प्राप्त करने से वंचित रह जायगा।

कतिपय आधुनिक दार्शनिकों ने खुले शब्दों में द्वैधता को स्वीकार कर लिया है। उन्होंने मन तथा जड़ात्मक दृश्यजगत् का सम्बन्ध मन तथा प्रकृति के सम्बन्ध की पृष्ठभूमि में रखने का प्रयास किया है। यह हम जॉन फिस्क की विचारधारा में देख चुके हैं। फ्रांसिस वेलैंड-जैसे कुछ अन्य लोगों ने सृष्टि की ऐसी उदार कल्पना की है, जिसमें मन को ज्ञान प्राप्त करने की और जड़तत्त्व को ज्ञान का विषय बनने की क्षमता स्वाभाविक रूप में प्राप्त है। इस विचार-प्रणाली में दोनों के भेद को तो स्वीकार किया है ; किन्तु इस भेद के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाली उलझन को सुलझाने का प्रयास उन्होंने नहीं किया। अन्य लोगों ने संशय की अवस्था में पहुँच कर यह मत प्रकट कर संतोष कर लिया कि मनुष्य के लिए बाहरी दुनिया का ज्ञान प्राप्त होना सम्भव नहीं है। परन्तु, कुछ ऐसे भी दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने ज्ञाता तथा ज्ञान के विषय के पृथक्करण से उत्पन्न समस्या के समाधान के लिए जड़-तत्त्व को किसी रूप में मन-तत्त्व की स्थिति में लाने और मन-तत्त्व को जड़-तत्त्व की स्थिति में उतारने का प्रयास किया है। इस प्रयास का मतलब यह हुआ कि उसे करनेवाले ज्ञान के क्षेत्र की किसी कठिनाई से इनकार करते हैं। जिसका ज्ञान हमें प्राप्त करना है, वह यदि किसी प्रकार का मन है, तो इससे यही परिणाम निकलता है कि मन एक दूसरे को जानने की क्षमता रखते हैं। यदि ज्ञान प्राप्त करने वाला मन किसी प्रकार का जड़-तत्त्व है अथवा ऊर्जा ( Energy ) है, तो प्रश्न उठता है कि जड़-तत्त्व अपने को कैसे जान सकता है ? हम देख चुके हैं कि चार्ल्स सैंडर्स पियर्स के मतानुसार जड़-तत्त्व आदतों से घिरा हुआ मन ही है। इस अध्यात्मवादी मान्यता के अनुसार जड़-तत्त्व मन के एक रूप के अलावा कुछ नहीं है। जोनेथन एडवर्ड्स ने ( इंगलैंड में बर्कले के समान ) एक चेतनवादी स्थापना की, जिसके अनुसार मनुष्य द्वारा प्रकृति की अनुभूति को एक मानसिक घटना का रूप दिया गया। इसके विपरीत, काडवालेडर कोल्डेन तथा बेंजामिन रश ने १८वीं शताब्दी में और ऑलीवर वेंडेल होल्मस-जैसे जीव-विज्ञान का आधार लेकर मनोवैज्ञानिक स्थापना करने वाले दार्शनिकों ने १९वीं शताब्दी में मन को जड़-तत्त्व के स्तर पर उतारने का प्रयास किया। इस ढंग पर सोचने वाले विचारकों ने कहा, कि चिन्तन जड़-तत्त्व की गतिशीलता-जैसी प्रक्रिया है।

मन तथा दृश्यजगत् की द्वैधता तथा इनकी विशेषता एक दूसरे पर लागू करने की इन दोनों ही प्रवृत्तियों के प्रति विशेषकर २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अमरीकी दार्शनिक अपना धैर्य खो बैठे। इन्होंने दावा किया कि वे दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए एक नया दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ेंगे और उन्होंने अपने को प्रकृतिवादी कहने का निर्णय किया। परन्तु, साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि उनका प्रकृतिवाद न तो कोई सिद्धान्त है और न इसे किसी नई दार्शनिक-प्रणाली का ही नाम दिया जा सकता है। यह तो केवल दार्शनिक क्षेत्र का एक दृष्टिकोण, एक मनोवृत्ति तथा मानसिक अवस्था का झुकाव है। इसकी मान्यता यह है कि मनुष्य अपने अनुभव के मध्य, जिस भी वस्तु से सामना करता है, वह सब प्राकृतिक है। प्रकृति ही सम्पूर्ण वास्तविकता है। पुराने दर्शनकारों की एक मान्यता यह रही है कि एक अप्राकृतिक तथा अलौकिक शक्ति प्रकृति तथा मानव-जीवन पर हावी रहती है और उसका निर्देश करती रहती है। प्रकृतिवाद उपर्युक्त मान्यता का कट्टर विरोधी रहा है। विभिन्न प्रकृतिवादी 'ईश्वर' शब्द पर विभिन्न मात्राओं में बल देते हैं ; किन्तु जो प्रकृतिवादी दार्शनिक इस शब्द का प्रयोग करते हैं, वे उसे एक अभिनव पृष्ठभूमि में प्रयोग करते हैं। इससे उनका आशय प्राकृतिक से रहता है अथवा एक ऐसी सत्ता से होता है, जो मनुष्य की अनुभूति की सीमाओं के भीतर है। ईश्वर से प्रकृतिवादियों का तात्पर्य किसी अप्राकृतिक अथवा अस्वाभाविक शक्ति से नहीं होता, जो प्रकृतिमय संसार की नियंता हो अथवा जो मानवीय अनुभव की सीमाओं के परे हो।

यही नहीं, प्रकृतिवाद ने मन तथा द्रव्य की द्वैधता तथा इस द्वैधता के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई ज्ञान की समस्या, दोनों को अनावश्यक ठहरा दिया। यह दुविधा मनुष्य की ऐसा मान लेने की प्रकृति के कारण उत्पन्न हुई कि अपनी भाषा में जिस भी शब्द का प्रयोग हम करते हैं, उसकी अलग कोई सत्ता है। प्राचीन दर्शन मनुष्य के एक ऐसे स्वरूप-मात्र से संतुष्ट नहीं था, जिससे कतिपय कार्य करने तथा विशेष प्रकार के व्यवहार की आशा की जाती हो और जिसके ये कार्य तथा आचरण कभी भावना के क्षेत्र में होते रहें और कभी भौतिक क्षेत्र में होते रहें। प्राचीन दर्शन ने मनुष्य के व्यक्तित्व के खंड कर दिए और माना कि ये खंड अपने ढंग से अलग कार्य करते हैं। इसके बाद प्रत्येक खंड को अलग नाम दिया गया—मन, भावनाएँ, शरीर और कल्पना की गई कि इनकी अलग सत्ताएँ हैं और उनके अलग जीवन हैं। मनुष्य की यह गलत प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ी कि यह भुला दिया गया कि मनुष्य एक और सम्पूर्ण है और उसके एक अंग के दूसरे अंग से

सम्बन्ध को लेकर समस्याओं को जन्म दिया गया। यदि हम इस प्रवृत्ति को उलट दें और याद करें कि मन सम्पूर्ण मनुष्य का ही नाम है, जब वह चिन्तन करता है। भावना उस सम्पूर्ण मनुष्य का ही नाम है, जब वह भावनात्मक क्षेत्र में कोई कार्य करता है और शरीर सम्पूर्ण मनुष्य का ही नाम है, जब वह भौतिक क्षेत्र में कोई पग उठाता है। इस प्रकार, प्रकट है कि मन अथवा शरीर के सम्बन्ध में अलग सत्ताएँ मान कर उनकी क्रियाओं की अलग व्याख्याएँ जिस प्रकार हम करते हैं, उस प्रकार करने का आधार हमारे पास नहीं है। इस तरह मन और शरीर की द्वैधता अवास्तविक है। वस्तुतः एक सम्पूर्ण मनुष्य ही विभिन्न प्रकार से आचरण करता है। प्राचीन दार्शनिक प्रणालियों में द्वैधता की सृष्टि दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए की गई थी। यदि हम कतिपय वस्तुओं को विश्लेषण की सुविधा के लिए अलग कर लेते हैं, तो इस प्रकार अलग किए गए तत्त्वों को पुनः जोड़ना हमें भूल नहीं जाना चाहिए। हमें यह मानने की गलती नहीं करनी चाहिए कि जिसे हमने विचार के क्षेत्र में अलग कर लिया है, वह वास्तविक जगत् में भी अलग है।

प्रकृतिवादी दर्शन में जितना द्वैधता का विरोध किया गया है, उतना ही मन को जड़-तत्त्व तथा जड़-तत्त्व को मन मानने का भी विरोध किया गया है। यदि मनुष्य किसी वस्तु को जड़ के रूप में अनुभव करता है, तो उस वस्तु की जड़ता-सम्बन्धी विशेषता नष्ट नहीं हो सकती। किसी वस्तु के प्रथम अनुभव के बाद जब उस वस्तु का परीक्षण हम दूसरी बार करते हैं, तो हमें उसकी कुछ अन्य ऐसी विशेषताएँ ज्ञात हो सकती हैं, जिनका ज्ञान हमें अपने पहले परीक्षण के समय नहीं हुआ था। परन्तु, बाद के परीक्षण के परिणाम-स्वरूप प्रथम अनुभव से प्राप्त ज्ञान का स्वरूप नहीं बदलता। इस प्रकार, जड़-तत्त्व को मन का रूप नहीं दिया जा सकता और न मन को ही जड़-तत्त्व के रूप में बदला जा सकता है। एमहर्स्ट विद्यालय के स्टर्लिंग लेम्प्रेट ने प्रकृतिवादी दृष्टिकोण को प्रकट करते हुए लिखा है—"किसी भी वस्तु की वास्तविकता, अनुभव के द्वारा जो कुछ ज्ञात होता है, उससे कुछ अधिक हो सकती है और होती भी है। परन्तु, महत्त्वपूर्ण बात केवल इतनी ही है कि प्रत्येक वस्तु कम-से-कम उतनी तो होती ही है, जितनी वह अनुभव के द्वारा ज्ञात होती है।" जिस वस्तु के अनुभव के द्वारा हम जड़-तत्त्व अथवा मानसिक तत्त्व जानते हैं, उसकी रचना में अन्य तत्त्व भी हो सकते हैं; किन्तु इस योग के बावजूद वे वस्तुएँ जड़ अथवा मानसिक बनी रहेंगी। विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों में वास्तविकता तथा आभास के बीच जो भेद रहा है, उसे प्रकृतिवादियों ने महत्त्व नहीं प्रदान किया।

यद्यपि प्रकृतिवाद के नाम का प्रकृति से सम्बन्ध है, फिर भी पुराने दार्शनिक दृष्टिकोण के इस नए रूपान्तर का श्रीगणेश प्रकृति की नियमित व्याख्या से नहीं होता। जितनी संख्या में प्रकृतिवादी दार्शनिक हैं, प्रायः उतनी ही संख्या में प्रकृति की व्याख्याएँ भी है ; परन्तु, इन विभिन्न व्याख्याओं के बावजूद सभी प्रकृतिवादी एक मान्यता के विषय में सहमत हैं। मान्यता यह है कि विश्व में जो तथ्य दिखाई देते हैं, उनके स्पष्टीकरण के लिए प्रकृति से बाहर जाना आवश्यक नहीं है। इस मान्यता को भौतिक विज्ञान एवं जीव-विज्ञान के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप बल मिला है। प्रकृतिवाद के अंतर्गत केवल वस्तुएं ही नहीं ; बल्कि सम्बन्ध भी आते हैं। किसी प्राकृतिक विषय का विनाश अथवा अवसान जितना प्राकृतिक सम्बन्ध है, उतना ही उसका विकास भी प्राकृतिक सम्बन्ध है। मृत्यु उतनी ही प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक है, जितना जन्म। परिवर्तन उतना ही प्राकृतिक है, जितना स्थायित्व। प्राकृतिक जीवन के मूल रूप एक नियमित क्रम से जन्म लेते हैं, बढ़ते हैं, क्षीण होते हैं और अंत में मृत्यु अथवा विनाश को प्राप्त होते हैं। यह क्रम प्रकृति का उतना ही अभिन्न अंग है, जितना कि प्राकृतिक सम्बन्ध और जितने प्राकृतिक सम्बन्ध प्रकृति के अंग हैं, उतने ही मूल-तत्त्व भी हैं। प्राकृतिक प्रणाली आत्मभरित, आत्मनिर्भर तथा अपनी व्याख्या आप करने वाली है। प्रकृति में परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील दोनों हैं। मूल-तत्त्व, सम्बन्ध तथा क्रम स्थाई हैं और वस्तुएँ, घटनाएँ तथा रूप अस्थाई एवं परिवर्तनशील हैं।

मनुष्य भी प्रकृति का अंग है। मनुष्य के सभी रूप तथा सभी अवस्थाएँ प्रकृति के अन्तर्गत आती हैं। मनुष्य का जन्म एक प्राकृतिक घटना है। उसका जीवन एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। मानव का क्षीण होना तथा उसकी मृत्यु होना उन मूल-तत्त्वों का नए सिरे से योग है, जिन्हें मिलकर वह बना है। मनुष्य के जीवन की किसी अवस्था को चाहे जो नाम दिया जाय ; किन्तु है वह प्रकृति के ही अन्तर्गत। जब हम मनुष्य के आत्मा की चर्चा करते हैं, तो हमारा आशय मनुष्य के प्राकृतिक आचरण की एक विशेषता से होता है। परन्तु, हम मनुष्य की आत्मा को 'अमर' नहीं कह सकते ; क्योंकि यह कथन उसे प्रकृति की परिधि से बाहर ले जाता है। इस प्रकार, प्रकृतिवाद, विरोधाभास के बिना अथवा मानवीय अनुभव को विकृत किए बिना, विश्व की बोधगम्य व्याख्या करता है।

नए प्रकृतिवाद के अन्तर्गत प्रकृति की सैद्धान्तिक ढंग से व्याख्या नहीं की गई है। प्रकृतिवाद की सब से बड़ी विशेषता यही है कि यह वैज्ञानिक तरीके को प्रधानता देता है और वैज्ञानिक तरीके के सिवा अन्य किसी विधि को वह

स्वीकार नहीं करता। वैज्ञानिक तरीके से प्राप्त ज्ञान ही प्रकृतिवादी को स्वीकार्य है। जिस प्रकार वैज्ञानिक तरीकों को अपनाने से वाह्यजगत् के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान में तथा हमारे द्वारा उसके उपयोग में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है तथा अन्य मनुष्यों के प्रति हमारे सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा है, उसी प्रकार प्रकृतिवादियों का विश्वास है कि ज्ञान के जिन क्षेत्रों में अभी वैज्ञानिक तरीकों का प्रवेश नहीं हुआ, उनमें उनका प्रयोग करने से और विशेषकर मानवीय सम्बन्धों के क्षेत्र में उनका प्रयोग करने से बड़ी तेजी से उन्नति होनी सम्भव है।

प्रकृतिवाद ने अलौकिकवाद के विरुद्ध जो जिहाद उठाया, उसके पीछे दर्शन के क्षेत्र में वैज्ञानिक तरीकों के प्रवेश के विरुद्ध संघटित विरोध का इतिहास है। जॉन डिवी ने कहा है कि "प्रकृतिवाद के विरोधियों ने विज्ञान को अपना कार्य पूरा करने से तथा सभी रचनात्मक सम्भावनाओं को यथार्थ रूप देने से रोक रखा है।"[१] डिवी ने जिस विज्ञान की चर्चा की, उसका सम्बन्ध विज्ञान की किसी विशेष शाखा से होना आवश्यक नहीं है। प्रकृतिवादियों में विज्ञानों के अध्ययन को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है; किन्तु वे अनेक मानवीय अनुभवों के बीच इसे भी रखते हैं। वैज्ञानिक तरीके के प्रयोग की चर्चा प्रकृतिवादी केवल इसीलिए करते हैं; क्योंकि वे बौद्धिक अनुशीलन को महत्त्व प्रदान करते हैं। दार्शनिक प्रकृतिवाद का विषय प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाला सब कुछ है और मानव अपने अनुभव द्वारा इस सब कुछ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुष्य घृणा का अनुभव कर सकते हैं, वे गिरती हुई वस्तुओं का अनुभव कर सकते हैं, वे भ्रम का अनुभव कर सकते हैं, वे आणविक विखंडन का अनुभव कर सकते हैं, वे स्वप्नों का अनुभव कर सकते हैं और वे मिश्रित पेयों का अनुभव कर सकते हैं। चूँकि मनुष्य इन सभी तथा इनके अलावा अनेक वस्तुओं का अनुभव कर सकते हैं; इसलिए प्रकृतिवादी दार्शनिक के लिए वे सभी अध्ययन के विषय हैं। प्रकृतिवादियों के वैज्ञानिक तरीके की सब से बड़ी विशेषता यह होती है कि वह तरीका सार्वजनिक होता है। इस तरीके की कोई प्रकृतिवादी दार्शनिक चाहे कैसी ही व्याख्या क्यों न करे; किन्तु इस तरीके का सार्वजनिक निरीक्षण तथा प्रमाणीकरण के लिए खुला रहना, सब से अधिक आवश्यक है। इसी कसौटी पर कसने के कारण प्रकृतिवादी दार्शनिक विशुद्ध रहस्यवादी आत्मनिष्ठ अथवा अन्तः अनुभूति-

---

१. Yervant H. Krikorian, editor : Naturalism and the Human Spirit.

पूर्ण विधियों को दार्शनिक ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए अस्वीकार कर देते हैं। इसी प्रकार, प्रकृतिवादी दार्शनिक शास्त्रीय आधार पर स्वीकृत मान्यता को अथवा विश्वास की बुनियाद पर खड़े किए गए विचार को प्रमाणीकरण के अभाव में ठुकरा देते हैं। मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों को लेकर प्रकृतिवादियों में एक हलका विवाद छिड़ गया है। जहाँ एक वर्ग के प्रकृतिवादी मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों को निजी मत कह कर मान्यता प्रदान करने को तैयार नहीं हैं, वहाँ दूसरे मतावलम्बियों का कहना है कि मूल्य-सम्बन्धी निर्णय सार्वजनिक मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत रहते हैं और इसलिए प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से उन पर आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इसके अलावा, प्रकृतिवादी विचारक मन को भौतिक शरीर के भीतर एक अभौतिक यंत्र के रूप में मान्यता प्रदान नहीं करते। उनके विचार में यह मानव-प्रणाली के कतिपय विशेष प्रकार के व्यवहार अथवा आचरण का नाम है। मन-सम्बन्धी इस मान्यता को जहाँ तक स्वीकार किया जाता है, वहाँ तक मानसिक जीव-वैज्ञानिक तथा भौतिक व्यवहारों के मध्य कोई बड़ा अन्तर नहीं रह जाता। परन्तु, फिर भी मानसिक क्रियाओं को जीव-वैज्ञानिक तथा भौतिक आचरणों के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। मानसिक ढंग के आचरण का, आचरण के पूर्व स्वरूपों से विकास होता है। मानसिक क्रिया प्रकृतिवाद में विकासवादी विरासत मानी जाती है। जिस प्रकार विकासवाद के क्षेत्र में जीवन-तत्त्वों से जीवन का विकास होता है, उसी प्रकार मन का विकास अमानसिक तत्त्वों से होता है। जिस प्रकार अप्राण और सप्राण की सीमा निर्धारित करना कठिन है, उसी प्रकार यह कहना कठिन है कि मानसिक आचरण का किस स्थल से आरम्भ हो जाता है; परन्तु विकसित अवस्था में मानसिक व्यवहार तथा आचरण की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह उद्दीपन के लक्षणों के रूप में प्रकट होता है। मानसिक व्यवहार में उद्दीपन के भावी परिणामों का पूर्वाभास मिल जाता है। मन की विशेषता यही है कि उसके विषय अर्थपूर्ण होते हैं; परन्तु जॉन डिवी की मान्यता यह है कि अर्थ प्राकृतिक घटनाओं की प्राकृतिक विशेषता ही है। इससे यह परिणाम निकलता है कि डिवी के विचार में मन एक सीमा तक वस्तुनिष्ठ होता है और चिन्तन की प्रक्रिया अथवा तर्क-शास्त्र मनुष्य को वस्तुनिष्ठ अर्थों तथा तर्कसंगत सम्बन्धों की ओर ले जाता है।

डिवी की इस मान्यता तक अधिकांश प्रकृतिवादी बढ़ने को तैयार नहीं हैं। तर्क-शास्त्र के पंडित जानते हैं कि तर्क-शास्त्र विचार-पद्धति से आगे नहीं बढ़ता। कोलम्बिया विश्वविद्यालय के अध्यापक, अर्नेस्ट नगेल का कहना है कि तर्क-शास्त्र

के सिद्धान्तों से वस्तुओं के ढांचे अथवा उनके आन्तरिक स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता। दूसरे शब्दों में, तार्किक प्रक्रियाओं को विशिष्ट भौतिक तथा जीव-वैज्ञानिक क्रियाओं का प्रतीक नहीं माना जा सकता। सत्य तो यह है कि तर्क-शास्त्र की विभिन्न प्रणालियों का उद्देश्य भाषा में सुस्पष्टता तथा अर्थ-गाम्भीर्य्य ही लाना है। तर्क-शास्त्र की किसी प्रणाली का चुनाव इस आधार पर किया जाता है कि हमारा उद्देश्य क्या है। तर्क-शास्त्री के उद्देश्य की यह व्याख्या उसे वैज्ञानिक प्रणाली के बिल्कुल निकट पहुँचा देती है।

प्रकृति की सामान्य विशेषताओं को उसके तात्त्विक वर्ग ( Categories ) कहा जाता रहा है। किसी भी क्षेत्र में मान्यताओं की स्थापना तथा उनका विश्लेषण दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता रहा है। विभिन्न प्रणालियों में इस प्रश्न को लेकर मतभेद है कि मूल सिद्धान्तों की स्थापना और उनके विश्लेषण के बीच दर्शन के लिए अधिक महत्त्व किसका है। कुछ लोग कहते हैं कि दर्शन का उद्देश्य जितना अस्तित्व का अध्ययन नहीं है, उतना उस भाषा का अध्ययन है, जिसमें लोग अस्तित्व की चर्चा करते हैं। अन्य लोग कहते हैं कि मूल सिद्धान्तों का विश्लेषण ही नहीं ; बल्कि उनकी स्थापना भी दर्शन का ही कार्य है।

प्रकृतिवादी दर्शन की प्रमुख मान्यताओं पर जब हम विचार करते हैं, तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रकृतिवाद के क्षेत्र में जिन विचारकों का झुकाव जड़वाद की तरफ अधिक है, वे प्रकृति के मूल तत्त्वों की व्याख्या द्रव्य, गति तथा शक्ति के रूप में करते हैं और इस प्रकार की व्याख्या करने में वे मानवीय मूल्यों की उपेक्षा कर जाते हैं। इसके विपरीत अन्य प्रकृतिवादी 'घटनाओं', 'गुणों' तथा 'सम्बन्धों' को ही प्रकृति के मूल-तत्त्व मानते हैं। इस विचार के लोगों में एक हैं केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के विलियम आर० डेनीस। विभिन्न प्रकृतिवादियों ने विभिन्न मान्यताओं पर जो अधिक जोर दिया, उसका कारण इन लोगों की विभिन्न रुचियाँ ही हैं। यदि कतिपय प्रकृतिवादियों की रुचि भौतिक विज्ञान तथा गणित में अधिक रही है, तो अन्य प्रकृतिवादियों की रुचि जीव-विज्ञान तथा समाज-शास्त्र-जैसे विज्ञानों में अधिक रही है। इस अध्याय के अगले खंडों में हम प्रकृति के रचनात्मक स्वरूप तथा उसकी क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाले मोरिस रैफेल कोहन तथा जॉन डिवी के विवेचनों की बानगी देखेंगे। परन्तु, इधर नए प्रकृतिवादियों ने प्रकृति के इस अंग पर बल देना कुछ कम कर दिया है ; क्योंकि भौतिक विज्ञान के परिवर्तनों ने परिस्थिति में कुछ अन्तर ला दिया है। इस विवाद का एक परिणाम यह हुआ है कि प्रकृतिवादियों ने प्रकृतिवाद

की विभिन्न मान्यताओं को उनकी उपयोगिता के अनुसार महत्त्व प्रदान करना शुरू कर दिया है और इस प्रसंग में तर्क की आवश्यकताओं का स्थान अपेक्षाकृत गौण हो गया है।

यद्यपि इधर प्रकृतिवादियों ने जड़वादी मान्यताओं की अपेक्षा गतिशील मान्यताओं को अधिक महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति दिखाई है ; फिर भी प्रकृतिवाद के विरोधी अभी तक इसे जड़वाद-प्रधान ही मानते हैं। उनका कहना है कि प्रकृतिवादी दर्शन में नैतिक तथा सौन्दर्यबोधक मान्यताएँ नहीं रखी जा सकतीं ; क्योंकि प्रकृतिवादी दर्शन भौतिक तथा द्रव्यात्मक झुकाव रखता आया है और वह चेतना से दूर भागता रहा है। प्रकृतिवादी इसका यही उत्तर दे सकता है। उसने अपने दर्शन में 'आध्यात्मिक' तथा भौतिक और तथ्य तथा मूल्य दोनों के प्रति समान रूप से न्याय करने की चेष्टा की है। मनुष्यों के लिए अनुभववादी मूल्यों तथा तथ्यों का समान महत्त्व है। मानव के लिए घटनाओं के स्तर तथा उनके उद्देश्य उतने ही प्राकृतिक हैं, जितने उनके कारण, उनके दिक्-काल-सम्बन्ध और जितनी वे घटनाएँ स्वयं प्राकृतिक हैं। सच तो यह है कि प्रकृतिवाद के विरोधी ही तथ्य तथा मूल्यों के बीच रेखा खींच कर एक असमान स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। मानव के अनुभवों में जब तक प्रयोजन रहेगा, तब तक वह भी प्राकृतिक कहा जायगा। प्रयोजन को हम चाहे जिस कोटि में रखें ; किन्तु यदि किसी प्रयोजन को सिद्धि के योग्य माना गया, तो वह अनुभवगम्य और प्राकृतिक ही होगा। यदि कोई प्रयोजन प्राप्य है, तो इसका अर्थ है कि किसी-न-किसी उपाय से उसकी प्राप्ति सम्भव है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्रयोजन प्राकृतिक घटना की एक प्राकृतिक विशेषता है। इसी प्रकार की जाँच से यह भी प्रकट होता है कि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का आविर्भाव प्राकृतिक संदर्भ में होता है और इसलिए वे भी मानवीय अनुभव की विशेषताएँ हैं। परन्तु, यह स्मरण रखने की बात है कि प्राकृतिक दार्शनिक की इस मान्यता से कि प्रयोजन और मूल्य प्राकृतिक हैं, यह संकेत नहीं मिलता कि बाह्य प्रकृति नैतिक है अथवा प्रकृति चेतन रूप से प्रयोजन को अग्रसर करती है। कोई यह कह सकता है कि बीज का प्रयोजन पुष्प के रूप में विकसित होना है ; किन्तु कोई यह नहीं कह सकता है कि बीज का प्रयोजन सुन्दरी को अलंकृत करना है। मानवीय उद्देश्यों, मानवीय निर्णयों तथा मानव उसे किस प्रयोग में लाते हैं, इन सब के प्रति प्रकृति निरपेक्ष है। ज्वालामुखी इसलिए नहीं उफनता कि उसकी ढालों पर रहने वाले पापी हैं, दुर्भिक्ष इसलिए नहीं आता कि किसी देश के निवासी क्रान्ति का जघन्य कृत्य कर चुके

हैं और वर्षा न्यायी-अन्यायी सब को एक-जैसा लाभ पहुँचाती है। इसके विपरीत धारणा बनाना मनुष्य के अनुभव के विरुद्ध होगा। प्रकृतिवादी दर्शन में प्रयोजन तथा मूल्यों के लिए स्थान तो है; किन्तु उनका विशेष पद नहीं है।

यह दृष्टिकोण दर्शन की प्राचीन प्रणालियों के अनुरूप है। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादक अपने पक्ष में अरस्तू तथा स्पिनोजा का हवाला देते हैं और कहते हैं कि आधुनिक प्रकृतिवाद के वही अग्रदूत थे। इसके विरोधी-जड़वाद से जो उसका सादृश्य है, उस पर जोर देते हैं। सच तो यह है कि पुराने दार्शनिकों में प्रकृतिवादी विचारों की शुरुआत हो चुकी थी। आज के प्रकृतिवादी दर्शन के प्रमुख इतिहासकार हैं। इन लोगों ने प्राचीन विचारकों की दार्शनिक अन्तर्दृष्टि से प्रेरणा ग्रहण की है और उसे प्रकृतिवाद की भाषा में नए ढंग से उपस्थित कर दिया है। चांसी राइट, फ्रांसिस एलिंगवुड एबट तथा उनके अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध दर्शनकार एडमंड मोंटगुमरी तथा एडवर्ड ड्रिन्कर कोप का विकासवादी प्रकृतिवाद उन मान्यताओं के बिल्कुल निकट पहुँच चुका था, जिसे हम आधुनिक प्रकृतिवाद कहते हैं। यह भी स्पष्ट है कि कतिपय नए वस्तुवादी तथा समीक्षात्मक वस्तुवादी भी नए प्रकृतिवाद के निकट पहुँच गए थे और व्यवहारवाद ने भी आधुनिक प्रकृतिवाद के विकास में कुछ कम योगदान नहीं दिया। यह भी कहा जा सकता है कि शास्त्रीय ढंग के अध्यात्मवाद के विरुद्ध विद्रोह की प्रारम्भिक तथा अपरिपक्व प्रवृत्तियों को भी नए प्रकृतिवाद के मध्य प्रश्रय मिल गया। इस अध्याय के शेषांश में तीन विभिन्न प्रकार के प्रकृतिवाद पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम जार्ज सांतायन का संकोचशील तथा काव्यमय प्रकृतिवाद, जिसे आत्मा के क्षेत्र में विचरण करने से प्रेम था। दूसरा मोरिस राफेल कोहन का प्रकृतिवाद है। अंतिम जॉन डिवी का प्रयोगात्मक प्रकृतिवाद है। अमरीका के अनेक युवा प्रकृतिवादियों ने इन्हीं से शिक्षा प्राप्त की है और इसलिए इन तीनों के तीन स्पष्ट दृष्टिकोणों से युक्त दार्शनिक विचारधारा का दिग्दर्शन करा देना हम आवश्यक समझते हैं।

# काव्यात्मक प्रकृतिवाद : जार्ज सांतायन

जिन दिनों विकासवादी सिद्धान्त पर बहस पूरे जोरों में थी, उन्हीं दिनों कुछ ऐसे दार्शनिकों की विचारधारा का विकास हुआ, जिन्हें भावना के स्तर पर एक आन्तरिक संघर्ष का सामना करना पड़ा। जिस दार्शनिक अध्यात्मवाद के प्रति उनका मानसिक झुकाव था, उसे उन्हें अनिच्छापूर्वक ठुकरा देना पड़ा और जिस प्रकृतिवादी स्थिति के प्रति उनका आकर्षण नहीं था, उसे उन्हें स्वीकार कर लेना पड़ा। इन अनिच्छुक प्रकृतिवादियों में कुछ ने विकासवादी प्रकृतिवाद को दूने जोश के साथ ग्रहण किया और इस प्रकार उन्होंने अपने भावनात्मक वैषम्य की क्षतिपूर्ति का प्रयास किया।

जार्ज सांतायन केवल अपनी मानसिक प्रवृत्ति के कारण ही नहीं ; बल्कि अपनी जीवन की पृष्ठभूमि के कारण भी ऐसे ही प्रकृतिवादी दार्शनिकों में था। वह स्पेनवासी था और प्रारम्भिक शिक्षा के बाद अपनी आगे की शिक्षा प्राप्त करने के लिए बोस्टन आ गया था। उसका जन्म एक रोमन कैथलिक परिवार में हुआ था और उसकी मानसिक प्रवृत्ति भी इस ईसाई-सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुकूल थी। परन्तु, सांतायन के पिता तथा नाना ईश्वर के प्रति अश्रद्धालु थे और उसकी माता की धार्मिक आस्था आडम्बर से अधिक नहीं थी। इसके ऊपर जिन अमरीकी सम्बन्धियों के साथ वह बहुत दिनों तक रहा, वे प्रोटेस्टैंट थे। यद्यपि सांतायन की दिलचस्पी अमरीकी शिक्षा में अधिक नहीं थी ; फिर भी सांतायन के जीवन का क्रियाशील भाग हारवर्ड में अध्यापन करते हुए व्यतीत हुआ। सांतायन अपने को कवि मानता था और उसके कुछ गीत सचमुच अमरीकी काव्य के रत्न हैं ; किन्तु सच तो यह है कि सांतायन की प्रतिभा के जिस अंग की सबसे अधिक सराहना हुई, वह दार्शनिक ही था।

सांतायन की रुचि अन्त तक मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ आदर्श सत्यं, शिवं, सुन्दरं के

प्रति बनी रही। उनकी मुख्य दिलचस्पी नैतिक दर्शन में थी। इसका तात्पर्य सांतायन के लिए यह हुआ कि एक चिन्तनशील व्यक्ति को, जो अपने जीवन की परिस्थितियों को समझता है, अपनी व्याख्या के अनुरूप जीवन की सभी विभूतियों का निरीक्षण करना चाहिए। सांतायन को अपने दार्शनिक जीवन के प्रारम्भ में ही यह बोध हो गया कि इन आदर्शों पर उनकी पृष्ठभूमि को अलग करके विचार नहीं किया जा सकता। इस पृष्ठभूमि तक पहुँचने पर सांतायन ने अनुभव किया कि यह प्राकृतिक ही है। उसने सत्यं, शिवं, सुन्दरं के सम्बन्ध में प्राणी की प्रकृतिवादी सत्ता को और ज्ञान के सम्बन्ध में वस्तुवादी मान्यता को प्रश्रय दिया। प्रकृति स्वयं मानवीय आदर्शों की सृष्टि करती है और मनुष्य प्राकृतिक रूप से सजे गए आदर्शों की प्राप्ति के लिए ही प्रकृति का नियंत्रण करता है। प्रकृति तथा आदर्शों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में सांतायन के आदर्शों का संक्षेप हमें उसके द्वारा वर्णित अरस्तू के विचारों में मिलता है। सांतायन का मत है कि सभी आदर्श मौलिक रूप से प्राकृतिक हैं। उसके अनुसार, नैतिक दर्शन सब मानवीय प्रयासों का मूल्यांकन है, जिसमें स्वयं दर्शन भी सम्मिलित है। प्रकृति इन मूल्यों का निर्देश करती है और मानवीय प्रयास के द्वारा उन्हें प्राप्त किया जाता है। नैतिक दर्शन में इतनी आस्था रखने तथा आदर्शों का मूल प्रकृति में स्वीकार करने के बावजूद सांतायन किसी भी अमरीकी दार्शनिक की अपेक्षा इस बात पर अधिक जोर देता है कि प्रकृति नैतिक दृष्टि से निरपेक्ष है।

सांतायन के मतानुसार मानवीय मूल्यों की पृष्ठभूमि प्रकृतिवाद में ही हो सकती है। मानव के साहस, उसके विवेक तथा उसकी कल्पना की ठोस नींव प्रकृति में ही पड़ना सम्भव है। परन्तु, एक बार इस नींव के सुदृढ़ हो जाने पर मानवीय साहस, मानवीय विवेक तथा मानवीय कल्पना का मार्ग निष्कंटक हो जाता है। ये मानवीय गुण अपनी कनवास पर इच्छा के अनुकूल चित्र उतारने के लिए स्वतंत्र हैं। सांतायन ने अपने आत्म-चरित में बताया है कि एक तरफ मानव की जड़ प्रकृति में जमाए रखने और दूसरी तरफ नैतिक भावना के प्रति आस्था रखने और फिर इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय करने की प्रेरणा उसे यूनानी दार्शनिकों तथा स्पिनोजा से मिली है। यूनानी दार्शनिकों तथा स्पिनोजा में प्रकृति तथा विवेक के प्रति जो दोहरी आस्था थी, उससे सांतायन को इस मान्यता के लिए प्रेरणा मिली कि मानवीय मन को सभी कालों तथा सभी स्थानों में खुलकर खेलने की आजादी मिलनी चाहिए। "दर्शन का उद्देश्य सभी विज्ञानों तथा कलाओं का समन्वय संतुलित मन से करना है, जिससे प्रकृति तथा मानव

का अधिक-से-अधिक सच्चा चित्र प्राप्त हो सके।"[1] दर्शन एक ऐसा निरपेक्ष दृष्टिकोण है, जिसका विकास वही व्यक्ति कर सकता है, जो किसी काल में उत्पन्न होकर भी उस काल का अंग नहीं बन चुका है और जो काल के घात-प्रतिघातों के प्रभाव से अपने को मुक्त रख सका हो। सांतायन ने स्वयं स्वीकार किया है कि वह इसी प्रकार का निरपेक्ष दर्शक है। जिस बौद्धिक जगत् में सांतायन था, वह बौद्धिक स्तर पर उससे घृणा करता था। वह इसे एक 'मानसिक चिड़ियाघर' कहता था। सांतायन ने कहा कि वह इस चिड़ियाघर में पिंजड़े के बाहर खड़े एक दर्शक की भाँति है, पिंजड़े के भीतर बन्द कोई जानवर नहीं। यही कारण था कि सांतायन अपने समकालीन दार्शनिकों से मिलने की अपेक्षा उनके ग्रन्थों को पढ़ना ही ठीक समझता था।

इस निरपेक्ष तथा भावुकता से रहित दृष्टिकोण से सांतायन इस परिणाम पर पहुँचा कि मनुष्य जैसा जीवन व्यतीत करते हैं, वह सिर्फ एक पागलपन है। परन्तु, सांतायन ने कहा कि पागलपन अप्राकृतिक नहीं है; बल्कि एक सीमा तक वह साधारण पागलपन भी होता है। इसके पहले कि हम साधारण पागलपन का अर्थ करें, हमें यह समझ लेना चाहिए कि सांतायन ने पागलपन को प्राकृतिक क्यों कहा। उसने कहा है कि कोई वस्तु जैसी है और जैसी वह दिखाई देती है, इसके बीच कभी-कभी मनुष्य एक ही भाषा का प्रयोग कर गलती कर डालता है। सांतायन के मत में पागलपन शब्द का प्रयोग हम तीन तरीकों से कर सकते हैं। प्रथम, इसे हम एक विशेष प्रकार के आचरण का वर्णन करने के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं। हम मन के कतिपय भ्रमों को भी पागलपन कहते हैं। इसके अलावा पागलपन शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के आचरण के प्रति निन्दात्मक भाव प्रकट करने के लिए भी कर सकते हैं, जिससे हमारा मतभेद हो। हमारा निर्णय मुख्यतः इस बात को लेकर होता है कि सम्बन्धित व्यक्ति का आचरण असाधारण अथवा समाज के प्रचलित तरीकों से कुछ भिन्न होता है। हम प्रकृत तथा असाधारण में ठीक तरह भेद नहीं कर पाते, इसलिए हम पागलपन को एक अप्राकृतिक मानसिक अवस्था कह डालते हैं, गोकि उस व्यक्ति का आचरण असाधारण ही होता है, अप्राकृतिक नहीं। सच तो यह है कि अप्राकृतिक आचरण होता ही नहीं, चाहे कोई कार्य भ्रम की स्थिति में किया गया हो अथवा सनकीपन की स्थिति में। "ऐसे कार्य प्रकृति के विरुद्ध नहीं होते, वे अधिकांश लोगों की आदत के

---

१. George Santayana : The Middle Span.

विरुद्ध अवश्य होते हैं।"[1] सच तो यह है कि रोग मृत्यु के जितना ही प्राकृतिक है और मृत्यु भी उतनी ही प्राकृतिक है जितना कि जीवन। मनुष्य की कल्पना ही किसी प्राकृतिक घटना पर भव्यता और सौन्दर्य अथवा भयानकता और भीषणता का आरोप करती है। प्रकृति इनमें से किसी भी विशेषता की अनुभूति नहीं रखती, क्योंकि वह निरपेक्ष है।

दुनिया में यदि किसी बात के सम्बन्ध में सब से अधिक भ्रम फैला हुआ है, तो वह यही है कि प्रकृति नैतिक है। राल्फ वाल्डो इमर्सन ने कहा था कि साधारण कीड़े से लेकर हरक्यूलीज तथा प्राणिजगत् के सभी कार्य मनुष्य को सत् और असत् की चेतावनी देते हैं, किन्तु सांतायन इमर्सन के इस कथन से सहमत नहीं था। इसका अर्थ यही हुआ कि परमाणुओं की एक व्यवस्था उनकी दूसरी व्यवस्था से अथवा भावनाओं का एक संयोग दूसरे संयोग से उत्तम है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति का एक नैतिक दृष्टिकोण है। सांतायन ने कहा कि प्रायः प्रत्येक प्राणी ऐसा विश्वास करता है; किन्तु सत्य तो यह है कि यह विश्वास ही पागलपन है। यह साधारण पागलपन है और इतना अधिक कि एक विवेकशील दार्शनिक जो इस भ्रम से मुक्त है, उसका विचार ही असाधारण जान पड़ेगा। इस प्रकार, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रकृति मानवीय मूल्यों के प्रति उदासीन है; किन्तु ये मूल्य प्रकृति पर आधारित हैं और प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। यही नहीं, प्रकृति इस विषय में भी निरपेक्ष है कि मनुष्य उसके प्रति क्या रुख धारण करते हैं। मानवीय मूल्यों का विकास प्रकृति के वैज्ञानिक अध्ययन का रूप धारण कर सकता है अथवा वह प्रकृति के प्रति काव्यात्मक अनुभूति का विकास कर सकता है। प्रकृति को इस बात की चिन्ता नहीं कि मनुष्य सत्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है अथवा सौन्दर्य की अनुभूति के लिए आकांक्षित है। दोनों ही प्रकृति की सहायता से अपना विकास कर सकते हैं; किन्तु प्रकृति को इसकी चिन्ता नहीं है कि वे ऐसा करते भी हैं अथवा नहीं। सांतायन का विश्वास था कि दोनों मार्ग लक्ष्य की तरफ ले जाते हैं और उसने कविता का मार्ग ही अपने लिए चुना था। विशेषकर उसकी पिछली कृतियाँ कविता के रूप में ही सामने आईं।

परन्तु, हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि सांतायन अपना कार्य उन तथ्यों से आरम्भ करता है, जो मनुष्य की आँखों के सामने हैं। उसके विचार में विभिन्न

---

१. George Santayana : Dialogues in Limbo.

दार्शनिक प्रणालियों की अपेक्षा साधारण विवेक द्वारा ज्ञान की समस्या का समाधान निकालना कहीं अधिक सुगम है। दार्शनिक लोग आधे तथ्यों तथा आधी कठिनाइयों को नजरंदाज कर देते हैं और किसी छोटी-सी बात को लेकर उसी में समस्या के समाधान की कुंजी खोज निकालने का प्रयास करते हैं। दूसरे शब्दों में सांतायन ने ज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों को दोषपूर्ण पाया और यह मान्यता स्थापित की कि साधारण अनुभव के आधार पर ही ज्ञान के अर्जन की समस्या का समाधान सम्भव है। इस अनुभव को ही उसने प्राकृतिक कहा है। दैनिक तथ्यों को माया अथवा आभास की संज्ञा देकर समझाने का प्रयास सांतायन ने नहीं किया। वह परमाणुओं की व्यवस्था तथा भावनाओं के संयोग दोनों को ही प्राकृतिक मानता है। विचार, आदर्श तथा मान्यताएँ उसी प्रकार प्राकृतिक तथ्य हैं, जिस प्रकार पत्थर, सितारे अथवा ऋतुएँ हैं। हम प्राकृतिक संसार की मान्यता को लेकर आगे बढ़ते हैं और ज्ञान की समस्या केवल यही है कि हम उसके सम्बन्ध में और अधिक जानना चाहते हैं। प्रकृति की जाँच चाहे जितनी गहराई में की जाय ; किन्तु निरीक्षण का तरीका साधारण से असाधारण नहीं होना चाहिए। सांतायन वैज्ञानिक तरीके को भी साधारण निरीक्षण का एक परिष्कृत रूप ही मानता था।

सांतायन की पुस्तक १९०५–१९०६ में ५ जिल्दों में 'विवेक का जीवन' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इसमें लेखक की प्रकृतिवादी विचारधारा पर भली भाँति प्रकाश पड़ता है। यह लगभग एक पीढ़ी के विद्यार्थियों के लिए प्रकृतिवाद पर सब से महत्त्वपूर्ण पाठ्यग्रन्थ रही। इसमें सांतायन ने एक प्रकार से सभ्यता के दर्शन पर प्रकाश डाला है। ऐसा उसने अतीत का नैतिक मूल्यांकन कर, समाज, धर्म, विज्ञान तथा कला का स्थान विवेक पर आधारित संस्कृति में निर्धारित कर तथा सम्पूर्ण मानवीय क्रिया का लक्ष्य विवेकपूर्ण जीवन को बता कर किया है। इस प्रकार सांतायन की पुस्तक ऐतिहासिक अध्ययन तथा नैतिक निरूपण दोनों ही है। सांतायन प्रत्येक विषय का अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करता है, जो उसके अध्ययन का आधार बनती है। इसके उपरान्त वह उपलब्ध सामग्री का मूल्यांकन कर एक आदर्श की स्थापना करता है और दार्शनिक विश्लेषण करते हुए निर्देश करता है कि इस आदर्श का विकास किस सीमा तक सम्भव है। यह आदर्श ही आगे जाकर एक नैतिक प्रतिमान का रूप धारण कर लेता है, जिसकी सहायता से निर्णय किया जाता है कि मनुष्य विवेकपूर्ण जीवन की तरफ कितनी प्रगति कर सका है। सत्य तो

यह है कि सांतायन विभिन्न संस्थाओं के प्राकृतिक अध्ययन के जिस तरीके को उचित समझता था, उसके प्रयोग का तरीका इस पुस्तक में विस्तार से समझाया गया है। विकासवादी ग्रन्थों में किसी वस्तु के वर्णन, उसकी उत्पत्ति तथा उसके ऐतिहासिक रूप को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था ; किन्तु सांतायन अपनी पुस्तक में इस तरीके से कहीं आगे बढ़ गया। साथ ही वह आदर्श को विशुद्ध आदर्श के रूप में रख छोड़ने और उसे ऐतिहासिक विकास की मूल प्रेरणा बनाने का लोभ भी संवरण कर गया। उसने यह भी ध्यान रखा कि नैतिक आदर्श को नैतिकता पर आधारित न कर प्रकृति पर आधारित करना चाहिए, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है।

'विवेक का जीवन' के शुरू में ही यह दावा पेश किया गया है कि मानव-जीवन को जो शक्तियाँ प्रभावित करती हैं, यदि उनका ज्ञान मिलना है, तो मानवीय अनुभव में उनका परिलक्षित होना आवश्यक है। विज्ञान, धर्म, नैतिकता अथवा कला जो भी क्षेत्र हो, उन्नति पूर्ण अथवा निरपेक्ष नहीं होती। वह मानवीय आदर्श के प्रति सापेक्ष होती है—एक ऐसा आदर्श जिसे मनुष्य का विवेक प्रकृति में प्राप्त करता है। तात्कालिक भावना के बाद मनुष्य में जब विवेकपूर्ण अन्तः-प्रेक्षण का विकास होता है, तो वह अतीत तथा भविष्य के सम्बन्ध में भी सोचना आरम्भ कर देता है। मनुष्य आवेग की अवस्था से विकास कर विवेकपूर्ण जीवन में प्रविष्ट होता है। आवेग अन्तःप्रेक्षण के द्वारा परिष्कृत होकर विवेक का रूप धारण कर लेता है। इस अवस्था में इसकी एक विशेषता अतीत के निर्णयों के अनुकूल स्थिति ग्रहण करने की रहती है। जिस विवेक की अवस्था में अतीत की स्मृति तथा भविष्य के अनुमान को महत्त्व मिला होता है, उसमें वर्तमान का प्रभाव अधिक नहीं होता। मनुष्य से पूर्व विकासवादी परम्परा में जीवधारी विवेकहीन आवेगों के चंगुल में था। चेतना का विकास होने पर भी यदि मन कल्पनालोक अथवा स्वप्नों की दुनिया में विचरण करता रहे, तो उसे विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता। भावना तथा नैसर्गिक बुद्धि के मिलन से विवेक तथा मानवता का जन्म होता है। नैसर्गिक बुद्धि जब अपना लक्ष्य पहचानने लगती है, तो उसमें आत्म-चेतना भी उदय हो जाती है। विवेक केवल कल्पना ही नहीं है ; बल्कि उसमें युक्तियुक्त विचार का होना भी आवश्यक है। इस प्रकार विवेकपूर्ण जीवन प्रगतिशीलता का परिचायक है।

सांतायन ने मत प्रकट किया है कि विवेकपूर्ण जीवन का सम्बन्ध आधुनिक दर्शन की किसी प्रणाली से कायम नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि जहाँ

ईसाई-दर्शन तथ्यों तथा परिस्थितियों की गलत व्याख्या करता है, वहाँ उदार धार्मिक विचारधारा प्रकृति के सम्बन्ध में अंधविश्वास तथा अलौकिकता की मान्यता को आगे बढ़ाती है। प्रकृतिवाद तथा नैतिक शास्त्र के क्षेत्र में संतुलित तथा निरपेक्ष दृष्टिकोण हमें ईसाई-दर्शन तथा आधुनिक दर्शन से कहीं पूर्व यूनानी विचारकों में मिलता है। यद्यपि यूनानी दार्शनिक हैराक्लीटस, डैमोक्रीटस तथा सुकरात ने इस क्षेत्र में प्रारम्भिक कार्य किया ; परन्तु विवेक-सम्बन्धी पूर्ण व्याख्या हमें प्लेटो में ही मिलती है। अरस्तू ने अपने आचार-शास्त्र में विवेकपूर्ण जीवन की पूर्ण तथा व्यापक रूप से व्याख्या की है। यद्यपि विवेकपूर्ण जीवन की व्याख्या के लिए हमें इन प्राचीन विचारकों से प्रेरणा मिलती है ; परन्तु इसके लिए नैतिक आधार हमें आधुनिक जीवन की परिस्थितियों से ही मिल सकता है। आधुनिक परिस्थिति के बीच जो आदर्श टिक सकें, उनकी व्याख्या का कार्यक्रम ही हमारे प्रयास का मुख्य अंग होना चाहिए।

सांतायन ने 'विवेक का जीवन' की चार जिल्दों में समाज, धर्म, कला और विज्ञान के क्षेत्रों में विवेकपूर्ण जीवन की प्रगति की दृष्टि से विचार किया है। उसने इनके विकास की तीन अवस्थाओं की भी चर्चा की है। पहली अवस्था विवेक की स्थापना से पूर्व की है, जिसमें मनोवेग, आदत तथा इच्छाएँ ही जीवन का नियंत्रण करती हैं। दूसरी अवस्था विवेकपूर्ण है, जिसमें प्राकृतिक मनोभावों के स्पष्टीकरण तथा नियमन से जीवन आगे बढ़ता है। तीसरी अवस्था में मनुष्य का युक्तियुत विवेक कल्पना की सहायता प्राप्त कर आगे बढ़ता है ; विवेक की स्थापना से पूर्व की अवस्था में मन मनुष्य को सनक तथा अचानक उठ पड़ने वाली भावनाओं से कार्य के लिए प्रेरित करता है। इस अवस्था में भी विवेक अथवा तर्क का अस्तित्व रहता है ; किन्तु यह विवेक अथवा तर्क चेतनायुक्त नहीं होता। इस अवस्था की नैतिकता के दर्शन हमें अस्थिर विचार वाली स्त्रियों में, राजनीतिक दलों के उद्देश्यों में, युद्ध के सिद्धान्तों में, कला की अभिव्यंजना में, धार्मिक अधिकारियों के आदेशों में, व्यक्ति-विशेष को प्राप्त होने वाली दैवी ज्योति में तथा अंत:अनुभूति पर निर्भर रहने वाले आचार-शास्त्र में होते हैं। विवेक की स्थापना से पूर्व नैतिकता में व्यावहारिक तथा भावात्मक शक्ति बहुत अधिक होती है और इसे 'शुद्ध नैतिकता' कहा जा सकता है। यह वस्तुत: विज्ञान अथवा दर्शन की अंग न होकर मानव-विज्ञान की ही अंग है।

विवेकयुक्त ( अथवा बौद्धिक ) आचार-शास्त्र में व्यवहार की अपेक्षा व्यवहारवादी तर्क का अधिक महत्त्व होता है। इसमें कितने ही प्रश्नों का उत्तर

अपेक्षित होता है। इन प्रश्नों में कुछ भौतिक क्षेत्र के होते हैं और उनका उत्तर प्राकृतिक विज्ञानों से प्राप्त होता है। अन्य प्रश्न तर्क-सम्बन्धी होते हैं, जिनमें दर्शन के क्षेत्र में, उपयोग में लाए गए शब्दों के तथा मूल्यों-सम्बन्धी निर्णयों के औचित्य की समस्या उठाई जा सकती है। विवेकयुक्त व्यवहार एक प्रकार से असम्भव है। इसीलिए सांतायन ने 'विवेक-युक्त नैतिकता' के स्थान पर 'विवेक-युक्त आचार-शास्त्र' शब्दों का प्रयोग किया है। विवेक-युक्त व्यवहार का लक्ष्य प्राप्त करना इसलिए असम्भव है, क्योंकि इसकी प्राप्ति से पूर्व आत्मज्ञान की पूर्णता, नैतिक प्रयोजन की स्पष्टता तथा सभी प्राणियों के प्रति पूर्ण सहानुभूति अपेक्षित होगी। इस प्रकार, विवेकयुक्त नैतिकता एक सीमित आदर्श है। इसके स्थान पर विवेक-युक्त आचार-शास्त्र अधिक उपयोगी है, जिसमें मूल्यांकन तथा निर्णय करने का तरीका बताया गया है।

विवेक के बाद की नैतिकता का विकास ऐसे लोग करते हैं, जो किसी-न-किसी कारण से विवेक-युक्त जीवन से असंतुष्ट हो चुके हैं। सांतायन का कहना है कि विवेकोत्तर नैतिक प्रणालियां मुख्यतः धर्म होते हैं। उनमें मुक्ति पाने के लिए प्रयोग चलते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत कोई एक शिक्षा चुन ली जाती है, जिससे भविष्य में लाभ होने का विश्वास है और इस प्रकार इस शिक्षा को आचरण की कसौटी बना लिया जाता है। चूंकि इसमें हम सिद्धान्त से कार्य की ओर झुकते हैं; इसलिए कहा जा सकता है कि हम आचार-शास्त्र से नैतिकता की ओर वापस आ गए हैं। इस प्रकार, विवेकोत्तर-नैतिकता को कदम आगे बढ़ाना नहीं कहा जा सकता; बल्कि यह तो अप्राकृतिक क्षेत्र में मारी गई एक कुदान ही है। ऐसे क्षेत्र में नैतिकता का न कुछ अर्थ रह जाता है और न शक्ति ही। केवल प्रकृति के क्षेत्र में पदार्पण से ही विवेकोत्तर-नैतिकता का महत्त्व है। जब भी अलौकिक भाषा तथा अलौकिक रूपों के पीछे मानवीय अनुभव अथवा विवेक छिपा रहता है, तभी मनुष्य प्रकृति की गोद में पुनः लौट आता है।

सांतायन ने धर्म के सम्बन्ध में जो विचार दिया, वह अत्यन्त ही मनोरंजक है। सत्य तो यह है कि उसने धर्म को विवेक की कसौटी पर कसने की चेष्टा की है। इतिहास साक्षी है कि धर्म ने अपने लक्ष्य को ठीक तरह पहचाना नहीं; क्योंकि यदि वह उसे पहचानता, तो विज्ञान के स्थान पर किम्वदंतियों तथा चमत्कारपूर्ण कहानियों को रखने की चेष्टा नहीं करता। मानव तथा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए, जो धार्मिक उपाख्यान तथा किम्वदंतियाँ गढ़ी गईं, उन पर प्राचीन धर्म लोगों से अक्षरशः विश्वास करने को कहते हैं; किन्तु विवेक-युक्त

धार्मिक विचारधारा ने स्थापना की कि यह नैतिक आदर्शों को काव्य का जामा पहनाने तथा परम पुरुष के प्रति श्रद्धा का विकास करने का प्रयास-मात्र है। इस प्रकार सांतायन ने ईश्वर को मानवीय आदर्शों के प्रतीक के रूप में उपस्थित किया। इसके अलावा, सांतायन ने यह भी सोचा कि यदि वह अलौकिक को लौकिक क्षेत्र में उतार सके तो वह अलौकिकता का औचित्य प्रमाणित कर सकेगा। सांतायन ने कहा कि विज्ञान और धर्म, प्रकृति के प्रति मानवीय सम्बन्धों के दो पहलू हैं। विज्ञान मनुष्य तथा प्रकृति के गतिवान रूप की अभिव्यंजना है। धर्म को विज्ञान के क्षेत्र का अतिक्रमण कर उसके साथ प्रतिद्वंद्विता नहीं करनी चाहिए। दूसरी तरफ, धर्म का कार्य उपाख्यानों तथा कवित्वपूर्ण रूपकों के द्वारा नैतिकता की स्थापना करना है। इस प्रसंग में सांतायन ने अलौकिकता को लौकिकता अथवा प्रकृतिवाद पर निर्भर बनाने का प्रयास किया ; किन्तु उसने प्रकृतिवाद के मूल आधार को अक्षुण्ण रहने दिया। सांतायन ने कहा कि यदि प्रकृतिवाद को उसके स्थान से पदच्युत कर दिया गया, तो अलौकिकता का वास्तविक तथ्यों की दुनिया पर आरोप करने का अवसर नहीं आएगा।

सांतायन, अलौकिक अथवा आदिभौतिक के क्षेत्र में आने के बाद, इस प्रश्न पर विचार करने लगा कि इस आदिभौतिक का भौतिक अथवा प्राकृतिक क्षेत्र से क्या सम्बन्ध है। आदिभौतिकता की वास्तविकता पर बल देकर सांतायन ने उसे विशुद्ध मान्यता के क्षेत्र से, जैसा कि गणित में होता है, अलग रखा। सांतायन ने कहा कि भौतिक तथा आदिभौतिक के बीच गत्यात्मक सम्बन्ध है और वास्तविकता इन दोनों को मिला कर बनी है। सांतायन के अनुसार आदिभौतिकता से भौतिकता सम्पूर्ण होती है। सांतायन भौतिकता तथा आदिभौतिकता को द्वैधता के रूप में नहीं देखता था ; क्योंकि उस हालत में वे एक दूसरी की प्रतिद्वंद्विनी होतीं। उस हालत में एक वास्तविकता होती और दूसरी उस वास्तविकता का आभास-मात्र होती। सांतायन ने कहा कि आदिभौतिकता एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें विज्ञान से परे की वस्तुओं का दर्शन हमें होने लगता है। यह कह चुकने के बाद भी सांतायन इस आदिभौतिक क्षेत्र को प्रकृति से परे नहीं मानता। उसका कहना है कि भौतिकता तथा आदिभौतिकता के सम्बन्ध को शृंखला से ही हमें प्रकृति की सम्पूर्णता तथा उसकी विविधता के दर्शन होते हैं और इस हालत में वह द्रव्य, गति तथा शक्ति की सीमाओं के भीतर बंधी नहीं रहती। सांतायन के शब्द इस प्रकार हैं—"यह आदिभौतिक संसार, जिसकी अनुभूति मैं करता हूँ, शेष प्रकृति है—ऐसी प्रकृति जिसकी सम्पूर्ण गहराई और जिसकी सच्ची असीमता का बोध हमें होने

लगता है।" परन्तु सांतायन आदिभौतिकता के सम्बन्ध में जिस भिन्न स्वर में बोलने लगता है, उससे वह एक ऐसी सम्भावना के क्षेत्र में पहुँच जाता है, जिसे अन्य प्रकृतिवादी स्वीकार करने को शायद ही तैयार होंगे और जो शायद स्वयं सांतायन की प्रकृति को नैतिक दृष्टि से निरपेक्ष बताने की मान्यता से बाहर है।

अपने अंतिम वर्षों में सांतायन ने अपने प्राकृतिक आधार का परित्याग किए बिना कुछ और ऐसे विषयों का प्रतिपादन किया, जिन्हें पूर्ण रूप से प्राकृतिक नहीं कहा जा सकता। गम्भीर चिन्तन के बाद उसने एक पुस्तक लिखी—Realms of Being ( सत्ता के क्षेत्र )। उसने सत्ता के चार भेद किए—द्रव्य, सार-तत्त्व, सत्य और चेतना ( Matter, Essence, Truth and Spirit )। सांतायन ने मान्यता स्थापित की कि ये चारों क्षेत्र केवल विचार-रूप में ही नहीं हैं; बल्कि उनका इस रूप में स्पष्ट अस्तित्व भी है। सांतायन ने कहा कि द्रव्य वह प्राथमिक सत्ता है, जो अज्ञेय होते हुए भी कार्य अथवा गति की आधार है। द्रव्य अर्थात् जड़ पदार्थ सभी प्रकार की वस्तुओं, यहाँ तक कि आदिभौतिक वस्तुओं, की भी गतिशीलता का आधार है।

इस प्रकार, चेतन पर जड़ की प्रभुता को लाद कर सांतायन अपनी मूल मान्यता पर वापस चला जाता है कि प्रकृति सभी आदर्शों की प्रेरणा है। यदि जीव-विज्ञान की दृष्टि से द्रव्य अन्य पदार्थों के मूल में है, तो तर्क की दृष्टि से सार-तत्त्व उनके मूल में है। जड़-तत्त्व के क्षेत्र में कोई घटना अथवा तथ्य मनुष्य को कतिपय अपूर्ण संकेतों के द्वारा ज्ञात होती है। ये संकेत स्वयं घटनाएँ अथवा तथ्य नहीं होते और इस प्रकार उन घटनाओं तथा संकेतों से भिन्न हैं। इन्हीं को सांतायन ने सार-तत्त्व कहा है। उसकी मान्यता है कि इसी क्षेत्र में ये निश्चित रूप ग्रहण करते हैं और इसी में कवित्व अथवा स्वाधीनता-जैसे गुणों का विकास होता है। सार-तत्त्व के क्षेत्र में कुछ ऐसे भी गुण होते हैं, जिनकी सत्ता वस्तुतः होती है। इन्हें सांतायन ने 'सत्य का क्षेत्र' कहा है। अनुभव से हमें आंशिक तथा सापेक्ष सत्यों का ज्ञान होता है। यदि विभिन्न व्यक्तियों का अनुभव एक ही जैसा हो और इस अनुभव के संकलन से सम्पूर्ण भूत और भविष्य की कल्पना कर चित्र सम्पूर्ण कर लिया जाता है, तो उसे पूर्ण अथवा निरपेक्ष सत्य कहा जा सकता है। इस पूर्ण तथा निरपेक्ष सत्य की पृष्ठभूमि में व्यक्ति-विशेष के अनुभव को सापेक्ष सत्य कहा जायगा।

चेतना के क्षेत्र की विशेषता यह है कि उसमें कल्पना को ऊँची-से-ऊँची उड़ान का अवसर मिलता है और दार्शनिक को इसमें आनंद भी आता है। चेतना

जड़-तत्त्व तथा शक्ति का परिकाल्पनिक ढाँचा तैयार करती है, जो क्रमबद्ध तथा सामंजस्यपूर्ण होता है। चेतना शरीर से असम्बद्ध नहीं है ; बल्कि वह तो व्यक्ति के जीवन का सर्वोत्कृष्ट विकास है। यदि चेतना का सम्बन्ध जीवन के तथ्यों तथा जीव-जगत् से भंग हो जाय, तो प्रेरणा के मूल के रूप में उसकी उपयोगिता नष्ट हो जायगी। चेतना की सबसे बड़ी शत्रु व्यग्रता अथवा व्याकुलता है। व्याकुलता चेतना के संतुलन, उसकी स्वच्छंदता तथा उसकी स्वाभाविकता को नष्ट कर देती है। आकुल दार्शनिक का मन बुराइयों, वासनापूर्ण प्रवृत्तियों तथा दुनिया की चिन्ताओं के कारण अशान्त हो उठता है। जब मन शान्त रहता है, तो अनेक विषय, अनेक अर्थ तथा अनेक घटनाओं की वास्तविकता का उदय उसमें होता है। व्याकुलता से दार्शनिक के मन में द्वंद्व छिड़ जाता है। इस अनुभूति के कारण ही दुनिया की चिन्ताओं तथा उसके आडम्बरपूर्ण कार्य-कलाप से दार्शनिक अपने मन को मुक्त रखने की चेष्टा करता है ; परन्तु दार्शनिक के इस प्रयास के बावजूद क्या वह सचमुच दुनिया की आवश्यकताओं और उसकी कमजोरियों से दूर रह पाता है ? परन्तु, दूसरी तरफ यह भी सत्य है कि मनुष्य की आत्मा अथवा चेतना कमजोरियों का खिलौना बनने से बचना चाहती है। इसकी प्रेरणा उसे अपने अंतर से मिलती है। जब स्वच्छंद मन इस अवस्था को पहुँच जाता है, तो वह व्यग्रता अथवा आकुलता को एक सुनिश्चित बुराई मानने लगता है।

सांतायन ने अपनी पुस्तक—Realms of Being में कल्पना के क्षेत्र में जो ऊँची उड़ानें भरी हैं, उनके लिए आलोचकों ने उसे आड़े हाथों लिया है। इस पुस्तक के अंतिम भाग में उसने अपने सत्ता-सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रकृतिवाद में आधारित करने के अपने विचार को दुहराया है और कल्पना के क्षेत्र में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने से उसके इस निश्चय में व्यवधान नहीं पड़ा है। सांतायन ने आदिभौतिक सत्ताओं को स्वीकार तो किया है ; किन्तु इसके बावजूद वे भौतिक दुनिया पर ही आधारित हैं। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का पता मनुष्य को दार्शनिक विवेचन के स्थान पर भौतिक विज्ञान की सहायता से लगता है। इस प्रकार, सांतायन की आदिभौतिक मान्यताओं का मूल भी वस्तुजगत् में ही है।

सांतायन प्रकृतिवाद की डिवी की व्याख्या ( देखिए अध्याय ९ प्रयोगात्मक प्रकृतिवाद : जॉन डिवी ) का कड़ा आलोचक रहा है। यदि हम नए प्रकृतिवाद तथा डिवी की दार्शनिक विचारधारा का सम्बन्ध जोड़ते हैं, तो सांतायन को नई प्रकृतिवादी विचारधारा का अंग मानना उचित नहीं । इस अध्याय में

डिवी की मान्यता के जितने व्यापक प्रकृतिवाद का भी विवेचन किया गया है और उसे आधुनिक दार्शनिक विचारधारा की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में उपस्थित किया गया है। जहाँ तक सांतायन का सम्बन्ध है, आधुनिक अमरीकी दार्शनिक विचारधारा में उसकी देन से इनकार नहीं किया जा सकता। अपनी 'विवेक के जीवन' पुस्तिका में उसने प्रकृतिवादी मनोवृत्ति का जो विकास किया है, वह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। सांतायन ने जो कुछ कहा है, उससे उसे केवल प्रकृतिवादी नहीं कहा जा सकता ; किन्तु इधर उसने प्रकृतिवाद में अपनी आस्था का उल्लेख नए सिरे से किया है। उसने कहा है—"प्रकृतिवाद के प्रति मेरी इतनी अधिक आस्था है कि मैं इसे जड़वाद भी कह सकता हूँ, जिससे गेटे अथवा बर्गसन के रोमान्टिक प्रकृतिवाद से उसका भेद किया जा सके। मेरा प्रकृतिवाद यूनानी दार्शनिकों—डेमोक्रीटस, ल्यूक्रीटस तथा स्पिनोजा का कठोर अमानवतावादी प्रकृतिवाद है। मेरा प्रकृतिवाद मौलिक है। उसमें मानव, उसका मन, उसकी सम्पूर्ण कृति तथा प्रकृति की सम्पूर्ण प्रजननशील व्यवस्था भी सम्मिलित है।" प्रकृतिवाद को अपनाने में सांतायन को शुरू में कुछ हिचक चाहे रही हो और बाद में उसने अपने प्रकृतिवाद की चाहे जितने काव्यात्मक ढंग से विवेचना की हो ; किन्तु उसने अपने ढंग के प्रकृतिवाद का कभी त्याग नहीं किया।

# बौद्धिक प्रकृतिवाद : मोरिस राफेल कोहन

न्यूयार्क नगर विद्यालय का दर्शन का अध्यापक मोरिस राफेल कोहन शुरू के वर्षों में अपने को एक ऐसा दार्शनिक कहता था, जिसका सम्बन्ध किसी विशेष दार्शनिक प्रणाली से नहीं था। बात यह थी कि अपनी तीक्ष्ण विवेचना-बुद्धि के कारण कोहन को अपने समय की सभी दार्शनिक प्रणालियों के दोष ज्ञात हो गए थे, जिसके कारण उनमें से कोई भी प्रणाली उसे पूर्ण रूप से स्वीकार्य नहीं हो सकी थी। दूसरे शब्दों में, कोहन का स्वतंत्र मन किसी प्रकार का बंधन स्वीकार करने को तैयार नहीं था। वह अपने में, अपने साथियों में तथा अपने विद्यार्थियों में ऐसी निर्दोष विचारधारा की आशा रखता था, जैसा होना सम्भव नहीं होता। मानवीय प्रयासों में पूर्णता एक अनहोनी वस्तु है। कोहन ने अपने दार्शनिक विचारों को लिपिबद्ध करने के जो भी प्रयास किए, उनसे वह स्वयं संतुष्ट नहीं हो सका। कोहन ने अधिक नहीं लिखा; किन्तु जितना भी लिखा, उसमें नए सुझाव थे। कोहन का दर्शन चांसी राइट के समान, जिसकी विचारधारा के प्रति उसकी गहरी दिलचस्पी थी, अधूरा, प्रयोगात्मक तथा अपूर्ण था।

फिर भी कक्षाओं में चलने वाले अध्यापन तथा वैयक्तिक सम्पर्क के द्वारा कोहन का प्रभाव दार्शनिकों की वर्तमान पीढ़ी पर कम नहीं रहा; किन्तु यह सत्य है कि कोहन के प्रकाशित ग्रंथों ने आधुनिक विचारधारा को प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं किया। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि बाद के प्रकृतवादियों ने 'प्रकृतिवाद तथा मानवीय चेतना' शीर्षक से जो पुस्तक मिल-जुल कर तैयार की, उसे कोहन को ही समर्पित किया गया।

कोहन की विचारधारा की रूप-रेखा स्पष्ट है। उसका विश्वास था कि आधुनिक दर्शन को निरीक्षण तथा प्रयोग पर आधारित करने तथा दार्शनिक तरीके और वैज्ञानिक तरीके में सादृश्य बताने का जो प्रयास चल पड़ा है, उसमें वैज्ञानिक तरीके को बहुत संकुचित रूप देने की चेष्टा की गई है। आधुनिक दार्शनिकों

ने वैज्ञानिक विधि की इस विशेषता पर ध्यान नहीं दिया कि उसके अंतर्गत निगमनात्मक बौद्धिक तरीके के उपयोग से वैज्ञानिक विचारधारा के विकास में कितनी सहायता मिलती है। विज्ञान के क्षेत्र में निगमनात्मक तरीके की यह विशेषता है कि विशिष्ट अनुभवों के परिणामों का सार्वभौमिक अथवा सामान्य आधार पर प्रमाणीकरण सम्भव हो सका है। दर्शन में भी तार्किक विधि की यही विशेषता है कि दार्शनिक अन्तर्दृष्टि अथवा कल्पना द्वारा प्रकट हुए सत्यों का सार्वभौमीकरण उसमें होता है।

कोहन ने अमरीकन फिलासिफिकल एसोसिएशन की पूर्वी शाखा के अधिवेशन में अध्यक्षपद से १९२९ में जो भाषण किया, उसका शीर्षक उसने दिया था—'दर्शन में कल्पना तथा कार्य-विधि' ( Vision and Technique in Philosophy )। इसमें उसने अनुरोध किया कि दार्शनिक अन्तर्दृष्टि के साथ "श्रमसाध्य एवं ठोस कार्य-विधि" का प्रयोग कला, विज्ञान अथवा दर्शन के क्षेत्रों में आवश्यक है। कार्य-विधि के बिना कल्पना वैयक्तिक, गैरजिम्मेदार तथा निरंकुश होती है। उपयुक्त कार्य-विधि के बिना सत्य की खोज संघटित रूप नहीं धारण करती और न उसे सार्वभौमिक दृष्टि से मान्यता ही मिलती है। सत्य को सार्वजनिक, दलगत दृष्टिकोण से अप्रभावित, तथा संदेह व आलोचना की चुनौती का सामना करने को तैयार होना चाहिए। किसी सिद्धान्त का केवल परीक्षण ही उसका परिणाम देखकर होना आवश्यक नहीं; बल्कि उसका सामान्य महत्त्व भी इस परिणाम पर बहुत दूर तक निर्भर है। दार्शनिक सिद्धान्त का औचित्य किसी व्यक्ति-विशेष के विश्वास अथवा अविश्वास पर निर्भर नहीं है। सत्य के अन्य अन्वेषकों की दृष्टि में उपयोगी होने पर ही उसका औचित्य प्रकट होता है। दार्शनिक ज्ञान का प्रमाणीकरण होने से पूर्व उसका सामान्यीकरण होना आवश्यक है। सामान्यीकरण तर्क-शास्त्र के बौद्धिक तरीके से ही सम्भव है। "इस प्रकार की कार्य-विधि अपनाए तथा प्रमाणीकरण किए बिना कोई भी दार्शनिक विचार थोथा है; एक कल्पना है।"[१] किसी विचार को कल्पना के क्षेत्र से आगे बढ़ाने के लिए तार्किक दृष्टि से उसका सार्वभौमीकरण होना आवश्यक है।

कोहन ने वैज्ञानिक विधि की जो आलोचना की, उसमें उसने सब से अधिक जोर इस विधि में सार्वभौमीकरण के अभाव पर दिया। उसने कहा कि वैज्ञानिक विधि में व्यक्ति-विशेष को इंद्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को ही अधिक

---

१. Morris. R. Cohen : The Faith of a Liberal.

महत्त्व दिया जाता है और इसलिए प्राप्त परिणामों का सार्वभौमिक महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये परिणाम विशिष्ट, सीमित, असम्बद्ध तथा अधूरे होते हैं। कोहन ने कहा कि जॉन लॉक तथा उसके अनुयायियों की इस मान्यता के आधार पर कि मन निष्क्रिय है ; किन्तु उसमें इंद्रिय-जन्य अनुभवों को ग्रहण करने की क्षमता है, वैज्ञानिक विधि का विकास नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि संवेदन वैज्ञानिक अनुसंधान को आरम्भ करने वाली क्रिया का रूप नहीं धारण कर सकते। हमें प्राप्त ज्ञान का जो तार्किक विश्लेषण करना है, संवेदन उसके अभिन्न अंग हैं और इसलिए विश्लेषण में उनकी सहायता नहीं ली जा सकती। ज्ञान के क्षेत्र में बौद्धिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होने पर वैज्ञानिक अन्वेषण की आवश्यकता पड़ती है और बौद्धिक कठिनाइयों से हमारी जिज्ञासा जाग्रत होती है, जिससे प्रेरित होकर हम संदेहों के समाधान की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार विज्ञान का जन्म किसी युग में संदेह तथा आलोचनाओं के द्वारा होता है।

कोहन ने इस तथ्य पर आश्चर्य प्रकट किया है कि एक ऐसे युग में, जब कि प्रत्येक समस्या के सामाजिक पक्ष को महत्त्व दिया जा रहा हो, ज्ञान के वैयक्तिक सिद्धान्त को स्वीकृति मिली हुई हो, यह कुछ कम विचित्र बात नहीं कि व्यक्ति-विशेष को प्राप्त होने वाले संवेदनों के आधार पर मनुष्य बौद्धिक समस्या का समाधान करने की चेष्टा करे। आंशिक अनुभवों के आधार पर बनाए गए मत, ज्ञान की व्याख्या वाले क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं और उन्हें बौद्धिक विज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। साधारण ज्ञान बहुधा परम्परागत शिक्षाओं, अंधविश्वासों तथा प्राचीन दार्शनिक प्रणालियों पर आधारित होता है। इस पृष्ठभूमि में वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर ज्ञान की जो व्याख्या की जाती है, वह अधूरी होती है और इसीलिए इस व्याख्या के परिणाम अपर्याप्त तथा भ्रामक होते हैं और इस तरह मानवीय प्रयास को असफलता मिली है।

व्यक्ति के इस महत्त्व को कम करने के लिए कोहन ने अरस्तू के साथ अपनी यह सहमति प्रकट की कि अनुभव चाहे व्यक्ति-विशेषों को होता हो, किन्तु ज्ञान, यहाँ तक कि विशेष ज्ञान की अभिव्यंजना केवल सार्वभौमिक शब्दों में की जानी चाहिए। एक व्यक्ति किसी विषय का अनुभव अथवा निर्देश कर सकता है ; किन्तु जब भी उस अनुभव का कोई अर्थ लगाया जायगा अथवा कोई मान्यता कायम की जायगी, तो ऐसा सार्वभौमिक अथवा सामान्य रूप में होना चाहिए, क्योंकि यह मान्यता एक से अनेक पर लागू होगी। विज्ञान का सम्बन्ध आकाश-मंडल से गिरने वाले किसी इस या उस पिंड से नहीं है ; बल्कि उसका सम्बन्ध सार्वभौमिक

तथा सामान्य मान्यता पर निर्धारित सिद्धान्तों से है, जिससे कि आकाश से गिरने वाले सभी पिंडों के आचरण पर प्रकाश पड़ सके। किसी एक पिंड के गिरने की घटना के सम्बन्ध में विशेष अनुभव से पिंडों के पतन के संबंध में सामान्य सिद्धान्त का दावा तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि विशेष अनुभव का सार्वभौमीकरण अथवा सामान्यीकरण नहीं किया जाता।

हम इस परिणाम पर विज्ञान को १९वीं शताब्दी के अध्यात्मवाद के समकक्ष रखने के लिए नहीं पहुँचते हैं। १९वीं शताब्दी के भावनावाद में बौद्धिक तरीके का ठीक तरह प्रयोग न कर दृश्यजगत् की वास्तविकता के सम्बन्ध में यही कहा जाता था कि जगत् का अस्तित्व केवल ज्ञाता के मन में है। वास्तविक बुद्धिवाद ने इस सम्भावना से बचने के लिए कल्पना की दुनिया तथा वास्तविक दुनिया में भेद करने तथा भ्रमजाल से दूर रहने की एक योजना रखी। कुछ ही समय पूर्व वैज्ञानिक कार्य-विधि की ऐसी मान्यता रखी गई, जिसमें बुद्धिवाद को छोड़ दिया जाता है। १९वी शताब्दी से पूर्व एक विचार यह फैला हुआ था कि "प्रकृति एक पाप है और बुद्धि एक राक्षस है।" तर्क के सम्बन्ध में एक विचित्र धारणा होने के कारण बुद्धिवाद उन दिनों प्रकृतिवाद के साथ मिलकर उपर्युक्त भ्रांति के विरुद्ध संघर्ष करने में लग गया। बुद्धिवाद का प्रधान शत्रु अधिकारवाद अथवा गुरुवाद ( Authoritarianism ) था, जिसकी तह में या तो अलौकिकतावाद होता था अथवा अलौकिकतावाद से उसे समर्थन प्राप्त रहता था। "बुद्धिवाद तथा प्रकृतिवाद के संयोग के परिणाम-स्वरूप विज्ञान धर्म की दासता से मुक्त हुआ, धार्मिक अत्याचार की रस्में खत्म हुईं, अपराधियों, बीमारों तथा पागलों के प्रति व्यवहार में मानवीय दृष्टिकोण का समावेश हुआ तथा नागरिक व अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों में उदारता आई।"[१]

यद्यपि कोहन ने बुद्धिवाद के महत्त्व पर बल दिया ; किन्तु साथ ही उसने अपना यह मत भी व्यक्त किया कि बौद्धिकता ही सब कुछ नहीं है। उसने कहा कि तार्किक सम्बन्धों से वस्तुओं की सत्ता पर नहीं, बल्कि उनकी बोधगम्यता पर प्रकाश पड़ता है। मन सम्पूर्ण जीवन नहीं है ; बल्कि जीवन का एक क्रम है। बुद्धिवाद-विरोधी तथा जीव-विज्ञान से प्रेरणा लेने वाले जिन दार्शनिकों ने परिवर्तन पर अत्यधिक बल दिया है, उनके प्रति कोहन इसीलिए असंतुष्ट रहा है। कोहन ने कहा कि यह मान्यता कि केवल परिवर्तन ही वास्तविकता है, तर्क अथवा तर्क के

---

१. Cohen : Reason and Nature.

समर्थन के विना एक निर्णय पर पहुँच जाना है। उसने तर्क उपस्थित किया कि अपरिवर्तनशीलता की पृष्ठभूमि में ही परिवर्तनशीलता का उल्लेख किया जा सकता है। गति की मान्यता पर पहुँचने के लिए हमें पहले एक ऐसी वस्तु की कल्पना करनी पड़ती है, जिसका रूप अपरिवर्तित रहता है। फिर एक ऐसे स्थिर विन्दु की कल्पना करनी पड़ती है, जिससे उस वस्तु की दूरी परिवर्तन होने पर बदलती है और यह भी मानना पड़ता है कि परिवर्तन किस दिशा में हुआ है। यदि वस्तु, स्थान तथा दिशा की मान्यताओं को हटा दिया जाय, तो गति का तथ्य सिद्ध नहीं हो सकेगा।

संसार की परिवर्तन के रूप में व्याख्या करने की पद्धति किस प्रकार चली, इसका ऐतिहासिक दिग्दर्शन संक्षेप रूप में किया जा सकता है। भौतिक-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान की प्रगति के साथ वस्तुओं के स्थिर रहने की हमारी धारणाओं में परिवर्तन होता रहा। जिन वस्तुओं को हम स्थिर समझते रहे हैं, उनमें से अनेक अस्थिर प्रमाणित हुईं। यही नहीं, जिन विज्ञानों ने अनेक स्थिरताओं को अनिस्थिरताओं का रूप दिया, उन्होंने नई स्थिरताओं की भी सृष्टि की। यदि एक तरफ विज्ञान ने पहाड़ियों को नित्य से अनित्य बना दिया और प्राणियों की जातियों में परिवर्तनशीलता की स्थापना कर दी, तो दूसरी तरफ उसने परिवर्तनों के स्थिर सम्बन्धों तथा सुनिश्चित क्रमों पर भी प्रकाश डाला। परन्तु, विज्ञान जिसे स्थिर कहता है, वह क्या सचमुच स्थिर है और परिवर्तनशील दुनिया से अलग-अलग है? विज्ञान जिसे स्थिर कहता है, वह क्या सचमुच परिवर्तन से परे, नित्य तथा स्थिर है? वह केवल एक ऐसी सत्ता है, जो परिवर्तन के बीच अपनी एकरूपता बनाए रखती है। इस प्रकार की एकरूपता से परिवर्तन को एक विशेष महत्त्व प्राप्त हो जाता है।

कोहन ने दावा किया जो कि वस्तु स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील कही जाती हैं, उसकी रचना ऐसे तत्त्वों से हुई है, जो अपनी एकरूपता बनाए रखने का गुण रखते हैं। इस प्रसंग में आगे बढ़ कर कोहन वस्तु की प्रकृति और उसकी अभिव्यक्तियों के मध्य भेद करता है। किसी वस्तु की अभिव्यक्तियाँ अनुभवगम्य हैं। वे परिवर्तनशील तथा अस्थिर होती हैं। विज्ञान अनुभव से प्राप्त ज्ञान को पाकर चुप नहीं बैठता ; बल्कि वह किसी वस्तु की अभिव्यक्तियों अथवा परिवर्तनशील रूपों का अध्ययन कर उस वस्तु की वास्तविक प्रकृति जानने का प्रयास करता है। विज्ञान यह बताता है कि अमुक वस्तु का आवरण अमुक प्रकार क्यों है। जब हम मूलतत्त्वों के अपरिवर्तनशील गुणों को जान जाते हैं, तो हम बौद्धिक तरीके

से अनुमान के द्वारा उस वस्तु की प्रकृति को भी जान जाते हैं। यदि उस वस्तु के सम्बन्धों में हमारा कोई विशेष अनुभव है, तो केवल उस अनुभव की सहायता से हम उस वस्तु की प्रकृति नहीं जान सकते ; क्योंकि वस्तु के जिस वाह्य स्वरूप का अनुभव हमें है, वह निरंतर बदलता रहता है।

यह स्मरणीय है कि कोहन अथवा आज का कोई विचारक यह विश्वास नहीं करता कि विज्ञान किसी वस्तु का तात्त्विक ज्ञान यथार्थ रूप में प्राप्त कर सकता है। हमारा ज्ञान केवल सम्भावना के क्षेत्र में रहता है। उसके पक्ष में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि विज्ञान द्वारा प्रकट किए गए तथ्य के विरुद्ध प्रमाणित करना हमारे लिए असम्भव है। कोहन की मान्यता यह भी है कि विज्ञान अपना संशोधन स्वयं करता है। यदि विज्ञान अपना संशोधन आप करता है, तो कोहन के विचार में किसी सिद्धान्त को परीक्षण के लिए विज्ञान के क्षेत्र के वाहर भेजना अनावश्यक है। इस प्रकार, कोहन अनुभवातीत सिद्धान्तों का विरोधी है, जो कि स्वयं प्रकृतिवाद की एक विशेषता रही है। अस्तु, कोहन की बुद्धिवादी स्थिति प्रकृतिवाद के बिल्कुल निकट है।

यद्यपि कोहन इन्द्रियातीत सिद्धान्तों का विरोधी है और इस प्रकार परम्परागत दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण तरीके को उसने अपनी विचारधारा में स्थान नहीं दिया, फिर भी तत्त्व-मीमांसा को वह अपने क्षेत्र से बाहर नहीं करना चाहता ; बल्कि उसे वह केवल सीमित ही करना चाहता है। उसने कहा कि विशेष का ज्ञान प्राप्त करने से सार्वभौमिक ज्ञान की बात अपने-आप आ जाती है ; परन्तु वैज्ञानिक तरीके से गलती तथा संशय की सम्भावना सदा बनी रहती है और इसलिए विज्ञान बराबर संशोधन के लिए तैयार रहता है। परन्तु, वैज्ञानिक क्षेत्र से बाहर के सिद्धान्तों का समावेश करने से वैज्ञानिक क्षेत्र में पूर्णता आनी असम्भव है। यह पूर्णता तो एकरूपता के सिद्धान्त को लागू करने से ही आ सकती है, जो विज्ञान के क्षेत्र का एक अभिन्न अंग है।

कोहन के मतानुसार विश्व की मान्यता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अंग कुछ अर्थों में एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और कुछ अर्थों में एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। विश्व का प्रत्येक अंग एक इकाई है और इस क्षेत्र में उसकी अपनी विशेषता है ; किन्तु दूसरी तरफ वह सम्पूर्ण का एक अंग है और उसकी वास्तविक सत्ता के लिए इस सम्बन्ध का असाधारण महत्त्व है। समय का प्रत्येक क्षण एक ऐसा अनुभव प्रदान करता है, जो प्रकृति का पूर्ण परिचय नहीं देता ; किन्तु साथ ही दूसरी तरफ वह क्षण समय की पूर्णता का एक अंग भी है और इस तरह समय की

प्रणाली को समझने में उससे मदद मिलती है। 'अभी' से सम्पूर्ण काल की मान्यता पर और 'यहाँ' से सम्पूर्ण 'दिक्' की मान्यता पर प्रकाश पड़ता है। सम्पूर्ण काल तथा दिक् अर्थात् सम्पूर्ण विश्व किसी एक क्षण में मौजूद नहीं है ; किन्तु उसकी मान्यता इससे प्रमाणित हो जाती है। इस प्रकार किसी प्रणाली के एक भाग का ज्ञान प्राप्त हो जाने से उस प्रणाली को समझने का मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार हम एक ऐसे दृष्टिकोण पर पहुँच जाते हैं, जिसकी सहायता से दिक् और काल के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है। इस स्वरूप को नित्य कहा गया है और क्षणों के अनुभव से हम उस नित्यता का अनुमान कर सकते हैं। यह हमारे दृष्टिकोण की एक सीमा भी है। यह सीमा हमारा एक आदर्श भी है ; किन्तु यह आदर्श केवल मानसिक ही नहीं है। यह आन्तरिक आदर्श होने के साथ ही प्राकृतिक विज्ञानों की अपने से संशोधन की प्रवृत्ति के बीच एक महत्त्वपूर्ण अवस्था भी है।

कोहन ने स्वीकार किया कि वैज्ञानिक तरीका कार्य-कारण सिद्धान्त पर निर्भर रहता है ; किन्तु यह सिद्धान्त काल के अंतर्गत आनेवाली विभिन्न घटनाओं पर तर्क की कार्यान्विति है। प्रत्येक वस्तु एक सुनिश्चित रूप में अन्य सुनिश्चित वस्तुओं से सम्बन्धित है, जिसका यही परिणाम निकल सकता है कि इस प्रत्येक वस्तु की सभी विशेषताओं पर उस प्रणाली को जाने बिना प्रकाश नहीं पड़ सकता, जिसकी वह एक अभिन्न अंग है। वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व उन वस्तुओं का कारण नहीं माना जा सकता, जो उसकी अभिन्न अंग हैं। सम्पूर्ण विश्व किसी का निर्धारण कर सके, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह किसी बाह्य वस्तु द्वारा निर्धारित किया जाय। वैज्ञानिक मान्यता के अंतर्गत सम्पूर्ण विश्व का इस प्रकार निर्धारण सम्भव नहीं है।

यह विश्वास कि विश्व की सम्पूर्ण प्रणाली से उसके अन्तर्गत रहने वाली विशिष्ट वस्तुओं के रूप पर प्रकाश नहीं पड़ सकता, कोहन को इस मान्यता की ओर ले गया कि विश्व में परस्पर विरोधी वस्तुओं का एक साथ रहना सम्भव है। इस मान्यता से कोहन ध्रुवीय सिद्धान्त पर पहुँचा। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी महत्त्वपूर्ण सत्ता पर आरोपित होने पर विरोधी वस्तुएँ एक दूसरी को निर्धारित करती हैं। प्रतिक्रिया के बिना क्रिया का होना असम्भव है और जीवन मृत्यु का एक पथ है। हम गति की कल्पना निश्चलता के बिना नहीं कर सकते। इस प्रकार, कोहन को अपने इस सिद्धान्त से हीगेल की द्वंद्वात्मक तर्क-प्रणाली को पुष्ट करने का साधन मिला।

कोहन ने कहा कि तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में जो अस्पष्टता तथा दुविधा रह गई है, उसका मुख्य कारण यह है कि विरोधी मान्यताओं को हम आँख मूँद कर स्वीकार कर लेते हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्ध की उपेक्षा कर देते हैं। कोहन ने कहा कि यदि द्रव्य और कार्य परस्पर विरोधी हैं, तो उनमें से कोई भी एक अपूर्ण आंशिक तथा अपर्याप्त होगा। इसलिए, तात्त्विक ज्ञान के लिए हमें दोनों का ध्यान रखना होगा। जबकि हमें विरोधी मान्यताओं की विशेषताओं तथा भेदों का ध्यान रखते हुए उनके एकीकरण का प्रयास करना चाहिए, हम उनमें से एक को छोड़ कर दूसरे को अपना लेते हैं।

कोहन को विरोधी मान्यताओं के समन्वय का अवसर आचार-शास्त्र के क्षेत्र में प्राप्त हुआ। उसके सम्मुख प्रश्न यह था कि क्या विज्ञान को मानवीय आचरण के क्षेत्र पर लागू किया जा सकता है और क्या आचार-विज्ञान-जैसी कोई वस्तु सम्भव है। उसने आचार-विज्ञान के विकास के मार्ग की कठिनाइयों को स्वीकार किया। हमारे नैतिक निर्णय, अन्य किन्हीं भी नैतिक निर्णयों से अधिक, हमारे वैयक्तिक तथा अभ्यासिक दृष्टिकोणों पर आधारित होते हैं और इसी प्रकार उनका सम्बन्ध समाज के भावात्मक दृष्टिकोणों से भी रहता है। हमारे युग में सामाजिक व्यवस्था का जैसा ढाँचा है, वह नैतिकता की अभ्यासिक व्यवस्था पर निर्भर रहता है और यह भी सत्य है कि आचार-विज्ञान कुछ ऐसी ही मान्यताओं की स्थापना कर सकता है, जिससे समाज के मौजूदा ढाँचे को क्षति पहुँचेगी। दार्शनिकों ने जिन नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उनमें से अधिकांश का उद्देश्य मौजूदा मान्यताओं का समर्थन करना होता है और इस प्रकार वे तात्कालिक स्थिति को बनाए रखने में मदद करते हैं। यदि नैतिक दार्शनिक को आचार-विज्ञान का निर्माण इन कठिनाइयों के बावजूद करना है, तो उसे वैज्ञानिक की जैसी तटस्थता अथवा निरपेक्षता का विकास करना होगा। उसे व्यक्तियों के आचरण का उसी निरपेक्ष भाव से अध्ययन करना होगा, जिस निरपेक्ष भाव से भौतिक वैज्ञानिक गैसों के आचरण का अध्ययन करता है।

नैतिक सिद्धान्तों के इतिहास के पन्ने उलटने से हमें पता चलता है कि इस क्षेत्र के सिद्धान्त दो वर्गों में आते हैं। एक है नैतिक निरपेक्षवाद, जिसके अन्तर्गत यह मान्यता है कि नैतिक नियम नित्य और शाश्वत हैं, जिनकी सहायता से हमें प्रत्येक निश्चय करना चाहिए। दूसरा सिद्धान्त यह है कि हमें प्रत्येक निर्णय तात्कालिक स्थिति की पृष्ठभूमि को देखते हुए करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत एक ईसाई को अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार चलना चाहिए, चाहे इसके लिए

उसे नैतिकता के शाश्वत नियमों का ही उल्लंघन करना पड़े। विरोधी मान्यताओं के समन्वय-सम्बन्धी अपने सिद्धान्त के उपयोग का उचित अवसर यहीं आता है। कोई नैतिक निर्णय करते समय हमें उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिए और इनमें से किसी एक पर अत्यधिक बल देने से बचना चाहिए। निरपेक्ष सिद्धान्तवादी का यह कहना ठीक है कि प्रत्येक नैतिक निर्णय करते समय तार्किक दृष्टि से सिद्धान्त का पक्ष सामने आता है। इसी प्रकार, अनुभववादी प्रत्यक्ष ज्ञान के दावे को आगे बढ़ाना चाहता है। नैतिक नियमों के एकांगी दावों को चरम स्थिति तक नहीं पहुँचाया जा सकता; किन्तु इन नियमों से सामान्य मान्यता निकाल कर मानवीय अनुभव को बौद्धिक विवेचन द्वारा परिष्कृत किया जा सकता है। विशेष परिस्थितियों से हमें नैतिक नियमों की रचना में सहायता मिलती है और बुद्धिवादी निरपेक्षवाद की सहायता से बुद्धिवादी तरीके पर चलते हुए हम अनुभव के आधार पर निकाले गए नियमों को सुनिश्चित तथा अन्तिम रूप दे सकते हैं।

आचार-विज्ञान की आधार-शिला दो मान्यताओं पर रखी जानी चाहिए—प्रथम मनुष्य क्या करते हैं और दूसरे उन्हें क्या करना चाहिए। परन्तु, आचार-विज्ञान के अध्ययन के ये मुख्य विषय नहीं हैं। आचार-विज्ञान मुख्यतः शुभ और अशुभ, उचित और अनुचित-सम्बन्धी हमारे निर्णयों के प्रमाणीकरण का अध्ययन है। नैतिक निर्णयों के तार्किक अध्ययन का उद्देश्य यह पता लगाना है कि इन निर्णयों को एक प्रणाली के अन्तर्गत परिष्कृत करके लाना सम्भव है अथवा नहीं। इस प्रकार, हमने देखा कि कोहन ने किस प्रकार अपनी बौद्धिक विचारधारा के बीच, विरोधी मान्यताओं को समन्वय-सम्बन्धी अपने सिद्धान्त की सहायता से, आचार-विज्ञान को एक स्थान दिया।

दार्शनिकों ने साध्य और साधन की समस्याओं को लेकर अनेक पेचीदगियों की सृष्टि कर ली है। विशेषकर अप्राकृतिक प्रणाली में यह कहकर कठिनाई उत्पन्न की जाती है कि साध्य प्रकृति से परे है। कोहन के बौद्धिक प्रकृतिवाद ने उसके लिए इस प्रकार की कठिनाइयों को हटा दिया। उसने कहा कि बौद्धिक आचरण मानवीय प्रक्रिया के परे नहीं है, बल्कि वह जीवन के एक विशेषतापूर्ण ढाँचे का ही अंग है। साध्य प्रकृति की परिधि के भीतर है और साधन भी उसका ही एक अनिवार्य अंग है।

मोरिस कोहन की विश्व-सम्बन्धी मान्यता कुछ कम पेचीदी नहीं, और इसकी अनुभूति के लिए कोई सुगम मार्ग भी नहीं है। ज्ञान का—अर्थात् बौद्धिक

विज्ञान का पथ सदा ही कष्ट-साध्य होता है। कल्पना, अन्तर्दृष्टि अथवा आभास की आवश्यकता ज्ञान की नींव तैयार करने के लिए चाहे हो ; किन्तु इस नींव के ऊपर महल सतर्क कार्य-विधि, सावधानी तथा श्रमसाध्यता के परिष्करण द्वारा ही खड़ा हो सकता है। कोहन को अपने दृष्टिकोण पर अगाध आस्था थी और इसीलिए वह इस श्रम को उचित समझता था। उसने कहा कि कठिनाइयों के बावजूद इतना तो कहा ही जा सकता है कि जिस विश्व में हम हैं, उसकी एक ऐसी विशिष्टता है, जो अन्यत्र सुलभ नहीं है। जब इस विशिष्टता को स्वीकार कर लिया जाता है, तो फिर बौद्धिक सम्बन्ध के वैज्ञानिक विश्लेषण का मार्ग भी निकल आता है। हमारे विश्व की एक विशिष्टता यह भी है कि वह अपने-आप में बोधगम्य हो और उसके स्पष्टीकरण के लिए बाहर से किसी सिद्धान्त की सहायता नहीं लेनी पड़े। बौद्धिक प्रकृतिवादी की यही मान्यता है।

———

# प्रयोगात्मक प्रकृतिवाद : जॉन डिवी

जॉन डिवी का प्रयोगात्मक प्रकृतिवाद कई दृष्टियों से सांतायन तथा कोहन के प्रकृतिवादी दर्शन से भिन्न है। 'प्रकृतिवाद तथा मानवीय चेतना' ( Naturalism and the Human Spirit ) नामक जो पुस्तक प्रकृतिवादियों की नई पीढ़ी ने लिखी है, उसे पढ़ने से प्रकट हो जाता है कि दोनों पक्षों का अंतर उतना गहरा नहीं, जितना कि नए दार्शनिकों ने दिखाया है। सत्य तो यह है कि इस अन्तर से दोनों के दृष्टिकोणों की पुष्टि ही होती है। न्यूयार्क विश्वविद्यालय के प्रो० सिडनी हुक ने, जो कोहन तथा डिवी की देख-रेख में दार्शनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले अनेक दार्शनिकों में थे, कहा है कि प्रकृतिवादी दृष्टिकोणों के ये प्रकार परस्पर बहुत अधिक मिलते थे। सच तो यह है कि अन्य लोगों ने इनके अंतर पर उचित से कुछ अधिक बल दे दिया था।

डिवी और सांतायन के सम्बन्ध में भी कुछ इसी प्रकार की बातें कही जा सकती हैं। सच्चे दार्शनिकों की तरह उन्होंने अपने मतभेदों के सम्बन्ध में तर्क उपस्थित किए हैं और मतैक्यों के सम्बन्ध में अधिक नहीं कहा है। कोहन ने सार्वभौम तथा सामान्य पर अधिक बल दिया है और कुछ घृणा के साथ कहा है कि विशिष्टताओं की ओर हम केवल संकेत-भर कर सकते हैं। हम उनके सम्बन्ध में कुछ कह तक नहीं सकते ; क्योंकि इस कहने में हमें सार्वभौम अथवा सामान्य की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। डिवी कोहन की इस बात से सहमत था कि विशिष्टताओं के प्रति केवल संकेत ही किया जा सकता है ; किन्तु उस अनुभव के प्रति घृणा का भाव रखने से वह सहमत नहीं था। सत्य तो यह है कि डिवी ने इस प्रकार के अनुभव को कुछ गौरव ही प्रदान किया। उसने कहा कि परिस्थिति का ठीक तरह विश्लेषण करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि संकेत करने के तरीके पर हमें निर्भर हो जाना पड़ता है, जो संकेत किया जाता है, उसे देखने और मान्यता प्रदान करने के लिए हमें

विवश हो जाना पड़ता है। इस प्रकार, हमारी विचारधारा वास्तविकता के एक ऐसे सिद्धान्त के निर्माण की ओर मुड़ जाती है, जिसमें वास्तविकता ज्ञाता अथवा उसके समाज के विचार अथवा मान्यताओं के कारण सीमित नहीं होती। इसके विपरीत, जो भी ज्ञान होता है, उसे वास्तविकत: स्वीकार कर लिया जाता है। इसमें द्रव्य तथा गति भी सम्मिलित हैं। इस वास्तविकता में हमारे अनुभव के यथार्थ अंग जैसे वफादारी, धर्मनिष्ठा, प्रेम, सौन्दर्य तथा रहस्य की स्वीकृति आदि भी रहेंगे। ये मानवीय अनुभव अन्य किसी भी वस्तु के समान वास्तविकता के अंतर्गत माने जायेंगे।

अक्सर डिवी को बुद्धिवाद का विरोधी कहा जाता रहा है। कारण यही है कि उसने विषय की वास्तविकता के पक्ष में दार्शनिकों के पक्षपात को मान्यता प्रदान करने से इनकार कर दिया। उसने इस वस्तुवादी मान्यता को ठुकरा दिया कि ज्ञान की दो कोटियां हैं—वस्तुओं का ज्ञान और विचारों का ज्ञान और यह भी कि दर्शन का उद्देश्य ज्ञान के विभिन्न प्रकार के विषयों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना है। इसके स्थान पर उसने मान्यता दी कि अनुभूत वस्तुओं की दो विशेषताएं हैं—पहली वस्तुओं का उपभोग अथवा चिन्तन किए बिना उनकी स्वीकृति, जैसे कि एक प्याला कहवा का उपयोग कोई भी व्यक्ति सोचे-विचारे बिना कर सकता है। वस्तुओं की स्वीकृति का यह तरीका मौजूद है और ज्ञान की प्राप्ति से यह भिन्न है। परन्तु, वस्तुओं की जानकारी होने के पहले चिन्तन किए बिना ही उनकी स्वीकृति आवश्यक है। इस तरीके से चिन्तन तथा ज्ञान की प्राप्ति को सामग्री उपलब्ध होती है। अनुभूत वस्तुओं के ज्ञान की प्राप्ति दूसरी विशेषता है। इस कोटि में प्रयोजन निहित रहता है। हम वस्तुओं की जानकारी इसलिए भी प्राप्त करते हैं, कि हम उन्हें प्राप्त कर सकें और उनका उपयोग कर सकें। इस प्रकार, वस्तुओं के सम्बन्ध में सभी प्रकार का ज्ञान साधनवादी है।

जैसा कि हम ( देखिए अध्याय ७, व्यवहारवादी अर्थ : चार्ल्स सेंडर्स पियर्स पृष्ठ २७८ ) देख चुके हैं, डिवी ने व्यवहारवाद को साधनवाद का रूप दिया। परन्तु, साधनवाद व्यवहारवाद का एक ऐसा रूप है, जो जेम्स की अपेक्षा पियर्स के व्यवहारवाद के अधिक निकट है। पियर्स की मान्यता थी कि सामान्य विचार आदतों में निहित होते हैं और वे कार्य का नियमन एवं नियंत्रण करते हैं। डिवी ने सभी कोटि के विचारों को नियमित तथा साधनात्मक बताया। किसी भी विचार के मूल में कार्य की एक योजना

छिपी रहती है, एक कार्रवाई की रूप-रेखा अन्तर्निहित रहती है। इस कार्रवाई के किए जाने का मतलब यह होता है कि किसी विचार के प्रमाणीकरण के लिए प्रयोग आरम्भ हो गया है। इस प्रकार, विचार का परीक्षण एक विशेष प्रसंग में चलने वाली कार्रवाई से होता है। यदि विचार उस प्रसंग के अंतर्गत अनुभव के विरोधों को मिटाकर सापेक्षिक एकीकरण का साधन बन जाता है, तो कहा जाता है कि उस विचार का प्रमाणीकरण हो गया। इस प्रकार, जब डिवी विचारों को साधन कहता है, तो इसका आशय केवल यही है कि विचारों को अनुभव के बीच एक सक्रिय तथा मध्यस्थता की भूमिका अदा करनी है। ज्ञान, चिन्तन तथा चेतना को कार्य तथा सत्ता से पृथक् नहीं माना जा सकता। जिस प्रसंग में विचार उठता है, वह विशुद्ध रूप से मानसिक नहीं होता ; बल्कि उस प्रसंग में वह मानसिक तथा भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में अपनी सत्ता रखता है।

चिन्तन अथवा अंत:प्रेक्षण केवल तभी होता है, जब कार्य में बाधा उपस्थित होती है अथवा मनोवेग की अभिव्यंजना का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार, अनुभव के क्षेत्र में अन्तर्विरोध उत्पन्न होने में चिन्तन का बीज छिपा रहता है। परन्तु, शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति किए बिना किसी समस्या पर चिन्तन करने के लिए हम अग्रसर नहीं होते। शुरू में हम विचारों को प्राप्त नहीं करते, बल्कि हमारा सम्बन्ध किसी घटना से हो जाता है। भ्रम अथवा संदेह के कारण "मनोवेग की गति अवरुद्ध होने" की, जैसा कि जी० एच० मीड ने ( देखिए अध्याय ७, सामाजिक व्यवहारवाद : जॉर्ज हर्बर्ट मीड, पृष्ठ ३०१ ) कहा है, अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मनोवेग की गति अवरुद्ध होने से चिन्तन शुरू होता है। अन्तर्विरोध अथवा भ्रम दूर होने और संदेह की निवृत्ति से एकीकरण के बाद चिन्तन की जो क्रिया होती है, वह चिन्तन की क्रिया होने के साथ-ही-साथ उसका प्रमाणीकरण भी है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होने वाले कार्य के साथ ही चिन्तन का कार्य भी नैसर्गिक रूप में चलता रहता है और इसके लिए विचार-शक्ति से सीधे अनुरोध की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रभावपूर्ण चिन्तन के लिए एक विषय आवश्यक है, जो चिन्तन का लक्ष्य है। यह लक्ष्य चिन्तन से परे होता है। डिवी का कहना है कि यह चिन्तन वैज्ञानिक विधि से होता है। इस विधि में डिवी ने आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनों ही प्रणालियों को स्थान दिया है। एक तरफ विशेष के निरीक्षण द्वारा मान्यताओं की स्थापना की जाती है और दूसरी तरफ तर्क को आगे बढ़ाकर मान्यताओं पर पहुँचा जाता है। चूँकि सम्पूर्ण क्रिया का जन्म किसी समस्या

मे होता है, इसलिए मान्यता ही समस्या का समाधान होती है। परन्तु, डिवी चिन्तन अथवा अन्तःप्रेक्षण के क्षेत्र में अंतिम क्रिया अर्थात् परीक्षण को बहुत अधिक महत्त्व देता है। यह परीक्षण प्रयोगों के द्वारा होता है। डिवी का मत है कि ये प्रयोग वैज्ञानिक प्रयोगशाला-जैसी परिस्थितियों में होने चाहिए। वह समस्या के किसी समाधान को तब तक स्वीकार नही करता, जब तक कि चिन्तन को जन्म देने वाली कठिनाई को दूर करने में उस समाधान का प्रमाणीकरण नहीं हो गया हो।

डिवी विचार को एक ऐसी मान्यता मानता है, जिसका अभी परीक्षण नहीं हुआ है। वह उपस्थित समस्या का एक सम्भाव्य समाधान है, जिसे प्रयोग के लिए आगे बढ़ाया गया है और जिसके सम्बन्ध में अभी यह पता लगना है कि प्रस्तावित समाधान से क्या कठिनाई का निवारण हो सकेगा ? विचार एक ऐसा अर्थ है, जिसे निर्णय का उपकरण बनाया जा सकता है। जब विचार का परीक्षण समाप्त होकर प्रमाणीकरण हो जाता है, तो उसे स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। इसके बाद वह विचार नहीं रह जाता। हम बहुधा कह डालते हैं कि अमुक विचार सत्य है। डिवी ने जेम्स की तरह विचार के प्रमाणीकरण की व्यवहारवादी कसौटी उपस्थित की है। विचार एक भ्रामक स्थिति के निवारण के लिए कार्य की एक सुनिश्चित योजना है। योजना के कार्यान्वित होने पर या तो उपस्थित कठिनाई के निवारण में विचार सफल हो जाता है अथवा नहीं होता। यदि सफल हो जाता है, तो विचार सत्य है और नहीं होता तो असत्य है। जो सचाई से पथ-प्रदर्शन करता है, वही सत्य है। यहाँ 'सचाई से' शब्द क्रिया-विशेषण हैं। क्रिया-विशेषण गतिशील होता है। वह किसी क्रिया की विशेषता बताता है। डिवी ने सत्य को जो क्रिया-विशेषणात्मक रूप दिया, उससे इस परम्परागत दार्शनिक मान्यता का खण्डन होता है कि सत्य कोई कार्य न हो कर किसी की सत्ता है। इससे यह विचार भी उलट जाता है कि सुनिश्चित सत्य का अस्तित्व मानवीय अनुभव तथा मानवीय चिन्तन से पूर्व होता है। सत्य निरंतर उपस्थित की जाने वाली मान्यताओं का समूह है। सत्य के सम्बन्ध में पुरानी मान्यता अधिकारवाद का समर्थन करती थी। और यथास्थिति बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील थी। परन्तु, डिवी ने अपनी विचारधारा से प्रत्येक व्यक्ति को सच्चे विचारों का विकास करने के लिए जिम्मेदार बना दिया। सत्य का मतलब विचारों का परीक्षण एवं प्रमाणीकरण है। डिवी की इस मान्यता से यही परिणाम निकलता है कि लोगों को अपनी आचार-सम्बन्धी भावनाओं तथा राजनीतिक रूढ़ियों एवं अन्य एकांगी भावनाओं को परीक्षण

तथा प्रमाणीकरण के लिए उपस्थित कर देना चाहिए। ऐसा होने पर न केवल अधिकार का स्थान ही बदल जायगा ; बल्कि समाज में निर्णय होने के नियम भी बदल जायेंगे। यह दृष्टिकोण वैसे तो विलियम जेम्स से मिलता है ; किन्तु इसमें एक अंतर भी है। जेम्स और डिवी दोनों के लिए सत्य संतोष का एक साधन है। परन्तु, जहां जेम्स के लिए इस संतोष का लाभ किसी व्यक्ति को निजी रूप से मिल सकता है, वहां डिवी के लिए निजी संतोष की बात नहीं है। मुख्य आवश्यकता यह है कि प्रस्तावित विचार से उस समस्या का समाधान होना चाहिए, जिसके समाधान के बीच उसका जन्म हुआ। इस प्रकार, डिवी के लिए समाधान का रूप जेम्स की अपेक्षा अधिक सार्वजनिक तथा निरपेक्ष रहा है।

अपनी दार्शनिक विचारधारा के बीच डिवी ने संयोग तथा आकस्मिकता को उतना ही महत्त्व दिया, जितना कोहन ने दिया। 'अनुभव और प्रकृति' ( Experience and Nature ) शीर्षक से प्रकाशित अपनी एक व्याख्यानमाला में डिवी ने कहा है कि दर्शन का सम्पूर्ण इतिहास उन उपायों के वर्णन से भरा है, जिनके द्वारा प्रकृति की उस अनिश्चितता से इनकार किया गया है, जो विश्व की एक अभिन्न विशेषता है। यही नहीं, दर्शन के इतिहास में 'निश्चयता की खोज' का प्रयास भी कम नही किया गया है। डिवी ने इन शब्दों को अपनी एक दूसरी पुस्तक का शीर्षक बनाया है। डिवी ने कहा कि यदि प्रकृति की आकस्मिकता से इनकार कर दिया जाय, तो विश्व की वास्तविकता की जानकारी का कोई सुयोग नहीं रह जाता, जिसके लिए दार्शनिक इतना उत्सुक रहा है। अनुभव से सम्बन्ध रखने वाली एक समस्या-मूलक परिस्थिति में विचार के सूत्रपात होने की जो मान्यता डिवी ने दी, इससे प्रकृति की आकस्मिकता अथवा अनिश्चितता के पक्ष में उसे एक बहुत बड़ा तर्क मिल गया। उसने कहा कि प्रकृति की आकस्मिकता का सबसे बड़ा प्रमाण स्वयं विचार अथवा चिन्तन है। चूंकि विचार वास्तविक संसार में तथा अनिश्चित एवं विरोधमूलक परिस्थिति में जन्म लेता है, इसलिए इस संसार को अनिश्चितता, विरोध, अज्ञान तथा आशंका से भरा ही होना चाहिए। अंत में परिस्थिति में सुधार होता है और अधिक संतोषजनक व्यवस्था कायम होती है। इस प्रकार, विचार के जन्म तथा इस घटना के परिणाम-स्वरूप प्रकृति के तत्त्वों की अधिक उत्तम व्यवस्था से ही यह सिद्ध होता है कि प्रकृति के मध्य अनिश्चितता, अनियमितता तथा असम्बद्धता है।

डिवी ने मान्यता उपस्थित की कि प्रकृति स्थिर वस्तुओं तथा सुनिश्चित

सम्बन्धों की प्रणाली नहीं है, जैसा कि कुछ जड़वादी दार्शनिक तथा वैज्ञानिक मानते रहे हैं। इसके स्थान पर प्रकृति घटनाओं तथा सम्बन्धों की एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें प्रणाली एक घटना है और दूसरी घटनाओं तथा प्रक्रियाओं के परिणाम-स्वरूप उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। जहां तक डिवी का सम्बन्ध है, ढांचे तथा प्रक्रिया में कोई सुनिश्चित अथवा सैद्धान्तिक अंतर नहीं है। डिवी केवल विकासवादी विज्ञान से ही अच्छी तरह परिचित नहीं रहा ; बल्कि भौतिक विज्ञान की नई मान्यताओं का भी उसे ज्ञान रहा है । यही कारण है कि अपनी नई दार्शनिक विचारधारा पर वह विश्वास के साथ जमा रह सका कि सत्ता की सत्ता केवल काल की मान्यता के साथ बनी रह सकती है। डिवी ने विचार प्रकट किया कि "प्रत्येक सत्ता एक घटना है।"[१] विश्व का ढांचा सुनिश्चित अथवा स्थिर नहीं है। इसमें दो प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। कुछ परिवर्तन धीमे तथा क्रमिक होते हैं। डिवी ने कहा कि 'ढांचा' शब्द का प्रयोग दीर्घकालीन तथा क्रमिक परिवर्तन के लिए किया जा सकता है। ढांचा अपेक्षाकृत स्थिर, सुनिश्चित तथा दीर्घकालीन घटना है। दूसरे वर्ग के परिवर्तन अधिक तीव्र तथा अधिक क्रमहीन होते हैं और इन्हें डिवी ने 'प्रक्रिया' का नाम दिया। इस प्रकार, डिवी ने एक ऐसे प्राकृतिक दर्शन का विकास किया, जिसमें ढांचा और प्रक्रिया, द्रव्य तथा मन दोनों को मान्यता दी गई। डिवी ने विश्व का यह मिश्रित रूप उपस्थित किया। इसमें हमें विरोधी गुणों का वह समन्वय भी मिलता है, जिस पर कोहन बल दे चुका है।

डिवी ने कहा कि दर्शन में वास्तविकता की कल्पना सुनिश्चित, क्रमबद्ध तथा पूर्णरूप में की गई है। परन्तु, साधारण अनुभव से हमें दुनिया की एक दूसरी ही तसवीर दिखाई पड़ती है और वास्तविकता भी दार्शनिक मान्यता से भिन्न जान पड़ती है। हम जिस दुनिया में रहते हैं, उसमें नियमितता तथा अनियमितता और पूर्णता तथा अपूर्णता दोनों ही मिलती हैं। नियमितताओं तथा अनियमितताओं का वर्गीकरण दार्शनिक विचार-विनिमय के मध्य चाहे सम्भव हो ; किन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं हो सकता। समान उद्गम होने के कारण वे एक दूसरी से घुली-मिली हैं। यही वह स्थल है, जहां विरोधी प्रवृत्तियों के समन्वयकारी सिद्धान्त को महत्त्व प्राप्त है। प्रकृतिवादी दर्शन के पीछे यह एक आवश्यक मान्यता है। "विरोधाभास के प्रवेश का कारण यही है कि वस्तुओं के गुण उनकी बुराइयों

१ John Dewey : Experience and Nature.

से उत्पन्न होते हैं, सत्य के साधन अयथार्थ के मूल में हैं, स्थिरता की सार्थकता परिवर्तन से जान पड़ती है, पुनरावृत्ति के कारण नवीनता सम्भव हुई है और प्राणमय संसार में ही मृत्यु का अस्तित्व बना रह सकता है।" इस प्रकार, प्रकट है कि आकस्मिकता अथवा अनिश्चितता अस्तित्व की एक सामान्य विशेषता है और इसलिए उसे तत्त्व-दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। यह सत्य है कि एक विवेकशील प्राणी के रूप में मनुष्य का उद्देश्य घटनाओं की अनिश्चितता के ऊपर विचारों की निश्चितता को प्रभुत्व प्रदान करने की चेष्टा होनी चाहिए। सांतायन ने अपनी पुस्तक 'विवेक का जीवन' में इस प्रयास की आवश्यकता पर जोर भी दिया है।

हम देख चुके हैं कि डिवी के लिए विचार एक साधन है। भ्रममूलक स्थिति से उत्पन्न होकर भ्रम तथा सन्देह की समाप्ति के रूप में इसका अन्त होता है। विचार अथवा चिन्तन अन्य मानवीय आचरण की तरह ही एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। वस्तुओं की वास्तविक दुनिया तथा विचार के विषयों के मध्य कोई खाई नहीं है। विचार के अस्तित्व की वही विशेषताएँ हैं, जो वास्तविक दुनिया की घटनाओं की विशेषताएँ हैं। जिस प्रकार प्राकृतिक घटनाओं से विभिन्न विज्ञान प्राकृतिक संसार के विषय में विभिन्न परिणामों पर पहुँचते हैं, उसी प्रकार दार्शनिकगण विचारों से प्राकृतिक संसार के विषय में परिणाम निकाल सकते हैं। इन परिणामों को संक्षेप में डिवी का प्राकृतिक दर्शन कह सकते हैं।

प्रयोगवादी प्रकृतिवाद के दृष्टिकोण से, डिवी उपयोगितावादी सिद्धान्तों के अलावा, अन्य नैतिक सिद्धान्तों की यह कमजोरी मानता था कि वे अनुभववादी तथ्यों के बीच से नैतिक मूल्यों के विकास की सम्भावना से इनकार करते थे। अधिकांश आचार-शास्त्री प्रकृति के बाहर से नैतिक मूल्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं; क्योंकि उनके विचार से प्रकृति जड़ शक्तियों से मिलकर बनी है और उसमें नैतिक मूल्यों के प्रस्फुटन की क्षमता का अभाव है। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति नैतिक है अथवा उसका नैतिक मूल्यांकन किया जा सकता है, क्योंकि यह करना प्रकृति के प्रति पक्षपात करना होगा। बात केवल यही है कि आचार-विज्ञान अन्य विज्ञानों की तरह अनुभववाद पर आधारित है। आचार-शास्त्र अन्य सभी विज्ञानों से अधिक मानवीय मूल्यों से सम्बन्ध रखता है और इसलिए उसकी उपयोगिता धर्म-शास्त्र, गणित-सम्बन्धी तथा तत्त्व-दर्शन-सम्बन्धी न होकर अनुभववादी ही है। इसके अलावा, आचार-विज्ञान तथा मानव के अन्य विज्ञानों के बीच सम्बन्ध भंग भी नहीं होते। आचार-शास्त्री का प्रत्यक्ष सम्बन्ध

मानवीय प्रकृति से है। इस कारण जिन भी विज्ञानों का सम्बन्ध मानवीय प्रकृति से है, उनके परिणामों का आचार-विज्ञान अथवा नैतिक-विज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इसलिए, एक तरफ आचार-विज्ञान और दूसरी तरफ शरीर-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के बीच सम्बन्ध को स्वीकार करने के विषय में डिवी को आपत्ति नहीं है। इसके अलावा, आचार-विज्ञान का सम्बन्ध मानव-प्रकृति के केवल निगूढ़ तत्त्व से ही नहीं ; बल्कि उस मानव प्रकृति से भी है, जो एक वातावरण में मौजूद है और कार्य करती है। दूसरे शब्दों में, मानवीय प्रकृति का अपने वातावरण से सम्बन्ध उसके घुली-मिली होने तथा एक व्यापक प्रणाली की अभिन्न अंग होने के रूप में है। इस प्रकार, मानवीय प्रकृति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों के अलावा उसके वर्णन से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों का भी आचार-विज्ञान के लिए महत्त्व है। इन सभी विज्ञानों की सहायता आचार-विज्ञान के अध्ययन के लिए इसलिए आवश्यक है ; क्योंकि मानव जिस पृष्ठभूमि में रहता है और जिन प्रणालियों की सहायता से अपनी योजनाएँ तैयार करता व आगे बढ़ाता है, उन्हें अच्छी तरह समझ लेना आचार-शास्त्री के लिए जरूरी है। इस प्रकार, आचार-विज्ञान में अन्य सभी विज्ञानों को मानव-जीवन के प्रसंग में लाया जाता है, जिससे मनुष्य के सभी कार्यों पर प्रकाश पड़ सके।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आचार-विज्ञान जीव-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान तथा सामाजिक-विज्ञान का मिला-जुला रूप है। अन्य विज्ञानों की सहायता मानवीय प्रकृति के तथ्यों पर प्रकाश डालने के लिए ली जाती है। तथ्यों का ज्ञान आचार-शास्त्री के लिए स्वयं कोई लक्ष्य नहीं है, यह तो केवल तथ्यों में परिवर्तन करने की मध्य की एक मंजिल है। नैतिकता तथ्य के प्रत्यक्ष होने में निहित नहीं है ; बल्कि इस ज्ञान के उपयोग में निहित है। आचार-विज्ञान का उद्देश्य केवल मनुष्य के पिछले आचरण की समीक्षा करना ही नहीं है ; बल्कि उसमें परिवर्तन तथा सुधार करना भी है। चेतना तथा विवेक के उपयोग द्वारा बताया जा सकता है कि किसी एक मामले में वर्तमान स्थिति श्रेयस्कर है अथवा नहीं। यदि वर्तमान स्थिति श्रेयस्कर है, तो हम तथ्यों का उपयोग उसे बनाए रखने के लिए करते हैं। यदि वर्तमान स्थिति अश्रेयस्कर है, तो हम तथ्यों का उपयोग उसमें परिवर्तन कर नई स्थिति लाने के लिए करते हैं। डिवी इस बात को मानने को तैयार नहीं है कि आचार-शास्त्री के सम्मुख केवल दो विकल्प ही मौजूद हैं—एक किसी अप्राकृतिक आदर्श को स्वीकार करते हुए तथ्यों की अस्वीकृति और दूसरा तथ्यों को अंतिम व अपरिवर्तनीय मान्यता प्रदान करना। डिवी के मत में एक तीसरा

विकल्प भी आचार-शास्त्री के सम्मुख मौजूद है। तीसरा विकल्प यही है कि तथ्यों की स्वीकृति तो करना ; किन्तु उनका उपयोग केवल वातावरण में संशोधन करने तथा आदतों में परिवर्तन करने के लिए करना और इस प्रकार चेतना के परिष्कार के लिए ही उनका उपयोग करना।

डिवी ने इस तीसरे विकल्प को आचार-विज्ञान का प्रयोगवादी तरीका कहा है। उसने यह मान्यता भी प्रदान की कि इस प्रकार की आचार-नीति के विकास के लिए मानव के अनुभव से पूर्व जो नैतिक सिद्धान्त मौजूद रहे हैं, उनसे कहीं अधिक महत्त्व विशेष परिस्थितियों के पूर्ण अध्ययन को दिया जाना है। इस प्रयोगवादी तरीके की सब से बड़ी शर्त स्वाधीनता है, जिससे किसी मान्यता की परीक्षणों के द्वारा जाँच की जा सके। विभिन्न समयों और स्थानों में किसी समस्या के समाधान के लिए अनेक हलों का प्रयोग किया जा सकता है। इन प्रयोगों के परिणामों का निरीक्षण तथा उनकी तुलना की जा सकती है। यही कारण है कि डिवी ने प्रयोगवादी तरीके की तुलना लोकतंत्र से की है ; क्योंकि लोकतंत्र में भी दूसरों की भावना का ध्यान रखा जाता है तथा वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्यों का परीक्षण विचारों के प्रमाणीकरण द्वारा किया जा सकता है। प्रयोगात्मक तरीके में पूर्ववर्ती तथ्यों की न उपेक्षा की जाती है और न उन्हें भावी तथ्यों का निर्णयकारी ही मान लिया जाता है। उनसे केवल परिस्थिति के विश्लेषण के साधन के रूप में मदद ली जाती है। डिवी का कहना है कि बहुत समय से चले आने वाले नैतिक सिद्धान्तों के प्रति प्रयोगात्मक तरीके में आदर का भाव तो रहता है ; किन्तु नवीन तथ्यों की जानकारी होने तथा नई स्थिति उत्पन्न होने पर पुराने-से-पुराने नैतिक सिद्धान्त को ठुकराया जा सकता है। डिवी का कहना है कि अतीत में स्वीकृत किसी नैतिक सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व वर्तमान परिस्थितियों के परीक्षण करने तथा उनमें परिवर्तन कर सकने की इच्छा का है। चाहे वर्तमान संस्थाओं तथा प्रवृत्तियों में आधारभूत परिवर्तन के लिए ही क्यों न विवश हो जाना पड़े ; किन्तु प्रयोगवादी तरीके पर चलने वाला कोई भी आचार-शास्त्री इस आवश्यकता से मुँह नहीं मोड़ सकता।

प्रयोगवादी तरीके का विस्तार व्यक्तिगत नैतिकता से सामाजिक दर्शन के क्षेत्र में सुगमता से कर दिया गया है। सामाजिक क्षेत्र में प्रयोगवादी तरीके को 'उदारवाद' अथवा 'लोकतंत्रवाद' भी कहा गया है। 'उदारवाद' कोई एक सिद्धान्त नहीं है ; बल्कि यह एक निरन्तर चलने वाला कार्यक्रम ही है। यह एक ऐसी राजनीतिक तथा सामाजिक प्रवृत्ति है, जो हमें अत्याचारपूर्ण संस्थाओं के विरुद्ध

संघर्ष के रूप में दिखाई देती है। किसी स्थान या काल-विशेष में उदारवाद सामान्य स्वतंत्रता की मांग नहीं करता ; बल्कि वह केवल उन शक्तियों की मुक्ति का ही अनुरोध करता है, जो विशेष सामाजिक परिस्थितियों के कारण रुकी हुई हैं। किसी काल में इस मांग का अर्थ अवरुद्ध शक्तियों की मुक्ति है। इससे यह परिणाम भी निकलता है कि विभिन्न कालों में विभिन्न संस्कृतियों के प्रसंग में इस मुक्ति का अर्थ विभिन्न हो सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, साधारण रूप से लोग और विशेष रूप से दार्शनिक नित्य आदर्शों की स्थापना करने की चेष्टा करते हैं। पुरानी उदार प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह हो चुका है। अपने युगों में उन्होंने आवश्यक सुधारों की दुंदुभी बजा दी थी ; परन्तु आज वही प्रवृत्तियाँ स्वतंत्रता के पथ पर रोड़ा बन कर अटकी हुई हैं। एक युग के उदारवाद का दूसरे युग के उदारवाद से अन्तर प्रकट करने के लिए डिवी ने विज्ञान के प्रयोगवादी तरीके के ढंग पर एक सामाजिक कारंवाई की प्रणाली का विकास किया। इस कारंवाई के अन्तर्गत किसी विशेष उदारवाद के विषय अर्थात् किसी पीढ़ी की मान्यताओं के स्थान पर उदारवाद के सामान्य तरीके पर अधिक बल दिया गया।

सामाजिक कारंवाई के तरीके पर अधिक बल दिए जाने के कारण डिवी इस परिणाम पर पहुँचा कि लोकतंत्र के अन्तर्गत कार्य चलते रहने के लिए प्रयोगवादी चिन्तन का विशेष महत्त्व है। लोकतंत्र के तीसरे आदर्श अथवा 'भ्रातृत्व' की व्याख्या डिवी ने सहयोग के रूप में की। डिवी ने कहा कि स्वाधीनता तथा समानता के आदर्शों की प्राप्ति के लिए पारस्परिक सहयोग का विस्तार अत्यन्त ही आवश्यक है। उसने कहा कि मनुष्य के स्वाधीनता और समानता के प्राकृतिक अधिकार उसकी प्राकृतिक अवस्था से नहीं चले आए हैं ; बल्कि वे लोकतंत्री समाज के जीवन में भ्रातृत्वपूर्ण सहयोग के विकास के परिणाम हैं। डिवी ने विचार प्रकट किया कि प्रयोगवादी तरीके से सादृश्य के कारण और समाज के भीतर उठने वाली दैनिक समस्याओं के समाधान में उसके अधिकाधिक उपयोग के कारण ही लोकतंत्र का औचित्य ठहराया जा सकता है। लोकतंत्री आदर्शों की प्राप्ति के लिए डिवी प्रशासन-यंत्र की अपेक्षा ऐच्छिक सहयोग पर ही अधिक निर्भर होना चाहता है। उसने मत प्रकट किया है, कि किसी प्रशासन-यंत्र को उसी सीमा तक लोकतंत्री कहा जायगा, जिस सीमा तक वह विरोधी स्वार्थ रखने वाले ऐच्छिक सहयोग के समूहों की सेवा करने को तैयार होगा और उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करने से विरत कर सकेगा। समाज कतिपय मूल्य निर्धारित करता है और

व्यक्तियों का जीवन इन मूल्यों द्वारा ही नियमित होता है। जब प्रत्येक व्यक्ति जीवन को सुव्यवस्थित करने वाले इन मूल्यों के निर्धारण में भाग लेता है, तो कहा जा सकता है कि समाज लोकतंत्री जीवन के आदर्श पर चल रहा है। सामाजिक संस्थाओं से जो भी व्यक्ति प्रभावित होते हैं, उनके निर्माण तथा संचालन में उन व्यक्तियों का हिस्सा होना चाहिए। आलोचना के परिणाम-स्वरूप कतिपय पुराने सिद्धांतों का परित्याग कर दिया गया। इन्हीं पुराने सिद्धांतों में एक था सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, जिसके आधार पर समाज की उत्पत्ति की कल्पना की गई थी और जिसे टामस जैफर्सन ने स्वीकार किया था। फिर भी यह निर्विवाद है कि डिवी जैफर्सन के लोकतंत्र के आदर्श की मूलभूत मान्यताओं से सहमत रहा है। दोनों का ही यह विश्वास है कि लोकतंत्र मानव-प्रकृति तथा मानव-चेतना के प्रति आस्था पर आधारित है। उनकी यह भी मान्यता है कि एक उत्तम संसार का निर्माण करने के उद्देश्य से सामाजिक क्षेत्र में भी मनुष्य प्रयोगशाला में काम करने वाले वैज्ञानिकों के समान प्रयोगवादी दृष्टिकोण अपना कर विचार और कार्य के विषय में आदान-प्रदान की नीति पर चल सकते हैं और इस प्रकार सामूहिक अनुभव को संग्रह कर सभी के कल्याण के लिए उसका उपयोग कर सकते हैं।

विज्ञान के क्षेत्र में देखा जाता है कि राष्ट्र तथा वर्ग की सीमाओं को भेद कर वैज्ञानिक सामूहिक अनुभव से लाभ उठाते हैं और एक आदर्श की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं। वे एक प्रयोगात्मक तरीका भी अपने कार्य के लिए अपना लेते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में विशेष समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोगात्मक तरीके के सफल उपयोग से डिवी इस परिणाम पर पहुंचा कि अनुभवों के सामूहिक उपयोग से प्रायः सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त की जा सकती है। उसने अपना यह भी विचार प्रकट किया कि यदि अनुभव से मिल-जुल कर लाभ उठाया जा सके, तो प्रकृति पर नियंत्रण में जितनी सफलता मिल चुकी है, प्रायः उतनी ही सफलता मानवीय सम्बन्धों की प्रगति में भी मिल सकती है। 'सहयोग का सिद्धान्त' अथवा 'अनुभव का बटवारा' डिवी की धार्मिक विचारधारा की तह में है। उसने कहा है—"सहयोगपूर्ण मानवीय प्रयास द्वारा सत्य का निरूपण दैवी ज्ञान की प्राप्ति की मान्यता से कहीं अधिक उच्च स्तर की धार्मिक आस्था है।" इस आशय की उक्ति करने से पूर्व डिवी के लिए दो ऐसी मान्यताओं को पृथक् कर लेना आवश्यक था, जो बहुधा परस्पर जुड़ी रहती हैं। इसके बाद ही वह परस्पर विरुद्ध मानी जाने वाली दो विरोधी मान्यताओं का, जो मानव-प्रयास तथा

धर्म से सम्बन्ध रखती है, संयोग कर सकता था। डिवी को पहले तो व्यापक रूप से फैली हुई इस मान्यता का उन्मूलन करना था कि धार्मिकता का मतलब विशेष सम्प्रदाय की मान्यताओं में विश्वास रखने तथा उसके कर्मकांड का नियमित रूप से पालन करते रहना है। यही नहीं, धार्मिक विश्वास रखने वाले जिस व्यक्ति को किसी अन्तर्राष्ट्रीय गिरजे का सदस्य होना चाहिए और उसे अपने सम्प्रदाय की कतिपय अलौकिक मान्यताओं में भी आस्था रखनी चाहिए। डिवी की दूसरी मान्यता, जो उसकी अपनी विचारधारा के तो अनुकूल थी ; किन्तु जो बीसवीं शताब्दी के अन्य कितने ही विचारकों से नहीं मेल खाती थी, यह थी कि अनुभव अखंडनीय है ; किन्तु अनुभव की विशेषताओं के बीच भेद किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, धार्मिक अनुभव, नैतिक अनुभव और सौन्दर्य का अनुभव अलग नहीं है, जिनमें से प्रत्येक का मूल्यांकन पृथक् कसौटी पर कसकर किया जा सके। सभी अनुभव के मूल्यांकन की कसौटी एक ही है और एक ही अनुभव के विश्लेषण से उसके सौन्दर्यबोधक, नैतिक, धार्मिक तथा वैज्ञानिक गुणों का मूल्यांकन किया जा सकेगा। अनुभव का धार्मिकता-सम्बन्धी गुण उसका प्रभाव है ; किन्तु इसे अनुभव का कारण अथवा उसका तरीका नहीं माना जा सकता।

डिवी ने इन प्रभावों पर विचार करते समय 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग किया अवश्य है ; किन्तु इस प्रयोग की परम्परागत आस्तिकवादियों ने जो व्याख्या की, उसके कारण उसे इस शब्द का प्रयोग करने पर पश्चात्ताप करना पड़ा। शास्त्रीय परम्परा में ईश्वर की सत्ता अलौकिक मानी गई है और कहा गया है कि अनुभव की जाने वाली सभी वस्तुओं का वही कारण है ; परन्तु डिवी का ईश्वर, आदर्श तथा वास्तविक के बीच का एक प्राकृतिक एवं सक्रिय सम्बन्ध है। डिवी ने अनेक बार कहा कि ईश्वर की मान्यता से उसका यही तात्पर्य है। इतना ही नहीं, वह कुछ और आगे बढ़ा। उसने कहा कि 'आदर्श' की विशेषता का आरोप वह केवल ऐसे प्रयोग के लिए ही कर सकता है। यदि ईश्वर की सत्ता अनुभव से परे मानी जाय, तो अनुभवगम्य होने-मात्र से ईश्वर के आदर्श अथवा भाव-प्रधान होने की कल्पना नष्ट हो जाती है। डिवी ने कहा कि ईश्वर की परम्परागत कल्पना के अंतर्गत उसे सर्वशक्तिमान तथा महिमामय जो कहा गया है, उसके पीछे उसके आदर्शवादी गुण ही रहे हैं। इन आदर्शवादी गुणों को जब हम वास्तविकता के स्तर पर उतार लाते हैं, तो डिवी एक असमंजस में पड़ जाता है।

यदि हम डिवी के विचारों को स्वीकार कर लेते हैं, तो 'धार्मिक अनुभव' अथवा 'धार्मिक सत्य' की चर्चा करना असम्भव हो जाता है, क्योंकि डिवी की

मान्यता के अनुभवों का पृथक्करण सम्भव नहीं है और न विशेष तरीकों से इन पृथक् किए गए अनुभवों का परीक्षण एवं मूल्यांकन ही सम्भव है। सभी प्रकार का अनुभव आदर्शों को उत्पन्न करता है। इन आदर्शों के प्रति निष्ठा जमा लेना ही धार्मिकता है। धर्म अविभाजित अनुभव की विशेषता है। यदि अनुभव का लोकतंत्री ढंग पर संग्रह हुआ है और मनुष्य इस प्रकार प्राकृतिक अनुभव की आदर्श-मय पूर्णता की ओर अग्रसर होता है, तो इसे धार्मिकता की चरमसीमा कहा जा सकता है।

इस प्रकार तीन पृथक् खंडों में हमने अमरीकी प्रकृतिवाद के तीन महारथियों की विचारधाराओं का अवगाहन किया। ये तीनों विचारधाराएँ एक दूसरी से अलग हैं ; किन्तु फिर भी वे परस्पर सम्बन्धित हैं। इन तीनों के बीच अक्सर विवाद चलता रहा है ; किन्तु फिर भी उनके विचारों की रूप-रेखा के अध्ययन से पता चल गया है कि उनके दृष्टिकोण कम या अधिक मात्रा में एक-जैसे ही थे। सांतायन का काव्यात्मक प्रकृतिवाद, कोहन का बौद्धिक प्रकृतिवाद और डिवी का प्रयोगात्मक प्रकृतिवाद चाहे विस्तार की बातों में एक दूसरे से भिन्न रहे हों और चाहे उनकी मानसिक प्रवृत्तियाँ भी कुछ भिन्न रही हों, फिर भी अपने विद्यार्थियों तथा शिष्यों के भविष्य में चिन्तन के लिए वे एक ठोस आधार प्रस्तुत करते हैं। हमने जो कुछ जाना है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि प्रकृतिवाद कोरा जड़वाद नहीं है। यह एक ऐसी दार्शनिक विचारधारा है, जो प्रकृति, मानवीय स्वभाव तथा मानवीय अनुभव में पूर्णतः आधारित होते हुए भी आचार-शास्त्र, कला तथा धर्म में आदर्श मूल्यों को खोजती रही है। प्रकृतिवादी अपना सिर बादलों से छूते हुए और पैर भूमि पर मजबूती से जमाए हुए दार्शनिक क्षेत्र में आगे बढ़ने का प्रयास करते हैं। अपनी इस यात्रा में उन्हें सफलता कहाँ तक मिली है, यह भविष्य ही बताएगा।